CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

14.9

सूरजमल जैन ट्रस्ट प्रकाशन-६

5217

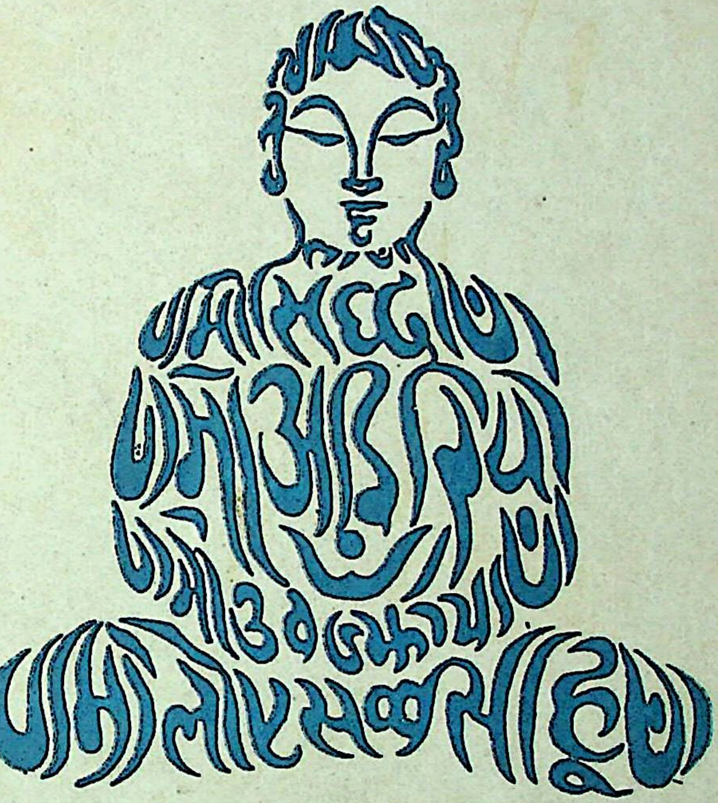

अध्यात्म शास्त्र सार संग्रह

सूरजमल जैन इंजीनियर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूरजमल जैन ट्रस्ट प्रकाशन—६

5217

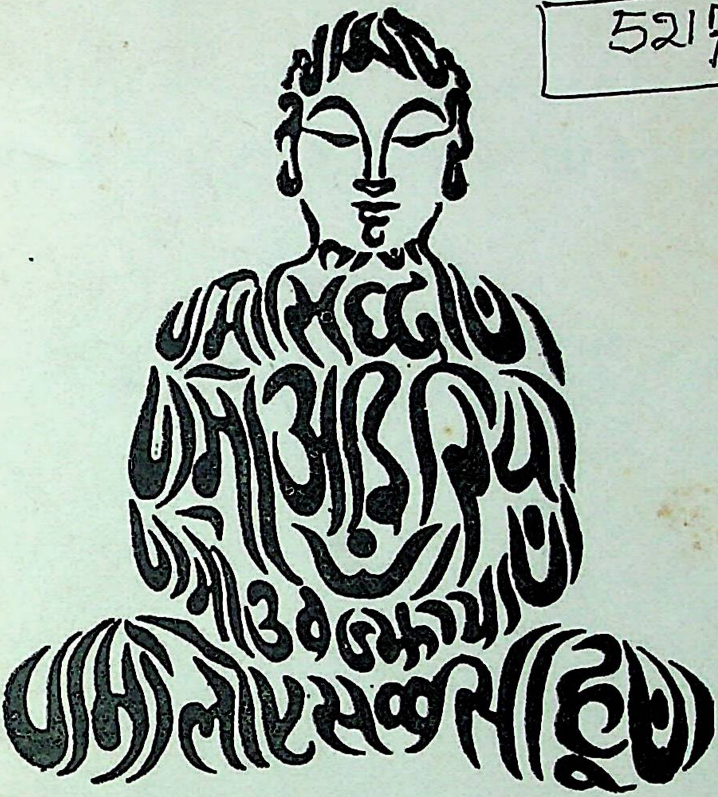

अध्यात्म शास्त्र सार-संग्रह

संकलन, लेखन एवं सम्पादन :—
सूरजमल जैन (इंजीनियर)
सुशीला सदन, ७७-प्रेमपुरी,
मुजफ्फरनगर (यू०पी०)

१९८७

लागत मूल्य **बीस रुपये**
विक्रय मूल्य **स्वाध्याय**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद से
मैं इस ग्रंथ को तैयार कर सका उन्हीं

आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज

को समर्पित

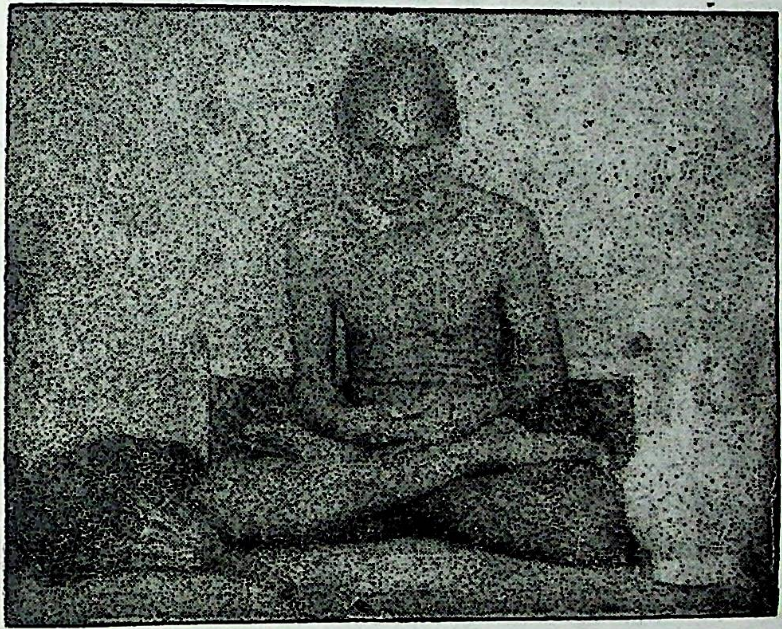

जन्म : ग्राम अलावड़ा, जि० अलवर (राजस्थान)
सावन शुक्ला द्वितीय, वि० स० १९७२

ब्र० दीक्षा : श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज वि० स० २०१२

मुनि दीक्षा : श्री १०८ आचार्य निर्मल सागर जी महाराज
वि० स० २०२८

आचार्य पद : हस्तिनापुर कार्तिक वदी १४ वि० स० २०३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीर्वाद

जिन वाणी अगाध है। वर्तमान में जैन दर्शन साहित्य भी विपुल है। संसारी जीवों का क्षयोपशम ज्ञान व समय सीमित है। सभी रुचि वान स्वाध्याय प्रेमियों को सभी शास्त्रों का स्वाध्याय पूर्णरूप से करना शक्य नहीं। इस दृष्टि से श्री सूरजमल जैन इंजीनियर द्वारा मुख्य-मुख्य शास्त्रों की महत्वपूर्ण गाथाओं की हिन्दी टीका का यह संकलन सभी मुमुक्ष जनों को लाभकारी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। उनका यह प्रयास सफल हो, उसके लिये मेरा आर्शीवाद।

दिल्ली
१५—११—८७

आचार्य शांतिसागर

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो शब्द

डा० मूल चन्द जैन
एम०ए०, पी० एच०डी०
मुजफ्फरनगर

"अनेक—एक में"

एक बार एक राजा एक महात्मा जी के पास गया और उनसे बोला महात्मा जी, मेरे पास समय केवल एक घंटे का है और मैं धर्म का पूरा रहस्य एक घंटे में ही जानना चाहता हूं।" महात्मा जी का उत्तर था 'राजन मैं अभी धर्म का रहस्य बताता हूं, पहले आप मुझे १५ मिनट में राजनीति सिखा दीजिये।" राजा ने कहा कि राजनीति कोई १५ मिनट में सीखी जाती है ? तो महात्मा जी ने उत्तर दिया "राजन धर्म भी ऐसी चीज नहीं कि १ घंटे में समझा दिया जाये।"

वास्तव में धर्म का मर्म १ घंटे में समझाया ही नहीं जा सकता। परन्तु इस पुस्तक में इंजीनियर साहब ने जैन धर्म के प्राण अनेक ग्रन्थों का निचोड़ रखकर पूरे जैन धर्म को समझाने का एक सफल व अपूर्व प्रयोग किया है।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, रयणसार, पुरुषार्थ सिद्धोपाय, पंचाध्यायी, परमात्म प्रकाश, ज्ञानार्णव, सिद्धान्त सार गोम्मट सार (जीवकांड व कर्मकांड), पद्मनन्दि-पंचविशंति, वृहद्द्व्य संग्रह, समाधि शतक एवं नयचक्र आदि महान ग्रन्थों की विशेष गाथाओं को इस प्रकार से चुना है कि पूरे ग्रन्थों का रहस्यार्थ उनमें आ जाता है। गाथाओं का नम्बर देकर उसके अर्थ को अपनी बहुत ही सरल भाषा में समझा कर वड़ा भारी उपकार किया है विशेषतया उन लोगों का जो शास्त्र स्वाध्याय में रुचि तो बहुत रखते हैं परन्तु बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़ने से भय खाते हैं। उनके मस्तिष्क में यह बात है कि हम उन ग्रन्थों को पढ़ कर वेकार में समय खराब करेंगे क्योंकि हमारी समझ में वह ग्रन्थ तो आयेंगे ही नहीं। श्री सूरजमल जैन महोदय ने ऐसे सज्जनों को एक ऐसा उपहार दिया है जिसको पाकर वह प्रसन्नता से नाच उठेंगे क्योंकि अव इन महान ग्रन्थों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का रहस्य पूर्णतया उनकी समझ में आ जायेगा और उस का वार-बार चिन्तवन करके इन ग्रन्थों में बताये मार्ग पर चलकर अपना कल्याण अवश्य ही कर सकेंगे।

श्री सूरजमल जी जैन, रिटायर्ड इन्जीनियर साहब को अपने कार्य-काल में तो जैन धर्म की विशेष रुचि थी ही, स्वाध्याय में आनन्द आया हो करता था, संतो व विद्वानों का सत्सङ्ग भी सदैव ही अच्छा लगता था। रिटायर होने के बाद तो पूरा ही समय इन कामों में देते रहे हैं। जो कहीं अच्छा मिलता है चुन लेते हैं, अपने पास रख लेते हैं, उसका रसास्वादन करते रहते हैं और यही नहीं उनको पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करके दूसरों को भी रसास्वादन करने का अवसर प्रदान करते हैं। अब यह हमारे पर निर्भर करता है कि हन उनसे कितना लाभ उठाते हैं।

उनके इस प्रयत्न का जीता जागता नमूना ही है यह पुस्तक "अध्यात्म शास्त्र सार संग्रह"। आइये इसे पढ़ें, एक बार नहीं बार-बार पढ़ें चिन्तन करें, मनन करें और देखें कि हम कितना बढ़ पायें है अपने लक्ष्य की ओर—शांति की ओर।

३०—११—८७ —मूल चन्द जैन

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

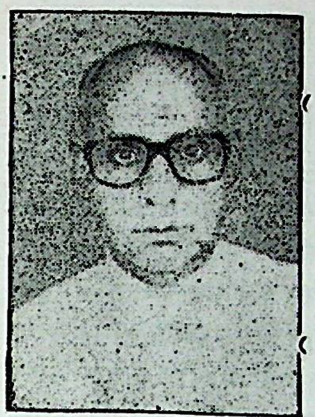

– अपनी बात –

सन् १९७६ में अवकाश ग्रहण करने के बहुत पहले से ही मैं, अध्यात्म योगी पूज्य श्री मनोहर लाल जी वर्णी महाराज के सम्पर्क में आ चुका था और उनके अध्यात्म-साहित्य का स्वाध्याय करता रहता था। तभी कुछ ऐसा निश्चय कर लिया था कि अवकाश ग्रहण के बाद किसी अच्छे अध्यात्म-संत्संग के वातावरण में रह कर जैन दर्शन का स्वाध्याय व जहां तक हो उसका पालन करना है।

इसके लिये मुझे मुजफ्फरनगर, (प्रेमपुरी) ठीक लगा जहाँ पूज्य वर्णी जी के अलावा और साधु संतो का समागम रहता था। अतः मैं सरकारी सर्विस से अवकाश मिलते ही, मकान बनाकर, प्रेमपुरी, मुजफ्फर-नगर में ही रहने लगा। यहां रहते पूज्य वर्णी जी के अलावा आचार्य जय सागर जी महाराज, आचार्य शांति सागर जी महाराज, बाल ब्रह्मचारिणी बहन कौशल जी, ब्र० मुक्त्यानन्द जी, आदि व दूसरे विद्वानों का बहुत सान्निध्य मिलता रहा। मैंने भी अपना पूरा समय स्वाध्याय में, लेखन में और उपरोक्त संतो के सत्संग में लगाया। आचार्य जय सागर जी महाराज की प्रेरणा से मैंने श्री कांजी स्वामी जी का लगभग सभी साहित्य प्राप्त किया और सोनगढ़ से निकलने वाली अध्यात्म पत्रिका "आत्म-धर्म का आजीवन ग्राहक बन गया। इन सब का काफी समय तक स्वाध्याय किया। जैन समाज में कुछ क्षेत्रों में श्री कांजी स्वामी जी के प्रवचनों को लेकर बड़ी भ्रांति फैल रही थी पर जब मैंने पूज्य वर्णी जी के साहित्य के साथ-साथ श्री कांजी स्वामी जी के साहित्य का भी स्वाध्याय किया तो बड़ा आनन्द आया और मेरी तो सभी भ्रांति निकल गई। अतः मैंने दूसरे साहित्य लेखन व संकलन के साथ-साथ, पूज्य वर्णी जी के व श्री कांजी स्वामी जी के मुख्य मुख्य विषयों पर प्रवचनों का संकलन अलग अलग पुस्तक रूप में किया जिससे स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ने एक ही बात कही है, कहीं विरोध ही नहीं और जो भ्रांति समाज में फैल रही है, वह केवल उन लोगों द्वारा फैलाई जा रही है जिनके या तो निहित स्वार्थ हैं या जिनका कोई अध्यात्म विषय पर गहरा स्वाध्याय नहीं है। पिछले १० वर्ष तक जैन-दर्शन का स्वाध्याय करने के बाद, मैं स्पष्ट रूप से कह सकता हूँ कि श्री कांजी स्वामी जी के प्रवचनों में कही भी आगम-विरोध नहीं है।

इसी संदर्भ में इधर कुछ समय से मेरे मन में विचार उठ रहा था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि मैं एक ऐसा संकलन, पुस्तक रूप में तैयार करु जिसमें जैन दर्शन के दिग्गज आचार्यों के, निश्चय-व्यवहार पर व दूसरे विषयों पर संक्षिप्त में, सभी महत्वपूर्ण विचार व निर्देश हों, ताकि कहीं भी कोई भ्रांति उठे तो उन विचारों को आधार मान कर स्थिति स्पष्ट हो जाय और मिथ्या धारणायें मिट जावें। इसके अलावा यह संकलन रूप पुस्तक समय-समय पर स्वाध्याय करने के लिये भी वहुत लाभकारी रहेगी, जिससे लगभग सभी आध्यात्मिक विषयों का पुनः पुनः पठन, परिचय व स्मरण हो जायगा। इन सब बातों को ध्यान में रखकर, मैंने जैन दर्शन के लगभग सभी मुख्य-मुख्य शास्त्र लिये जो दिग्गज आचार्यों द्वारा रचे गये थे और प्रत्येक शास्त्र की आचार्य विरचित मुख्य-मुख्य गाथाओं के संदर्भ देते हुवे, उनका हिन्दी अर्थ सहित संकलन किया और इस संकलन रूप पुस्तक का नाम "अध्यात्म-शास्त्र सार-संग्रह" रक्खा। इसमें निम्नलिखित शास्त्रों का समावेश किया गया था :—

१. समयसार २. प्रवचन सार ३. नियम सार ४. पंचास्ति काय-संग्रह ५. रयण सार ६. पुरुषार्थ सिद्ध उपाय ७. पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध) ८. पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) ९. परमात्म प्रकाश १०. ज्ञानार्णव ११. सिद्धान्तसार संग्रह १२. गोम्मट सार (जीव कांड) १३. गोम्मट सार (कर्म कांड) १४. पद्मनन्दि-पंचविशंति १५. वृहद्द्रव्य संग्रह १६. समाधि-शतक।

इसके अलावा इस संकलन में जिनवर नयचक्र का भी संक्षिप्त विवेचन रक्खा जो जैन समाज के दिग्गज लेखक व प्रवचनकार डा० हुक्म-चन्द जी भारिल्ल द्वारा लिखित पुस्तक "जिनवरस्य नयचक्र-एक विवेचन" से लिया गया। डा० भारिल्ल जी द्वारा लिखित इस पुस्तक को जैन समाज व इतर समाज ने बहुत सराहा है। डा० साहव ने इस पुस्तक को तैयार करने में विषय का बड़ी बारीकी से बहुत गहन स्वाध्याय किया होगा।

जिन-जिन आचार्यों के शास्त्रों को इस संकलन में लिया गया, उन आचार्यों का संक्षिप्त परिचय भी दे दिया गया जो पुस्तक के आरम्भ होने से पहले ही लगा दिया गया।

मुमुक्ष जनों का सब ही स्वाध्याय, व्रत, संयम, तप आदि का अभ्यास इस लक्ष्य को लेकर होता है कि उसको अन्त समय से समाधि मरण प्राप्त हो अर्थात पंडित मरण प्राप्त हो, बाल मरण न हो और उसके भावों में उस समय मोह न रहकर, वैराग्य रहे। इसी को लक्ष्य में रखकर, इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुस्तक के अंत में, जैन समाज में वहु-प्रचलित व अति लाभकारी छोटा समाधि मरण व वड़ा समाधि मरण, इन दोनों का समावेश कर दिया गया।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट है यह संकलन मैंने अपने लाभ के लिये समय-समय पर स्वाध्याय के वास्ते किया था। परन्तु सन् १९८६ में जब आचार्य श्री शान्ति सागर जी महाराज काचतुर्मास मुजफ्फरनगर नई मंडी में हुवा तो उनकी दृष्टि भी इस संकलन रूप पुस्तक पर पड़ी। उनकी दृष्टि ने इसे स्वाध्याय प्रेमियों के लिये वहुत लाभकारी पाया। उनकी प्रेरणा हुई कि इस संकलन का प्रकाशन हो जाय तो वहुत अच्छा रहेगा। उनकी प्रेरणा से प्रकाशन के वास्ते कागज का प्रवन्ध हो गया और छपाई के वास्ते श्री सत्येन्द्र कुमार जी जैन इंजीनियर गाजियावाद अपने पिता जी एवं मातेश्वरी की स्मृति में ५०००) पांच हजार रुपये का योगदान देने को तैयार हो गये। इस प्रकार ट्रस्ट द्वारा इस ग्रंथ का प्रकाशन संभव हो सका और यह ग्रंथ आचार्य श्री की प्रेरणा व आशीर्वाद से मुमुक्ष समाज के साम नेहैं। ट्रस्ट श्री सत्येन्द्र कुमार जी जैन व दूसरे सज्जनों का जिन्होंने कागज का प्रवन्ध किया आभारी है।

इस ग्रंथ की छपाई व प्रूफ रीडिंग आदि कार्य में त्रिवेणी प्रिन्टर्स के मालिक श्री पवन कुमार जी जैन ने मेरी वहुत सहायता की जिसके लियं मैं उनका वहुत आभारी हूं।

ग्रंथ के अन्त में शुद्धि पत्र लगा है। कृपया स्वाध्याय से पहले अशुद्धियों को अवश्य ठीक कर लें। मुझे पूरी आशा है कि ग्रंथ स्वाध्याय प्रेमियों को अवश्य लाभकारी सिद्ध होगा।

सुशीला सदन, ७७–प्रेमपुरी,
मुजफ्फरनगर।

सूरज मल जैन
इन्जीनियर

१७-११-८७

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—: अनुक्रमिका :—

क्रम	विषय	पृष्ठ
१.	समयसार (रचना कार-श्री कुन्द कुन्दाचार्य)	
	१—प्रथम अधिकार	१
	२—दूसरा अधिकार (जीव-अजीव अधिकार)	२
	३—कर्तृ-कम अधिकार	२
	४—पाप-पुण्य अधिकार	४
	५—आस्रव अधिकार	४
	६—संवर अधिकार	५
	७—निर्जरा अधिकार	५
	८—बन्ध अधिकार	६
	९—मोक्ष अधिकार	७
	१०—सर्व विशुद्धि अधिकार	८
२.	प्रवचन सार (रचयिता: श्री कुन्द कुन्दाचार्य)	
	१—ज्ञानाधिकार	१०
	२—ज्ञेयाधिकार	१३
	३—चरणानुयोग चूलिका अधिकार	१८
	४—उप संहार	२३
३.	नियम सार (रचियता :—श्री कुन्द कुन्दाचार्य)	
	१—जीवाधिकार	२५
	२—अजीवाधिकार	२६
	३—शुद्ध भावाधिकार	२७
	४—व्यवहार चारित्राधिकार	२८
	५—परमार्थ-प्रतिक्रमणाधिकार	३०
	६—निश्चय-प्रत्याख्यानाधिकार	३१
	७—आलोचनाधिकार	३१
	८—शुद्ध नय-प्रायश्चिताधिकार	३२
	९—परम समाधि-अधिकार	३२
	१०—परम-भक्ति अधिकार	३३
	११—निश्चय-आवश्यक अधिकार	३३
	१२—शुद्धो पयोग अधिकार	३४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. पंचास्तिकाय-संग्रह (रचयिता :—श्री कुन्द कुन्दाचार्य)

(अ) षट द्रव्य वर्णन ३६

१—जीव द्रव्यास्तिकाय-व्याख्यान ३७
२—पुदगल-द्रव्यास्तिकाय-व्याख्यान ४०
३—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय व्याख्यान ४१
४—आकाश द्रव्यास्तिकाय-व्याख्यान ४१
५—चूलिका ४१
६—काल द्रव्य ४२
७—उप संहार ४२

(ब) नव पदार्थ पूर्वक-मोक्ष मार्ग वर्णन ४२

१—जीव पदार्थ व्याख्यान ४३
२—अजीव पदार्थ " ४४
३—पाप-पुण्य पदार्थ " ४४
४—आस्रव-पदार्थ " ४५
५—संवर पदार्थ " ४५
६—निर्जरा पदार्थ " ४५
७—वन्ध पदार्थ " ४६
८—मोक्ष पदार्थ " ४६
९—मोक्ष मार्ग—प्रपंच सूचक चूलिका ४६

५. रयणसार (रचयिता—श्री कुन्द कुन्दाचार्य) ४९

६. पुरुषार्थ सिद्ध-उपाय (रचयिता :—श्री अमृत चन्द्राचार्य) ५६

१—सम्यग्दर्शन व्याख्यान (श्रावक धर्म) ५७
२—सम्यग्ज्ञान " ५८
३—सम्यग्चारित्र " ५८
४—सल्लेखना धर्म " ६५
५—सकल चारित्र " (मुनि धर्म) ६६

७. पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध (टीका :—श्री देवीकीनन्दन) ६९

८. पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध— " ८३

९. परमात्म प्रकाश (रचयिता :—आ०योगीन्दुदेव) १०३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. ज्ञानार्णव (रचयिता :—श्री शुभचन्द्राचार्य) ११७

सर्ग—१ ११७
सर्ग—२ (बारह भावनायें) ११७
सर्ग—३ (ध्यान का स्वरूप) १२२
सर्ग—४ (ध्यान वर्णन) १२३
सर्ग—५ (ध्याता के लक्षण) १२४
सर्ग—६ (सम्यग्दर्शन वर्णन) १२४
सर्ग—७ (सम्यग्ज्ञान वर्णन) १२५
सर्ग—८ (सम्यग्चारित्र वर्णन) अहिंसा महाव्रत १२६
सर्ग—९ (सत्य महाव्रत) १२७
सर्ग—१० (अस्तेय महाव्रत) १२८
सर्ग—११ (ब्रह्मचर्य महाव्रत) १२८
सर्ग—१२ (स्त्री स्वरूप वर्णन) १२९
सर्ग—१३ (मैथुन त्यागोपदेश) १३०
सर्ग—१४ (स्त्री संसर्ग निषेध) १३१
सर्ग—१५ (वृद्ध सेवा प्रशंसा) १३२
सर्ग—१६ (परिग्रह त्याग महाव्रत) १३२
सर्ग—१७ (आशा-निन्दा) १३४
सर्ग—१८ (पंच समिति वर्णन) १३४
सर्ग—१९ (कषाय-निन्दा) १३५
सर्ग—२० (इन्द्रियों को वश करने की प्रशंसा) १३७
सर्ग—२१ (त्रितत्त्व वर्णन) १३९
सर्ग—२२ (मन के व्यापार को रोकने का वर्णन) १३९
सर्ग—२३ (राग द्वेष रोकने का वर्णन) १४०
सर्ग—२४ (साम्यभाव वर्णन) १४१
सर्ग—२५ (आर्त्त ध्यान वर्णन) १४२
सर्ग—२६ (रौद्र ध्यान वर्णन), १४२
सर्ग—२७ (धर्म-ध्यान वर्णन) १४३
सर्ग—२८ (ध्यान के स्थान व आसन वर्णन) १४३
सर्ग—२९ (प्राणायाम वर्णन) १४४
सर्ग—३० (प्रत्याहार-धारणा वर्णन) १४५
सर्ग—३१ (सवीर्य ध्यान का वर्णन) १४६
सर्ग—३२ (बहिरात्मा, अन्तरात्मा-परमात्मा वर्णन) १४७
सर्ग—३३ (आज्ञाविचय धर्म ध्यान वर्णन) १४९
सर्ग—३४ (अपायविचय " ") १५०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्ग—३५	(विपाक विचय " ")	१५०
सर्ग—३६	(संस्थान विचय " ")	१५०
सर्ग—३७	(पिंडस्थ ध्यान " ")	१५१
सर्ग—३८	(पदस्थ ध्यान " ")	१५१
सर्ग—३९	(रुपस्थ ध्यान " ")	१५२
सर्ग—४०	(रुपातीत ध्यान " ")	१५२
सर्ग—४१	(धर्म ध्यान-फल वर्णन)	१५३
सर्ग—४२	(शुक्ल ध्यान स्वरुप)	१५४

११. सिद्धान्तसार संग्रह (रचियता :—श्री नरेन्द्रसेनाचार्य)

परिच्छेद-१.	(सम्यग्दर्शन स्वरूप)	१५६
" २.	(सम्यग्ज्ञान स्वरूप)	१५७
" ३.	(चारित्र स्वरूप)	१५८
" ४.	(अणुव्रत और महाव्रत वर्णन)	१५९
" ५.	(तत्त्वों का स्वरुप)	१६०
" ६.	(चारों गतियों का वर्णन-नरक लोक वर्णन)	१६४
" ७.	(मध्य लोक वर्णन)	१६५
" ८.	(देवलोक वर्णन)	१६५
" ९	(अजीव, आस्रव, बंधतत्त्व वर्णन)	१६६
" १०.	(निर्जरा तत्व वर्णन)	१६६
" ११.	(निर्जरा-मोक्ष तत्त्व वर्णन)	१६७
" १२.	(सल्लेखना मरण-वर्णन)	१६८

१२. गोम्मटसार जीवकांड (रचयिता :—श्री मन्नेमिचन्द्राचार्य)

अधिकार १.	(गुणस्थान वर्णन)	१७०
" २.	(जीव समास वर्णन)	१७२
" ३.	(जीव पर्याप्ति वर्णन)	१७३
" ४.	(प्राण-प्ररुपणा)	१७४
अधिकार ५.	(संज्ञा प्ररुपणा)	१७४
" ६.	(मार्गणा प्ररुपणा)	१७५
" ७.	(उपयोग मार्गणा)	१८५
" ८.	(अंतर्भाव वर्णन)	१८५
" ९.	(आलाप अधिकार)	१८५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३. गोम्मटसार-कर्मकांड (रचयिता :—श्री मन्नेमिचन्द्राचार्य)

१. प्रकृति अधिकार	१८६
२. बंध—उदय-सत्व अधिकार	१८६
३. भंग सहित सत्व स्थान—भंगाधिकार	१६२
४. चूलिका अधिकार (पंच भागाहार चूलिका)	१६३
५. स्थान-समुत्कीर्तन अधिकार	१६४
६. प्रत्यय-अधिकार (कर्म-कारण अधिकार)	१६७
७. भाव-चूलिका अधिकार (भावों का वर्णन)	१६७
८. एकान्त मत विवरण	१६८
९. कर्म-वन्ध—उदय-सत्ता यन्त्र	१६६
१०. उत्तर प्रकृतियों के नाम-संख्या विवरण	२०२
११. अलौकिक गणित की कुछ संख्याओं काखुलासा	२०५

१४. पद्मनन्दि-पंचविशंति (रचयिता :—आचार्य पद्मनन्दि)

१. धर्मोंपदेशामृत	२१०
२. दानोपदेशनम्	२१३
३. अनित्य पंचाशत	२१५
४. एकत्व सप्तति:	२१६
५. यतिभावनाष्टकम्	२१७
६. उपासक संस्कार	२१८
७. देश व्रतो दद्योतनम्	२१८
८. सिद्ध स्तुति	२१६
९. आलोचना	२१६
११. सद्बोधचन्द्रोदय:	२२०
११. निश्चय पंच्चाशत्:	२२२
१२. ब्रह्मचर्य रक्षावर्तिः	२२४
१३. ऋषभ स्तोत्रम्	२२४
१४. जिनवरस्तवनम्	२२६
१५. श्रुत देवता स्तुति	२२७
१६. स्वयंभ् स्तुति (२४ तीर्थं कर स्तुति)	२२७
१७. सुप्रभाताष्ट कम् (केवल ज्ञान स्तुति)	२२८
१८. शांतिनाथ स्तोत्रम्	२२८
१९. श्री जिन पूजाष्टकम्	२२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२०. श्री करुणाष्टकम् ... २२९
२१. क्रियाकांड चूलिका ... २२९
२२. एकत्व भावना दशकम् ... २३०
२३. परमार्थ विंशति ... २३०
२४. शरीराष्टकम् ... २३२
२५. स्नानाष्टकम् ... २३२
२६. ब्रह्मचर्याष्टकम् ... २३२

१५. बृहद्द्रव्य संग्रह (रचयिता—आचार्य श्री नेमचन्द सिद्धान्त देव)

प्रथम अधिकार (छः द्रव्य-पंचिस्तिकाय प्रतिपादक) ... २३४
द्वितीय " (सात तत्व-नौ पदार्थ वर्णन) ... २३८
तृतीय " (मोक्ष मार्ग वर्णन) ... २४०

१६. समाधि शतक (रचयिता :—आचार्य पूज्यपाद) ... २४४

१७. जिनवरस्य-नयचक्र

१. नय की आवश्यकता ... २५१
२. नय का सामान्य स्वरूप ... २५१
३. नय कितने ? ... २५१

४. (क) निश्चयनय-व्यवहार नय ... २५२

५. निश्चय नय-व्यवहार नय के भेद प्रभेद ... २५३

(१) निश्चय नय ... २५३
(२) व्यवहार नय ... २५४

६. (ख) द्रव्यार्थिक नय-पर्यायार्थिक नय ... २५५

(१) द्रव्यार्थिक नय के भेद प्रभेद ... २५७
(२) पर्यायार्थिक नय के भेद प्रभेद ... २५९

१८. समाधिमरण-(छोटा) ... २५९

१९. समाधि मरण (बड़ा) मृत्यु महोत्सव पाठ ... २६१

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

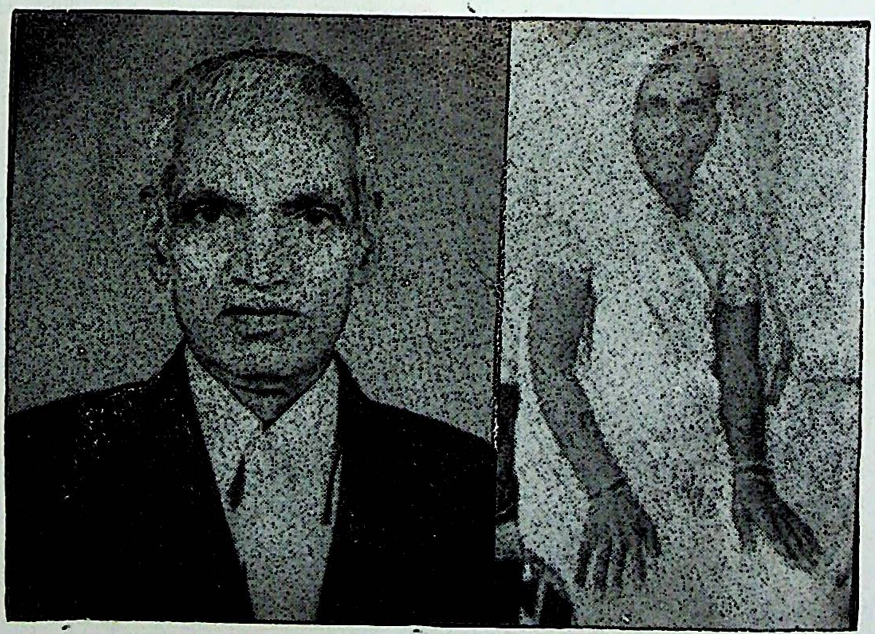

स्वर्गीय श्री त्रिलोक चन्द जैन पिताश्री एवम् श्रीमति शारदावती जैन मातेश्वरी, श्री सतेन्द्र कुमार जैन इन्जीनियर निवासी रोहाना कलां (मुजफ्फरनगर)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—रचनाकार-परिचय—

१. श्री कुन्द कुन्दाचार्य

श्री कुन्द कुन्दाचार्य, दिगम्बर जैनाचार्यों में सर्वाधिक वांगमय प्रभावक एवं प्रसिद्धि को प्राप्त आचार्य है। भगवान महावीर और उनके गणधर गौतम के वाद कुन्द-कुन्द स्वामी को ही मंगल कहा गया है जैसे-

मंगल भगवान वीरों, मंगल गौतम गणो।
मंगल कुन्द-कुन्दार्यों, जैन धर्मोस्तु मंगलम् ।।

इस गुणस्तवन का कारण, उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तु तत्व का, और विशेषतया आत्म-तत्त्व का विशद वर्णन है। उनके विषय में यहां तक मान्यता है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और तीर्थंकर सीमंधर स्वामी की दिव्य ध्वनि से उन्होंने आत्म-तत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था। उनके कई नाम प्रचलित थे जैसे पद्मनन्दि, कुन्द-कुन्दाचार्य, वक्र ग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य। उन्हें चार अंगुल ऊपर आकाश गमन की ऋष्टि प्राप्त थी।

उनका जन्म स्थान गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुडल नाम का स्थान है जो अनन्तपुर जिले के गुटीताल्लुके में स्थित है, वहा वताया जाता है कि वे भद्रबाहु आचार्य के शिष्य थे जो अन्तिम श्रुत केवली थे और द्वादशांग और चौदह पूर्व का जिन्हें ज्ञान था। वे साक्षात शिष्य न होकर गुरुपरम्परा से शिष्य थे। वे विक्रम की पहली शताब्दी में जन्मे वि० स० ४९ में वे आचार्य पद पर आसीन हुवे। उस समय उनकी अवस्था ४४ वर्ष थी। ५१ वर्ष १० महीने उस पद पर रहे। और ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की आयु में उनका देहवसान हुवा। उन्होंने नियमसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार वारस-अणुवेक्खा, अष्ठ-पाहुड और रयणसार ग्रथों की रचना की। कहा जाता है कि मूलाचार भी उनकी ही रचना है।

२. श्री अमृतचन्द्राचार्य

आध्यात्मिक विद्वानों में भगवत्कुन्द-कुन्दाचार्य के वाद यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे आचार्य अमृतचन्द जी ही है। इन आचार्य के वारे में वहुत कम जाना जाता है। इनकी गुरु परम्परा से तथा समयादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से समाज सर्वथा अनभिज्ञ है। उन्होंने अपना परिचय किसी भी ग्रंथ में नहीं दिया। उनके बनाये पांच ग्रंथ–पुरुषार्थ सिद्ध उपाय, तत्वार्थ सार, समय सार टीका, प्रवचन सार टीका और पंचास्तिकाय टीका है। पहला ग्रथ पुरुषार्थ सिद्ध उपाय, पहला श्रावकाचार, सबसे निराला, अद्वितीय है। विद्वानों ने काफी खोज के बाद यह निर्णय लिया है कि वें विक्रम की १२ वी॰ सदी में हुवे थे। उनको मलधारिदेव मांधवचन्द्र का शिष्य माना जाता है। सिद्ध नामक कवि ने इन्हें तप तेज दिवाकर, व्रत-शील-तप रत्नाकर, तर्क लहरि झंकोलित-परमत, वर–व्याकरण-प्रवर प्रसरित पद जंगम सरस्वती आदि विशेषण दिये है।

३. आचार्य योगीन्द्र देव

इन आचार्य के जन्म स्थान तथा जन्मसंवत् आदि के बारे में कुछ पता नहीं चलता जिसका कारण उनका ख्याति आदि से दूर ही रहना है। हैं। उन्होंने अपने शिष्य श्री प्रभाकर भट्ट के प्रश्न करने पर और जगत के सब जीवों के कल्याण के भाव से प्राकृत भाषा में तीन सौ पैंतालिस छंदों में परमात्म प्रकाश ग्रंथ की रचना की जो बहुत प्राचीन मालूम होती है। यह ग्रंथ साक्षात मोक्ष मार्ग प्रतिपादक है और कुन्द-कुन्दाचार्य के ग्रंथों की तरह ही अध्यात्म विषय की परम सीमा है। पं॰ श्री ब्रह्मदेव जी ने इस ग्रंथ की संस्कृत टीका की थी जो विक्रम की १६ वीं शताब्दि के मध्य में हुवे थे।

४. आचार्य श्री शुभचन्द्र सूरि जी

आचार्य शुभचन्द्र जी, भर्तृहरि, भोज, मुंज. मांनतुंग, कालिदास, वररुचि और धनंजय के समकालीन थे। उन्होंने अपने बारे में कुछ भी नहीं लिखा, यहां तक कि अपना नाम भी नहीं लिखा। यदि प्रत्येक सर्ग के अन्त में उनका नाम नहीं मिलता और परम्परा से उनके ग्रन्थ के पढ़ने की परिपाटी न चली आई होती तो आज यह जानना भी कठिन हो जाता कि ज्ञानार्णव ग्रंथ के रचयिता कौन थे ? फिर भी यह निश्चय हो चुका है कि वे ईसा की ग्यारहवीं सदी में हुवे। उनके बारे में एक कथा आती है कि प्राचीनकाल में मालव देश की उज्जयनि नगरी में "सिंह" नाम का राजा राज्य करता था। पहले उनके कोई संतान न थी अतः उन्होंने एक बच्चे को, जो मुंज घास में मिला था, अपने पास अपना पुत्र बताकर रख लिया। उसका नाम मुंज ही रक्खा और बड़ा होने पर उसका विवाह कर दिया। बाद में उनकी रानी मृगावती भी गर्भवती हुई और उसने शुभचन्द्र व भर्तृहरि नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। ये ही दोनों बालक बाद में परमयोगी श्री शुभचन्द्राचार्य और राजर्षि भर्तृहरि नाम से प्रसिद्ध हुवे। जिस समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भर्तृहरि जी साधु अवस्था में थे और तंत्र वाही थे तो शुभचन्दाचार्य ने ही उन्हें विस्तृत रीति से जैन दर्शन का उपदेश देकर उनके हृदय के कपाट खोले अर्थात् उनका मिथ्या दर्शन दूर किया जिससे भर्तृहरि भी दिगम्बर साधु हो गये। उन्हीं को योग का अध्ययन कराने को भगवान शुभचन्द्र ने "ज्ञानार्णव" ग्रंथ की रचना की और उसके अध्ययन से भर्तृहरि कर्म-योगी हो गये? ज्ञानार्णव ग्रंथ को "योगाणव" भी नाम दिया गया है क्योंकि इसमें योगीश्वरों के जानने योग्य सम्पूर्ण जैन सिद्धांत का रहस्य भरा हुआ है। जैन दर्शन का यह अद्वितीय ग्रंथ है। फिर भी खेद का विषय है कि भर्तृहरि के शतत्रय के समान इसका प्रचार नहीं हुवा।

५. श्री नरेन्द्र सेनाचार्य

आचार्य श्री नरेन्द्र सैन जी का काल लगभग वि० स० ११५० सिद्ध होता है। आप धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन और भावसेन व आचार्य जयसेन की आचार्य परम्परा में आचार्य जयसेन के शिष्य थे। आपने सिद्धांत सार संग्रह" ग्रंथ की रचना की। इसके अलावा आपने प्रतीप्ठा दीपक ग्रंथ की भी रचना की थी जिससे सिद्ध होता है कि आचार्य श्री ज्योतिषि शास्त्र के भी अद्विवीतीय ज्ञानी थे। सिद्धान्त शब्द की व्याख्या आपने "सिद्ध: अन्त: निश्चयो यस्यस सिद्धान्त" कहकर की है। तदनुसार सिद्धान्त सार" ग्रंथ में जीवादिक सप्त-तत्वों का निश्चय प्रमाण और नयो के द्वारा करके, उसका सार संग्रह इस ग्रंथ में किया है अत: सिद्धान्त सार संग्रह नाम सार्थक है।

६. आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धान्त चक्रवर्ती

आपके जन्म का सही-सही तो पता नहीं चलता पर आप विक्रम की ग्यारहवी सदी में हुवे थे। आप और श्री चामुण्डराय समकालीन थे और श्री चामुण्डराय के गुरु थे। इसी समय श्री चामुण्डराय जी ने श्रवण बेल गोला में श्री गोम्मट स्वामी की प्रतिष्ठा की थी। आपने सिद्धान्त शास्त्रों का सार लेकर गोम्मट सार ग्रंथ की (जीव कांड व कर्म कांड) की रचना की थी और इसके अलावा आपने त्रिलोक सार, लब्धिसार, व वृहद द्रव्य संग्रह की भी रचना की थी जिससे सिद्ध होता है कि आप गणित के ही नहीं, सर्व विषयों के पूर्ण विद्वान अप्रतिम पंडित थे। आप "सिद्धान्त चक्रवर्ती" पदवी से विभूषित थे जो सब अर्थो में सार्थक थी। और आज भी है। आपके द्वारा रचे जीवकांड व कर्मकांड (गोम्मट सार) ग्रंथों का जैन दर्शन में दूसरा जोड़ नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. आचार्य पद्मनन्दि जी

इस नाम के कई मुनि आचार्य हो चुके है। परजिन आचार्य ने "पंच-विशति" ग्रंथ की रचना की है, वे आचार्य वीर नन्दो के शिष्य थे। वे वि० स० १०७३ ओर १२४२ के बीच कभी हुवे थे। उनकी कृति पंच-विशांति पढने से सिद्ध होता है कि वे मुनि-धर्म का पालन कड़ी दृढ़ता से करते थे। और उनकी दृष्टि में मुक्ति मार्ग का साधन भूत एक शुद्ध नय ही था।

८. आचार्य पूज्यपाद स्वामी

आचार्य पूज्यपाद स्वामी विक्रम संवत ४०१ के लगभग हुवे। वे वड़े विद्वान योगी थे। उनका दूसरा नाम देवनन्दी भी था। उन्होंने समाधि-शतक, जैनेन्द्र-व्याकरण, सर्वार्थ सिद्धि और इष्टो पदेश आदि ग्रंथों की रचना की। इन सव ग्रंथो में उन्होंने एक आत्मा के कल्याण का ही उपाय बताया है।

९. डा० हुक्मचन्द भारिल्ल

आप उच्चकोटि के बुद्ध-जीवी उच्च शिक्षित व्यक्ति हैं आप शास्त्री, न्याय तीर्थ, साहित्य रत्न, एम० ए० पी० एच० डी० शिक्षा प्राप्त है। आप बरोदा स्वामी जिला ललितपुर (उत्तर-प्रदेश) के रहने वाले हैं। ग्रहस्थ में रहते ही विद्याध्ययन व स्वाध्याय करते रहे। आप पहले सोनगढ़ में रहते आत्म-धर्म के सम्पादक रहे। और अब वीतराग विज्ञान के सम्पादक हैं जो जयपुर से निकलता है। आपने अनेक पुस्तके लिखी है जिनमें क्रमबद्ध पर्याय नयचक्र व बारह भावनाओं का विवेचन मुख्य है। आपने सत्य की खोज उपन्यास में जैन दर्शन का रहस्य सरलता से वताया है। आप लोकप्रिय अध्यात्म प्रवक्ता है और विदेशों में जैन धर्म का प्रचार भी कर रहे हैं। आप इस समय पं० टोडरमलस्मारक ट्रस्ट के संचालक एवं वीतराग विज्ञान विद्या पीठ, जयपुर के रजिस्ट्रार हैं। जिन वाणी का लेखन व व्याख्यानों द्वारा प्रचार पर रहे है। कांजी स्वामी जी के भक्त हैं।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१ समयसार

अधिकार-१

[गाथा-२] जीव को समय कहते हैं। जो जीव अपने स्वभाव में स्थित होता है, उसे स्वसमय कहते हैं और जो जीव परस्वभाव रागद्वेष मोह रूप हुवा करता है, वह परसमय कहा जाता है।

[गाथा-८] जैसे मलेच्छ लोगों को मलेच्छ भाषा के विना वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने में कोई भी समर्थ नहीं है, वैसे ही व्यवहार के विना परमार्थ का उपदेश करना शक्य नहीं है।

[गाथा-९१० व ११] जोश्रुत ज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह श्रुत केवली है ऐसा परमार्थ है और इस परमार्थ का कथन अशक्य हैं। जो सर्वश्रुत को जानता है। वह श्रुतकेवली है वह व्यवहार है और यह व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपनाना पडता है।

शुद्ध नयभूतार्थ सत्यार्थ है, इसको अपनाने से जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है किन्तु इसको जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, तब तब सम्यकत्व नहीं हो सकता।

[गाथा-१३] भूतार्थ अर्थात शुद्ध नय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, और मोक्ष, ये नौ तत्व, सम्यकत्व है अर्थात इन तत्त्वों को शुद्ध नय से जान लेना सम्यग्दर्शन है।

[गाथा-१४] जो नय आत्मा को बन्ध रहित, पर के स्पर्श से रहित, अन्य से रहित, चंचलता से रहित, विशेष से रहित और अन्य के संयोग से रहित देखता है, उसे शुद्ध नय जानो।

[गाथा-१५] जो आत्मा को अवद्ध स्पष्ट-द्रव्य कर्म और नो कर्म से अछूता, अनन्य-अन्य से रहित, अविशेष-विशेष से रहित देखता है, वह समस्त जिन शासन को देखता है।

[गाथा-१६] साधु को नित्य ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पालन करना चाहिये तथा इन तीनों को निश्चय से एक आत्मा जानो अर्थात ये तीनों आत्म स्वरूप ही हैं। अतः निश्चय से साधु को, अथवा मोक्षार्थी को एक आत्मा का ही सेवन करना योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गाथा-१६] जब तक इस आत्मा की ऐसी बुद्धि है कि ज्ञानावरण आदिकर्म और शरीरादि नोकर्मरूप मैं हूं और ये कर्म-नोकर्म मेरे हैं, तब तक यह आत्मा अज्ञानी है।

[गाथा-२६] शरीर के गुण केवली के गुण नहीं है। अतः जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वही वास्तव में केवली की स्तुति है।

[गाथा-३४] अपने सिवाय, अन्य सभी पदार्थ पर हैं, ऐसा जानकर प्रत्याख्यान अर्थात त्याग करता है। अतः प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियम से जानना अर्थात अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था का नाम ही प्रत्याख्यान है, केवल वस्तु को छोड़ना प्रत्याख्यान नहीं।

२. जीव-अजीव अधिकार

[गाथा-४५-४६] सभी आठ प्रकार के कर्म पौदगलिक हैं, पककर उदय में आने वाले कर्म का फल दुख है क्योंकि कर्म उदय से अध्यवसान आदि भाव उत्पन्न होते हैं। अतः अध्यवसान आदि भाव आत्मा के स्वभाव नहीं है। विभाव पौदगलिक हैं। ये सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं, ऐसा जिनवर देव ने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहार नय का मत है, निश्चय का नहीं।

[गाथा-४६] जीव को रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त, चेतनागुण वाला, शब्द रहित, इन्द्रियों के अगोचर व अनियत आकार वाला जानो।

३. कर्तृ कर्माधिकार

[गाथा-६६, ७०-७१] जीव जब तक आत्मा और आस्रव, इन दोनों के विशिष्ठ भेद को नहीं जानता, तब तक वह अज्ञानी हुआ, क्रोध आदि कषायों में प्रवृत्ति करता है, जिससे कर्म बन्ध होता है। जब यह जीव आत्मा और आस्रव के विशिष्ठ अन्तर को जान लेता है, तब उसके बन्ध नहीं होता।

[गाथा-७६] ज्ञानी पुद्गल कर्मों को जानता तो है परन्तु पुद्गल के साथ उसका कर्तापना या कर्मपना नहीं है, न पुदगल कर्म जीव का कार्य है और न जीव उसका कर्ता है, केवल निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं।

[गाथा-८३-८४] निश्चयनय से आत्मा अपने स्वाभाविक भावों का ही कर्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोक्ता है, व्यवहार नय से आत्मा अनेक प्रकार के पुदगल कर्मों को करता है और पुदगल कर्मों को भोगता है।

[गाथा-८८-८९-९०] उपयोग रूप जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व है, वह जीव है। अनादिकाल से, मोह से युक्त उपयोग के, मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भाव, ये तीन अनादि परिणाम जानने चाहिये। यद्यपि यथार्थ में वह उपयोग शुद्ध और निरंजन भाव रूप है, किन्तु मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति का निमित्त मिलने से तीन प्रकार का है। इनमें से उपयोग रूप आत्मा, जिस भाव को करता है, वह उसी का कर्ता होता है।

[गाथा-९१-९२] पर को अपना करता हुवा और अपने को पर करता हुवा वह जीव अज्ञानी है। वह अज्ञानी जीव कर्मों का करता होता है। पर को अपना नहीं करता हुवा और अपने को पर का नहीं करता हुवा जीव ज्ञानी है। वह ज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता नहीं होता।

[गाथा-१००] जीव न घट को करता है, न पट को और न शेष द्रव्यों को ही करता है, किन्तु जीव के विकारी योग और उपयोग घटादि की उत्पत्ति में निमित्त होते हैं और उनका कर्ता जीव कहा जाता है।

[गाथा-१०५-१०६] इस प्रकार जीव के निमित्त भूत होने पर पुदगलों के कर्म वन्ध रूप परिणाम को देखकर उपचार मात्र से यह कहा जाता है कि "जीव ने कर्म किया" जैसे सैनिकों के युद्ध करने पर कह दिया जाता है कि राजा ने युद्ध किया।

[गाथा-१३०-१३१] जैसे सुवर्णमय पदार्थ से सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव उत्पन्न होते हैं और लोहमय पदार्थ से लोहमय कड़े आदि भाव उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अज्ञानी के अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव और ज्ञानी के सब भाव ज्ञानमय होते हैं।

[गाथा-१३९-१४०] यदि जीव और कर्म दोनों मिलकर रागादि] रूप परिणमन करते हैं तो जीव और कर्म, दोनों ही रागादि रूप परिणमें, ऐसा कहा जायेगा। किन्तु रागादि रूप परिगाम तो अकेले जीव के ही होते हैं। अतः कर्म के उदय रूप निमित्त बिना ही जीव के रागादि परिणाम होते हैं, ऐसा मानो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. पाप पुण्य अधिकार

[गाथा-१४६-१४७] जैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है और लोहे की बेडी भी पुरुष को बांधती है। उसी प्रकार किये हुवे शुभ और अशुभ कर्म जीव को बांधते हैं। अतः दोनों प्रकार के कुशील कर्मों के साथ न राग करो और न उनका संसर्ग करो क्योंकि कुशीलों का संसर्ग करने से तथा उनसे राग करने से स्वाधीनता का विनाश होता है।

[गाथा-१५०] रागी जीव कर्म का वन्ध करता है और विरागी जीव कर्म बन्धन से छूट जाता है। अतः कर्मों में राग मत करो।

[गाथा-१५६] विद्वान लोग निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार से प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियो के ही कर्मों का क्षय होता है।

५. आस्रव अधिकार

[गाथा-१६४-१६५] मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और योग, चेतन भी हैं और अचेतन भी। ये सब जीव में होते हैं और जीव के ही अनन्य परिणाम है। तथा वे ज्ञानावरण आदि करमों के कारण होते हैं और उनका कारण राग द्वेषादि भावों का कर्ताजीव होता है।

[गाथा-१६६-१६७] सम्यग्दृष्टि के आस्रव पूर्वक वन्ध नहीं होता क्योंकि उसके आस्रव का निरोध अर्थात संवर होता है। वह नवीन कर्मों को नहीं बांधता हुवा, पहले वंधे कर्मों को, जो सत्ता में स्थित हैं, जानता है। जीव के द्वारा किये गये रागादि युक्त भाव को बंधक कहा गया है और रागादि से रहित भाव बन्धक नहीं है, केवल ज्ञायक है। अतः ज्ञानी को द्रव्या आस्रव का अभाव है।

[गा० १७९-१८०] जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया आहार, उदराग्नि से युक्त होकर, मांस, चर्बी, रुधिर आदि अनेक भाव रूप परिणमन करता है, वैसे ही ज्ञानी के पहले जो मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय वंधे थे वे (जीव के रागादि भावों से संयुक्त होकर) अनेक प्रकार के कर्म बंधन को करते हैं। किन्तु ऐसे जीव शुद्ध नय से हीन होते हैं अर्थात शुद्ध नयसें च्युत होने पर ही ज्ञानी को कर्म बन्ध होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. संवर अधिकार

[गा० १८४-१८५] जैसे सुवर्ण अग्नि से तपा होने पर भी सुवर्णपने को नहीं छोड़ता, वैसे ही कर्म के उदय से तप्त ज्ञानी भी ज्ञानपने को नहीं छोड़ता, ऐसा ज्ञानी जानता है और अज्ञान रुपी अंधकार से आच्छादित अज्ञानी, आत्मा के स्वभाव को न जानता हुवा राग को ही आत्मा मानता है।

[गा० १८७-१८८-१८९] आत्मा को आत्मा के द्वारा, पुण्य-पाप रूप शुभोपयोग और अशुभपयोग से रोककर और शुद्ध दर्शन-ज्ञान रूप आत्मा में स्थिर होता हुवा अन्य द्रव्य की इच्छा को त्यागता है और समस्त वाहय-आभंयतर परिग्रह को छोडकर, आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है, कर्म, नो कर्म का ध्यान नहीं करता है, तथा आत्मा के एकत्व का ही चिन्तन करता है। वह आत्मा, आत्मा का ध्यान करता हुवा, दर्शन-ज्ञान मय तथा अनन्यमय होकर शीघ्र ही कर्म से मुक्त आत्मा को प्राप्त करता है।

७. निर्जरा अधिकार

[गा० १९५-१९६-१९७] जैसे वैद्य विष को खाते हुवे भी मरण को प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी, पुदगल कर्मों के उदय को भोगता है किन्तु कर्म से नहीं बंधता। जैसे कोई पुरुष अरुचिपूर्वक मद्यपान करता हुवा मदहोश नहीं होता वैसे ही द्रव्य के उपभोग में अनासक्त ज्ञानी भी कर्म से वद्ध नहीं होता।

कोई तो विषयों का सेवन करते हुवे भी सेवन नही करता और कोई विषयों का सेवन नहीं करते हुऐ भी सेवन करता है। जैसे कोई पुरुष विवाहादि प्रकरण में लगा होने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से विवाहादि प्रकरण का कर्त्ता नहीं होता।

[गा० १९९-२००] राग नामक पुदगल कर्म है। उसी के उदय के विपाक से यह राग रूप भाव होता है। यह मेरा भाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक भाव हूं। इस प्रकार सम्यग्द्रष्टि अपने को ज्ञायक स्वभाव जानता है। वह तत्त्व को जानता हुवा कर्म के विपाक रूप उदय को छोड़ता है अर्थात उसमें मम-त्व बुद्धि नहीं करता।

[गा० २०४-२०५] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान मनपर्यय: ज्ञान और केवल ज्ञान ये सब सामान्य ज्ञान की विशेष पर्याय हैं। सामान्य ज्ञान गुण से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहित बहुत से जीव, इस सामान्य ज्ञान के ज्ञायक भाव पद को प्राप्त नहीं करते। यदि कर्मों से छूटना है तो इस सामान्य ज्ञान पद को प्राप्त कर।

[गा० २१० व २११] जिसको इच्छा नहीं है, उसको अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी धर्म की भी इच्छा नहीं करता, अतः ज्ञानी को धर्म का भी परिग्रह नहीं है। वह तो धर्म का केवल ज्ञायक है। इसी प्रकार ज्ञानी अधर्म की इच्छा नहीं करता, अतः उसके अधर्म का परिग्रह नहीं है। वह तो उसका केवल ज्ञाता है।

[गा० २२८ से २३६] सम्यग्दृष्टि जीव निशंक होते हैं, अतः निर्भय होते हैं और इस लोक का भय, परलोक का भय, अत्राण भय, अगुप्तिभय, मरण भय, वेदना भय और आकस्मिक भय, इन सात भयों से मुक्त होते हैं अतः निशंक होते हैं, आकांक्षारहित होते हैं, निर्विकित्सा गुण के धारी होते हैं, अमूढ़ दृष्टि होते हैं, उपगूहनकारी होते हैं, स्थितिकरण गुण से युक्त होते हैं, वात्सल्यभाव से युक्त होते हैं, और जिनवाणी की प्रभावना करने वाले होते हैं।

८. बन्ध अधिकार

[गा० २३७ से २४६] जैसे कोई पुरुष अपने शरीर पर तेल आदि चिक्कण वस्तु मलकर, धूल में खडा होकर व्यायाम करता है तो धूल से घूसरित होता है, तो इसका निश्चय से कारण उस के शरीर से लगा स्निग्ध पदार्थ ही है, वह व्यायाम करना नहीं. इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने उपयोग में रागदिभावों को करता है और इसी से वह कर्मरुपीरज से लिप्त होता है। परन्तु जब वह उस स्निग्ध पदार्थ को शरीर से दूर कर, फिर व्यायाम करता है तो उस समय फिर धूल से लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार अनेक प्रकार के मानसिक, वाचनिक और काय के व्यापारों में लगा हुवा ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) अपने उपयोग में रागादि नहीं करता, अतः वह कर्मरुपी रज से लिप्त नहीं होता।

[गा० २४८ से २५०] जो मानता है कि मैं अन्य जीवों को जिवाता हूं, और अन्य प्राणी मुझे जिवाते हैं, अथवा मैं अन्य प्राणियों को मारता हूं, अथवा अन्य प्राणी मुझे मारते हैं, वह मूढ अज्ञानी है और जो ऐसा नहीं मानते, वह ज्ञानी है।

[गा० २५७-२५८] जो मरता है और दुखी होता है, वह सब कर्म के उदय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से होता है. अतः मैंने मारा, मैंने दुखी किया, ऐसा अभिप्राय मिथ्या है। जो नहीं मरता अथवा दुखी नहीं होता वह भी कर्म के उदय से है। अतः मैंने नहीं मारा, अथवा मैंने दुखी नहीं किया, ऐसा अभिप्राय भी मिथ्या है। [गा० २६२] जीवों को मारो अथवा मत मारो, कर्मबन्ध अध्यवसान से होता है। निश्चय से यह जीवों के कर्मबन्ध का संक्षेप है।

[गा० २६५] जीवों का जो अध्यवसान होता है, वह, किसी न किसी वस्तु के आश्रय से ही होता है, फिर भी उस वस्तु से बंध नहीं होता, अध्यवसान से ही बन्ध होता है।

[गा० २७२] इस प्रकार निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय को निषिद्ध जानो तथा निश्चय का आश्रय लेने वाले मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं। व्यवहार को केवल जानना तो है उसका आश्रय नहीं लेना है।

[गा० २७८-२७९] जैसे शुद्ध स्फटिक मणि स्वयं वर्णरूप परिणमन नहीं करता, किन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्यों के द्वारा, वह रक्त आदि रूप परिणमन करता दिखाई देता है, इसी प्रकार शुद्ध ज्ञानी आत्मा स्वयं रागादिरूप परिणमन नहीं करता, किन्तु अन्य कर्मों के निमित्त से रागदि दोषों के द्वारा वह रागी दिखाई देता है।

[गा० २८२] अतः यह बात निश्चय हुई कि राग रूप, द्वेष रूप और कषाय रूप, कर्म का उदय होने पर, जो भाव होते हैं, उन रूप परिणमन करता हुवा, अज्ञानी आत्मा तो रागादि का बन्ध करता है ओर ज्ञानी आत्मा उस रूप परिणमन नहीं करता हुवा कर्म बन्ध नहीं करता है।

८. मोक्ष अधिकार

[गा० २८८ से २९१] जैसे बन्धन में पड़ा हुवा मनुष्य. केवल बन्ध का विचार करने, से अथवा केवल छूटने के कारणों को जान लेने से छुटकारा नहीं पा सकता, उसी प्रकार यह जीव कर्मबन्धनों के प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग को जानते हुवे भी मुक्त नहीं होता, मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।

[गा० २९२] जैसे बन्धन से बंधा पुरुष, बंध को काटकर ही मुक्त हो सकता है, इसी प्रकार यह संसारी जीव भी, कर्मबन्ध को काटकर ही मोक्ष को प्राप्त हो सकता है, केवल मोक्ष के कारणों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २६७-२६८-२६९] प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये जो चेतयिता है, वह तो निश्चय से मैं हूं, वाकी के जो भाव हैं, वे मुझसे परे हैं, ऐसा जानना चाहिये। जो दृष्टा है, जो ज्ञाता है, वही निश्चय से मैं हूं।

[गा० ३०४-३०५] "राध" अर्थात पर द्रव्य को छोडकर, शुद्ध आत्मा की सिद्धि से जो रहित है, वह आत्मा अपराध है तथा जो आत्मा निरपराध होता है वह निशंक होता है और मैं शुद्ध आत्मा रूप हूं," ऐसा जानता हुवा सदा आराधना रूप वर्तता हुवा, वह सदा काल आराधक है।

[गा० ३०६-३०७] प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा गर्हा, शुद्धि, ये आठ प्रकार का विषकुम्भ है। अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा, अशुद्धि ये आठ अमृत कुंभ है।

यहां यह वात समझना आवश्यक है कि किस अपेक्षा से क्या वात कही गई है। यह वात छठे गुणस्थान वर्ती मुनियों को कही गई है। वैसे तो प्रतिक्रमण आदि साधु के लिए अमृत कुंभ ही है, परन्तु उससे आगे की दृष्टि जो तीसरी भूमि है, उस पर पहुंचने के वास्ते प्रतिक्रमण आदि विषकुंभ कहे गये हैं और अप्रतिक्रमण आदि अमृत कुंभ कहे गये हैं। उस दृष्टि के अभाव में द्रव्य प्रतिक्रमण आदि भी अपराध हैं। अतः तीसरी भूमिका के द्वारा ही निरपराधपन होता है, उसी की प्राप्ति के लिये प्रतिक्रमादि को अमृत कुंभ कहा है।

१०. सर्व विशुद्धि अधिकार

[गा० ३१६] अज्ञानी प्रकृति (जड़) के स्वभाव में स्थित होता हुवा कर्मों के फल को भोगता है किन्तु ज्ञानी उदय में आये हुवे कर्म फल को केवल जानता है, ज्ञाता रहता है, भोगता नही है।

[गा०३२०] जैसे आंख दृश्य वस्तुओ को न तो करती है और न भोगती है, केवल देखती है, वैसे ही ज्ञान अकारक और अवेदक है कर्त्ता भोक्ता नहीं है, वह वन्ध, मोक्ष, कर्म का उदय और निर्जरा को केवल जानता है, ज्ञाता दृष्टा रहता है।

[गा० ३४९ से ३५५] जैसे शिल्पी (कारीगर) कुण्डल आदि कर्म को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता है किन्तु वह कुण्डलमय नहीं हो जाता, वैसे ही जीव भी पुण्य-पाप रूप कर्म को करता है परन्तु वह पुदगल कर्ममय नहीं होता। जैसे शिल्पी हथौडा आदि के द्वारा काम करता है परन्तु हथौड़ा आदिमय नहीं हो जाता वैसे हो जीव, मन-वचन काय के व्यापार रूप योग के द्वारा कर्म को करता है किन्तु तन्मय नहीं हो जाता। जैसे शिल्पी हथौडा आदि उपकरणों को ग्रहण करता है परन्तु तन्मय नहीं होता, वैसे ही जीव योग रूप करणों को ग्रहण करता है किन्तु तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी अपने द्वारा बनाये गये कुण्डलादि फल भोगता है, परन्तु फलमय नहीं हो जाता वैसे ही जीव कर्म फल को भोगता हैं परन्तु तन्मय नहीं होता। इस प्रकार व्यवहार नय का दर्शन संक्षेप में कहा।

अब निश्चय का दर्शन सुनों। जैसे शिल्पी चेष्ठा करता है, अर्थात मन में विचारता है कि मैं इस तरह कुन्डलादि बनाता हूं और वह उस चेष्ठा से तन्मय होता है, वैसे ही जीव भी अपने परिणाम रूप कर्म करता है और वह उससे अनन्य होता है। जैसे शिल्पी उक्त चेष्ठा करता हुवा मानसिक खेद से सदा दुखी होता है और वह उस दुख से अभिन्न होता है, वैसे ही अपने परिणामों को करता हुवा जीव भी दुखी होता है।

[गा० ३७२] अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जासकती। अतः सब द्रव्य अपने अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

[गा० ३७६ से ३८२] शुभ अथवा अशुभ द्रव्य आकर तुझसे नहीं कहते कि तू मुझे देख और सुन, और आंख से देखते भी और कान से सुनते भी उसे रोका नहीं जा सकता। परन्तु तू अकल्याणमयी वुद्धिवाला वनकर, उसे स्वीकार करने या त्याग करने का विचार क्यों करता है? शान्त, मध्यस्थ क्यों नहीं वना रहता, केवल ज्ञाता द्रष्टा क्यों नहीं रहता?

[गा० ३८३ से ३८५] पूर्व में जो किया हुवा शुभ अशुभकर्म हैं, उससे जो आत्मा को निवृत्त करता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण स्वरूप है।

भविष्य में जो शुभ अशुभ कर्म जिस भाव में वन्ध को प्राप्त होगा, उस भाव से जो आत्मा को निवृत्त करता है वह प्रत्याख्यान है। वर्तमान में उदय को प्राप्त जो शुभ अशुभ कर्म है, उस दोष को जो आत्मा अनुभव करता है, वह आत्मा आलोचना है। जो सदा प्रति क्रमण करता है, प्रत्याख्यान करता है, आलोचना करता है, वह निश्चय चारित्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ३८७ से ३८६] कर्मों के फल को भोगता हुवा, जो जीव, कर्म फल को अपने रूप करता है, या ऐसा मानता है कि यह कर्मफल मैंने किया है, या सुखी दुखी होता है, वह दुख के वीज रूप आठ प्रकार के कर्म का फिर से बंध करता है।

[गा० ४०८ से ४१० व ४११] विभिन्न सम्प्रदायों के सन्यासियों या गृहस्थों के चिन्ह (लिंग) धारण करके मूढ़जन यह मान लेते हैं कि बस, यही मुक्ति का मार्ग है। परन्तु वाह्य वेष मुक्ति का मार्ग नहीं है। भगवान जिनेन्द्र ने स्पष्ट कहा है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष मार्ग है। चूंकि द्रव्य लिंग मोक्ष मार्ग नहीं है, अतः गृहस्थों और मुनियों के द्वारा गृहीत लिंग को छोड़कर मोक्ष के मार्ग दर्शन-ज्ञान-चारित्र में आत्मा को लगा द्रव्य लिंग तो स्वतः वैसा हो जायेगा मोक्ष-मार्ग में किसी लिंग की आवश्यकता नहीं।

[गा० ४१२-४१४] हे भव्य! मोक्ष मार्ग में आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर तथा उसी में सदा विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर। निश्चयनय मोक्ष-मार्ग में सब लिंगो को नहीं चाहता।

२ प्रवचनसार

१-ज्ञानाधिकार

[गा० ६] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ, जो सुख का साधक जान संयमाचरण में अनुराग होता है, उसका नाम सराग चारित्र है और पुण्य बन्ध का कारण है और वह पुण्य बंध क्लेश ही का कारण है अतः वह हेय है। शुद्ध आत्मस्वरूप स्थिति-वीत-राग रूप चारित्र से मोक्ष होता है, अतः वह उपादेय है।

[गा० ७] मोह और क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम चारित्र है और निश्चय से वही धर्म है।

[गा० ८] अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव में परिणमन होते हुवे जो भाव होता है, उसे निश्चय धर्म कहते हैं और पंच परमेष्ठी आदि की भक्ति रुपी परिणति या भाव को व्यवहार धर्म कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ११] छठे से बारह गुणस्थान तक के मुनि को चारित्र परिणत आत्मा कहते हैं। छठे गुणस्थान वाला सरागी, शुभोपयोगी है जिसका फल स्वर्ग है और सात से बारह गुणस्थान वाला शुद्धोपयोगी या वीतराग चारित्र का धारी है।

[गा० १४] शुद्धोपयोग मुख्यता बारहवें गुणस्थान में परिणत मुनि के होता है परन्तु गौणतया सातवे से बारहवें गुणस्थान तक होता हैं।

[गा० १५] आत्मा वास्तव में ज्ञान स्वभाव हैं और ज्ञान, ज्ञेय के बराबर है। इस कारण समस्त ज्ञयों के भीतर प्रवेश को प्राप्त, ज्ञान जिसका स्वभाव है, ऐसे आत्मा को आत्मा, शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही प्राप्त करता है। इसका आशय यह है कि शुद्धोपयोग से ही केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

[गाथा २०] भोजन करने की चाह छठे गुण स्थान तक ही है। यह आहार भी ज्ञान व संयम तथा ध्यान की सिद्धि के लिये होता है। केवली का शरीर परमऔदारिक है, वहां कवलाहार नहीं होता।

[गाथा २१] केवली के सब द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष हैं। वह उन सब द्रव्य पर्यायों को युगपत जानते हैं, अवग्रह आदि क्रम से नहीं।

[गाथा २३] आत्मा ज्ञान के बराबर व ज्ञान ज्ञेय के बराबर कहा गया है। ज्ञेय लोक आलोक है इसलिये ज्ञान सर्वव्यापक है।

[गाथा २७] ज्ञान गुण की अपेक्षा से आत्मा ज्ञान है अथवा सुख, वीर्य, आदि अन्य गुणों की अपेक्षा से अन्य-अन्य भी है।

[गाथा २८] आत्मा केवल ज्ञान स्वभाव वाला है और पदार्थ केवल ज्ञानी के ज्ञेय स्वरूप ही है, जैसे कि रुपी पदार्थ आंखों के ज्ञेय होते हैं, परन्तु, वे एक दूसरे में नहीं जाते।

[गाथा ३३-३४] छद्मस्थ पुरुष श्रुतज्ञान के द्वारा निज शुद्ध आत्मा का आत्मा के द्वारा अनुभव उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार केवली भगवान केवल ज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं। आत्मा अनुभव करने वाले को निश्चय से श्रुत केवली कहते हैं जबकि सम्पूर्ण द्रव्य श्रुत के जानकार को व्यवहार से श्रुत केवली कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गाथा ३७ ३८] सब द्रव्यों की भूत, वर्तमान एवं भविष्यत समस्त पर्यायें वर्तमान की भांति विशेषता से केवल ज्ञान में झलकती हैं। वे पर्यायें केवल--ज्ञान म प्रत्यक्ष होने से नियत हैं।

[गाथा ४२] जब कर्म का उदय होता है तो जो जीव मोह-राग-द्वेष से, निजशुद्ध आत्म तत्व की भावना से रहित होता हुवा नये कर्म को बांधता है। इससे यह ठहरा कि न ज्ञान बन्ध का कारण है और न कर्मो का उदय किन्तु रागादि भाव ही बंध के कारण है।

[गाथा ४६] जैसे स्फटिक मणि लाल और काले फूल के निमित्त से, लाल और काले, निजभाव से परिणित होती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मोपाधि के निमित्त से शुभ अशुभ निजभाव रूप से परिणित होती है।

[गाथा ६२] जैसे किसी चोर को कोतवाल मारने के वास्ते ले जाता है, तव चार मारण को लाचारी से भोग लेता है। ऐसे ही ज्ञानी को इन्द्रिय सुख इष्ट नहीं है तथापि चारित्र मोहनीय के उदय से मोहित होता हुवा सराग सम्यग्दृष्टि जीव, वीतराग रूप निजआत्मा से उत्पन्न सच्चे सुखकों नहीं भोगता हुवा, इन्द्रिय जनित सुख को त्याग बुद्धि से भोगता है। इसी तरह जो वीतरागी सम्यग्दृष्टि शुद्धोपयोगी है' उनको विकार रहित शुद्ध आत्मा के सुख से हटना ही उसी प्रकार दुःख रूप लगता है जिस तरह मछलियों को भूमि पर आना, तथा प्राणियों का अग्नि में घुसना दुःख रूप भासता है।

[गाथा ६४] रोग से पीडित होने वालों के लिये ही औषधि का सेवन होता है वैसे ही इन्द्रियों के विषयों के सेवन के लिये ही व्यापार दिखाई देता है। इसी से यह जाना जाता है कि उनके दुख हैं। इस प्रकार इन्द्रिय जनित सुख भी दुख रूप ही है।

[गाथा ७४, ७५, ७६] शुभ परिणाम से उत्पन्न पुण्य भी, देवपर्यन्त सभी जीवों को विषय सम्बन्धी तृष्णा ही उत्पन्न करते हैं। जहां तृष्णा है वहां सुख कहां ? तृष्णा से दुखी होकर जीव फिर विषय सुख की इच्छा करते हैं और इस प्रकार मृत्यु पर्यन्त दुख को भोगते हैं। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सुख दुख रूप ही है क्योंकि वह पराधीन है, बाधाओं से परिपूर्ण है नाशवान हैं, वन्ध का कारण है और अतृप्ति कर है।

[गाथा-७७-८८] जैसे लोहे की बेडी में और मोने की बेडी मैं, दोनों ही बंध के निमित्त होने से कोई अन्तर नहीं है, केवल मुर्ख ही सोने की बेडी में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुख मान सकता है, वैसे मिथ्या दृष्टि ही पाप-पुण्य में अन्तर मानता है, ज्ञानी नहीं। ऐसा जानकर जो राग-द्वेष को प्राप्त नहीं होता और उपयोग से शुद्ध होता है वही जीव, देह से उत्पन्न दुख का नाश करता है।

[गा० ८०] जो जीव अरहंत को द्रव्य रूप से, गुण रूप से और पर्याय रूप से जान लेता है, वही वास्तव में अपने आत्मा को जानता है क्योंकि निश्चय से अरंहत की व अपनी आत्मा में कोई अन्तर नहीं। ऐसे जीव का मोह नष्ट होता है।

[गा० ८२-१] जो साधु निश्चय व व्यवहार, दोनों रत्नत्रय के धारी हैं, वे ही प्रशंसा के योग्य हैं और पूजनीय हैं। उन्हीं को पूजना चाहिये, उन्हीं को दान देना चाहिये और उन्हीं को नमस्कार करना चाहिये।

[गा० ८६] शास्त्र स्वाध्याय से, उसे जानने से नियम से मोह समूह नष्ट होता है। इस कारण शास्त्र स्वाध्याय सम्यक् प्रकार करनेयोग्य है।

[गा० ९०-९१] जिसने स्व-पर का विवेक निश्चित किया है, ऐसे आत्मा के वास्तव में विकार को उत्पन्न करने वाले मोहांकुर पैदा नहीं होते। जैसे रेत व स्वर्ण कणों में भेद ज्ञात न होने पर, मात्र धूल धोने से स्वर्ण की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार स्वपर का ज्ञान न होने से निर्विकार आत्म तत्व को उपलब्धि नहीं होती।

२. ज्ञेयतत्व अधिकार

[गा० ९४] जो जीव पर्यायों में लीन है उसे पर-समय कहा गया है और जो जीव आतमस्वभाव में स्थित है, वे स्व-समय जानने योग्य हैं।

[गा० ९५] जो द्रव्य स्वभाव को छोड़े बिना, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुण युक्त और पर्याय सहित है, उसे द्रव्य कहते हैं।

[गा० ९८] जैसा परमात्म द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है, वैसे ही सर्व द्रव्यों को स्वभाव से सिद्ध जानना चाहिये। द्रव्य को किसी पुरुष ने नहीं रचा है और न द्रव्य का सत्तागुण ही द्रव्य से भिन्न है।

[गा० १११] द्रव्यार्थिक नय से जो आत्मा पहले ग्रहस्थ अवस्था में थी, वही पीछे जिन दीक्षा लेकर केवली हुआ, अन्य कोई नहीं, यह सत् उत्पाद है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि पुरुष की अपेक्षा नष्ट नहीं हुवा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पहली जो सराग अवस्था थी उससे बाद की केवली अवस्था पर्याय है, सो अन्य अवस्था है, वह नहीं है यह असत् उत्पाद है।

[गा० ११४] द्रव्यार्थिक नय से सब केवल द्रव्य हैं और फिर पर्यायार्थिक नय से वह सब अन्य-अन्य हैं अर्थात वस्तुओं के सामान्य विशेषात्मकपना होने से, वस्तु के स्वरूप को देखने वालों के (१) सामान्य और (२) विशेष को जानने वाली दो आंखे हैं (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक दोनों आंखों से देखना ही सर्वावलोकन है।

[गा० ११] द्रव्य (१) स्वरूप अपेक्षा अस्ति ही है। (२) पर रूप की अपेक्षा 'नास्ति' ही है। (३) स्वरूप पररूप की अपेक्षा "स्यातअवक्तव्य है" क्योंकि एक साथ नहीं वताया जा सकता। (४) स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा "अस्ति-नास्ति ही" है। (५) स्वरूप और स्वरूप पररुप की अपेक्षा "अस्ति-अवक्तव्य ही" है। (६) पररुप की और स्वरुप-पररुप की अपेक्षा "नास्ति-अवक्तव्य ही" है और (७) स्वरुप, पररुप की तथा स्वरुप-पररुप की अपेक्षा से "अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही" है। इसे सप्तभंगी कहते हैं।

[गा० १२२] परमार्थ से आत्मा अपने परिणमन रुप भावकर्म का ही कर्त्ता है किन्तु पुदगल परिणाम रूप द्रव्य कर्म का नहीं।

[गा० १२३, १२४, १२५] आत्मा चेतना रूप से परिणमित होता है और चेतना तीन प्रकार से मानी गई है। वह ज्ञान रूप, कर्मरूप और कर्मफल रूप है। उसमें ज्ञान परिणति ज्ञान चेतना, कर्म परिणति कर्म चेतना और कर्म-फल परिणति कर्म-कल चेतना कहलाती है। अनन्त ज्ञान सुखादि रूप मैं परमात्मा पदार्थ हूं तथा रागादि आस्रव को आदि लेकर सब पुदगलादि द्रव्य मुझसे भिन्न हैं इसी अर्थ-विकल्प को ज्ञान चेतना कहते हैं। जीव ने अपनी बुद्धि पूर्वक, मन-वचन काय के व्यापार से जो करना प्रारम्भ किया, वह कर्मचेतना है। यह कर्मचेतना, अशुभोपयोग शुभोपयोग और शुद्धोपयोग तीन प्रकार की है। सुख तथा दुख को कर्मफल कहते हैं, उसको अनुभव करना सो कर्मफल चेतना है। यह ज्ञान चेतना से मोक्ष का साधन करता है और कर्मचेतना अथवा कर्मफल चेतना से बंध को साधता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १२६] कुछ द्रव्य "भाव अथवा क्रिया" वाले होते हैं और कुछ केवल भाव वाले ही होते हैं। जीव व पुदगल 'भाव' व 'क्रिया' वाले हैं और शेष द्रव्य धर्म अधर्म, आकाश व काल केवल 'भाव' वाले होते हैं। जीव पुदगल में अर्थ व व्यंजन पर्याय दोनों होती हैं, शेष चारों में केवल अर्थ पर्याय होती है समय-समय होने वाली पर्याय अर्थ पर्याय है। और क्षेत्र परिवर्तन पर्याय व्यंजन पर्याय है। व्यंजन पर्याय के दो भेद हैं। स्वभाव व्यंजन पर्याय और विभाव व्यंजन पर्याय। जीव पुदगल में दोनों पर्यायें होती हैं। शेष द्रव्यों में केवल स्वभाव अर्थ पर्याय होती हैं।

[गा० १३८] जब पुदगल परमाणु आकाश के एक प्रदेश को मंदगति से उल्लघन करता है, तब उस उल्लघन किये जाने वाले प्रदेश में रहने वाला कालाणु उसमें निमित्त भूत से रहता हुवा समय पर्याय को उत्पन्न करता है और उस एक प्रदेश तक के गमन पर्यंत ही सहकारिता रूप से रहता है। कालाणु द्रव्य एक प्रदेश रूप है।

[गा० १३९] एक परमाणु जितने आकाश में रहता है, उतने आकाश को 'आकाश प्रदेश' के नाम से कहा गया है। और वह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने को समर्थ हैं।

[गा० १४१] काल के सिवाय अन्य पांचों द्रव्यों की पूर्व व उत्तर पर्यायों का उपादान-कारण तो अपना द्रव्य है परन्तु काल द्रव्य सहकारी कारण है। काल द्रव्य की पर्याय का उपादान कारण भी काल द्रव्य है और सहकारी कारण भी काल द्रव्य है। काल की पर्याय समय है।

[गा० १४५ व १४८] निश्चय से यह जीव शुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वरुपी है इस लिये ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। शेष सब पदार्थ मात्र ज्ञेय हैं और ज्ञेय का विभाग हैं। निश्चय से यह जीव स्वयं सिद्ध परमचेतन्य स्वभाव रूप निश्चय प्राण से जीता है, तथापि व्यवहार से अनादि से कर्म बन्ध के वश से आयु आदि अशुद्ध चार प्राणों से सम्बन्ध रखता हुवा जीता है। ये चार प्राण कर्म के उदय से हैं।

[गा १४९] यह अज्ञानी जीव मोहादि परिणामों से परिणमन करता हुवा पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान स्वरूप शुद्ध प्राण को घातता है, उसके पीछे दूसरे के प्राणों का घात हो या न हो, ऐसा कोई नियम नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १५३] जीव के शरीर की हर एक नये भव में कर्म कृत भिन्नता होती है, परन्तु शुद्ध बुद्ध एक परमात्मा द्रव्य अपने स्वरूप को छोड़कर भिन्न नहीं हो जाता है जैसे अग्नि, तृण, काष्ठ, पत्र आदि के आकार से भिन्न-२, आकार वाली हो जाती है, तो भी अग्नि पने के स्वभाव को अग्नि नहीं छोड़ देती है क्योंकि नरकादि पर्यायें कर्मों के उदय से होती है, इससे ये शुद्धात्मा का स्वभाव नहीं है।

[गा० १५५] आत्मा उपयोगमयी है वह उपयोग दर्शन-ज्ञान रूपहै। आत्मा का वह उपयोग शुद्ध, अशुद्ध पने से दो प्रकार होता है। उसमें शुद्ध निर्विकार है और अशुद्ध सविकार है। वह अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार हैं।

[गा० १५७-१५८] जो सिद्धो तथा अनागारों को जानता है और श्रद्धा करता है और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है, उसका उपयोग शुभ है और जिनका उपयोग विषय कषाय में मग्न है कुश्रुति, कुविचार, कुसंगति में लगा हुवा है तथा उन्मार्ग में लगा हुवा है, उसका उपयोग अशुभ है।

[गा० १५९] शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोग परिणमन न करके वीतराग होकर ज्ञान से निर्मित ज्ञान स्वरूप तथा आत्मा के शुद्ध ध्यान के विरोधी सव मनोरथों को त्याग कर ध्याता है, वह शुद्धोपयोग का लक्षण है।

[गा० १६१] जीव के साथ मन-वच-काय की एकता व्यवहार नय से माने जाने पर भी निश्चय–नय से तीनों ही, परम चैतन्यरूप प्रकाश की परिणति से भिन्न हैं वे परमाणु रूप पुदगलों के बने स्कंधरूप वर्गणाओं से वनी हैं।

[गा० १६८ से १७१] इस लोक में जितने शरीर को रोककर एक जीव ठहरता है, उस ही क्षेत्र में कर्मयोग्य पुदगल भी तिष्ठे है, जीव उन्हें कहीं बाहर से नहीं लाता। मिथ्या दर्शन, रागद्वेष आदि भावों की परिणति को जब यह जीव करता है तो उनका निमित्त पाकर वे कर्म योग्य पुदगल स्कंध आठ या सात कर्म रूप हो जाते हैं। उन्हें यह जीव अपने उपादान पने से नहीं परिणमाता। ये कर्मरूप पुदगल स्कंध ही अन्यभव में शरीर बनने के निमित्त भूत होते हैं और नौ कर्म पुदगल स्वमेव शरीर रूप परिणमित होते हैं। औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस, और कार्माण, सभी शरीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुदगल द्रव्यात्मक होते हैं। इससे निश्चय होता है कि आत्मा शरीर नहीं है।

[गा० १७५ से १७७] अनादि काल से कर्म वंध की उपाधि से यहां जीव नाना प्रकार पंचेन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों को पाकर उनमें राग-द्वेष-मोह कर लेता है और जीव के यही परिणाम भाव-वन्ध कहलाते हैं और ये ही भाव वन्ध, कर्म द्रव्य वन्ध का कारण है। कर्मों का जो स्निग्धता रुक्षता-रूप एकत्व परिणाम है सो केवल पुदगल बंध है और जीव का मोह राग-द्वेष-रूप पर्यायों के साथ, जो एकत्त्व परिणाम है सो जीव वंध है। और जीव तथा कर्म पुदगल के परस्पर परिणाम के निमित्त से जोविशिष्ट तर परस्पर अवगाह है सो उभय बंध है।

[गा० १७८] मन-वचन-काय वर्गणा के अवलम्बन से और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से जो आत्मा के प्रदेशों में सकम्पपना होता है, उसे योग कहते हैं। उस योग के अनुसार कर्मवर्गणा योग्य पुदगल काय आस्रवरूप होकर अपनी स्थिति पर्यंत ठहरते हैं तथा अपने उदय काल को पाकर फल देकर उड़ जाते हैं तथा रागादि का निमित्त पाकर फिर द्रव्य बंध रूप से बंध जाते हैं।

[गा० १८१] अपने शुद्धात्मा से भिन्न सर्व शुभ व अशुभ भाव हैं। शुभभाव पुण्य है, अशुभ भाव पाप है, शुद्ध भाव मोक्ष का कारण है। मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र कमती-२ अशुभ परिणाम है। अविरत सम्यकत्त्व, देशविरत व प्रमतसंयम, कमती-२ शुभ परिणाम हैं। अप्रमत्त गुणस्थान से क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान तक तारतम्य से शुद्धोपयोगी कहा गया है।

[गा० १८४] यह आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरणीय आदि पौदगलिक कर्मों का कर्त्ता है, परन्तु अशुद्ध निश्चयनय से रागादिभावों का कर्ता है और शुद्ध निश्चयनय, से शुद्ध चेतन भावों का कर्ता है।

[गा० १८८] जैसे वस्त्र लोंध, फिटकरी आदि द्रव्यों से कषायला होकर अभेदनय से लाल वस्त्र कहलाता है वैसे ही वस्त्र के स्थान में यह आत्मा लोधादि द्रव्य के स्थान में मोह-राग-द्वेषों से परिणमन करके मजीठ के स्थान में कर्म पुदगलों से बंधा हुवा, वास्तव में कर्म से भिन्न है तो भी अभेदोप-चार लक्षण असदभूत व्यवहार से बंध रूप कहा जाता है।

[गा० १९१] सब चेतन, अचेतन पर द्रव्यों में अपने स्वामीपने के सम्बन्ध को मन, वच, काय व कृत, कारित, अनुमोदना से, अपने स्वात्मानुभव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्षण निश्चय नय के द्वारा पहले ही दूर करके, सब भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म से रहित है, इस तरह अपने आत्मा के ध्यान में ठहरकर चिन्तन करता है. वह परमात्मा का ध्याने वाला होता है और उसी परमात्म ध्यान से वह ज्ञानी उसी परमात्मा अवस्था को पाता है क्योंकि यह नियम है जैसा उपादान कारण होता है, वैसा कार्य होता है। अतः शुद्ध निश्चयनय के विषय का ध्यान करने से ही शुद्ध आत्मा का लाभ होता हैं।

[गा० १९४-१९५-१९६] दर्शन मोह के नाश से फिर चारित्र मोह रूप राग द्वेषों को विनाश करके, सुख-दुख में माध्यस्थ लक्षणधारी, मुनिषद में जो ठहरता है, उसी से अक्षय सुख का लाभ होता है।

[गा० १९९] सभी सामान्य, चरमशरीरी, तीर्थंकर और अचरम शरीरी मुमुक्ष इसी शुद्धात्म तत्त्व प्रवृति लक्षण विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करते सिद्ध हुवे, किसी दूसरी विधि से नहीं, इसलिये निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं।

[गा० २००] प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूं, केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के समस्त पदार्थों के साथ भी महज ज्ञेयज्ञायक लक्षण सम्बन्ध ही है, अन्य स्वस्वामि आदि लक्षण सम्बन्ध नहीं है। इसलियें मेरा किसी से ममत्व नहीं है।

३. चरणानुयोग चूलिका अधिकार

[गा० २०१-२०२] यदि दुखों से मुक्त होने की इच्छा है तो पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करके मुनि धर्म को अंगीकारकर। बंधुवर्ग से पूछकर, बड़ों से तथा स्त्री और पुत्र से मुक्त होता हुवा, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करके विरक्त हो।

[गा० २०४] व्यवहार नय से नग्नपना यथा जात रूप है और निश्चयनय से अपने आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है, वह यथा जात रूप है। साधु इन दोनों को धारण करके निर्ग्रन्थ होता है।

[गा० २०५-२०६] साधु के वहिरंग और अंतरंग दो लिंग बतलाये हैं। वहिरंग लिंग इस प्रकार हैं:— (१) जन्म के समय के रूप जैसा रूपवाला, (२) सिर और डाढ़ी के बालों का लोच किया हुवा (३) परिग्रह रहित (४) हिसादि रागद्वेष से रहित (५) शारीरिक संस्कार से रहित। अंतरंग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिंग इस प्रकार हैं:— (१) मूर्च्छा और आरम्भ रहित (२) स्वसंवेदन धारी उपयोग एवं निर्विकल्प समाधिमई योग (३) पर की अपेक्षा से रहित।

[गा० २०७-२०९] साधु के मूल गुण—५ महाव्रत, ५ समीति ५ इन्द्रिय रोध, ६ आवश्यक और नग्नता, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधोवन, खड़े-खड़े भोजन, एक वार आहार और केश लौच। इस प्रकार २८ मूल गुण होते हैं। जब निश्चय आत्म स्वभाव में नहीं होते तो इनका पालन करते हैं।

[गा० २११-२१२] संयम का छेद दो प्रकार का है, वहिरंग और अंतरंग। उसमें मात्र काय चेष्ठा सम्वन्धी वहिरंग छेद हैं और उपयोग सम्वन्धी अंतरंग छेद है। यदि काय चेष्ठा में संयम का वहिरंग छेद होता है तो उसका आलोचनापूर्वक क्रिया से ही प्रतीकार हो जाता है और यदि उपयोग सम्वन्धी छेद होता है तो आचार्य को वताकर प्रायश्चित ग्रहण करना होता है।

[गा० २१३] जिस साधु ने गुरु से शास्त्र पढ लिये हैं वह गुरु की आज्ञा लेकर, निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय की भावना से, तप, शास्त्र, वीर्य, एकत्त्व और संतोष, इन पांच प्रकार की भावनाओं को भाता हुवा तथा तीर्थंकर, परमदेव, गणधर देव आदि महान पुरुषों के चरित्र का चिन्तन करता हुवा और दूसरों को प्रकाशित करता, विहार करता है।

[गा० २१५] साधु,-शरीर की स्थिति के लिये प्रासुक आहार, इन्द्रियों के अभिमान को विनाश के लिये उपवास, परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के लिये सहकारी कारण पर्वत की गुफा आदि वस्तिका में, एवं विहार में, शास्त्र-कमंडल-पिच्छी आदि में ममत्त्व न करते हुवे, विकथा में ममत्त्व न करते हुवे विचरते हैं। आशय यह है कि साधु, भुक्त, क्षपण, श्रृंगार व राग द्वेष की कथा, एवं श्रमण आदि में ममत्त्व नहीं करते। आगम के विरुद्ध आहार विहार का तो पहले ही निषेध था, अव साधू को अवस्था में योग्य आहार विहार आदि में भी ममता नहीं करते।

[गा० २१७-२१८] जीव मरो या न मरो, जो यत्न पूर्वक आचरण से रहित हैं, उसके निश्चय से हिंसा है। समीतियों में जो प्रयत्नवान हैं उसके द्रव्य हिंसा मात्र से वन्ध नहीं होता आशय यह है कि जव आत्म स्वभाव रूप निश्चय प्राण का धात होगा, तव निश्चय हिंसा ही मुख्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अयत्नाचार वाला साधु, छहोंकाय बंध करने वाला माना गया है, यदि हर समययत्न रूप आचरण करे तो जल में कमल की तरह, निर्लेप कहा है।

[गा० २१९ व २२०] काय चेष्ठा पूर्वक जीव के मरने पर बंध होता है अथवा नहीं भी होता किन्तु परिग्रह से निश्चय ही बंध होता है, इसलिये साधुओं ने सर्व परिग्रह छोड़ा है। मूर्छा-परिग्रह से अवश्य बंध होता है। जैसे वाहर का छिलका रहते हुवे, चावल की भीतरी शुद्धि नहीं होती इसी तरह विद्यमान परिग्रहों में मात्र विद्यमान परिग्रहों में जो अभिलाषा है, उसके होते, निर्मल शुद्धात्मा के अनुभव को करने वाली चित्तशुद्धि नहीं हो सकती। जब विशेष वैराग्य के होने पर सब परिग्रह का त्याग होगा। तब भावों की शुद्धि अवश्य होगी ही, परन्तु यदि प्रसिद्धि, पूजा, या लाभ के निमित्त त्याग है, तो चित्त की शुद्धि नहीं होगी।

[गा० २२४] जिनेन्द्र ने मोक्ष की प्राप्ति के अभिलाषी साधु को शरीरमात्र भी जब परिग्रह कहा है, तब और परिग्रह का तो प्रश्न ही कहां है? शुद्धो-पयोगी लक्षणमई परमउपेक्षा संयम के बल से देह में भी ममत्व नहीं करना चाहिये, तब वीतराग संयम होगा।

[गा० २२४/१ से २२४/११] स्त्रियों का वस्त्र सहित लिंग, निर्गन्थ लिंग से भिन्न है। स्त्रियों को नरकादि से भिन्न सिद्ध की अवस्था, उसी जन्म से नहीं हो सकती। स्वभाव से स्त्रियों की परिणति प्रमादमई है और उनके चित्त में निश्चय से, मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा माया होती है, इसलिये उनको निर्वाण नहीं हो सकता। उनका शरीर से वृतरूप नहीं है इसी लिये वस्त्र से आच्छादन किया जाता है। स्त्रियों में काम की तीव्रता होती है, तथा उनके शरीर में सूक्ष्म लब्ध प्रर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति होती रहती है। पुरुषों में ये दोष यदि एक कणिका मात्र है तो स्त्रियों में ये दोष रुपी विष सर्वथा मौजूद हैं। यदि स्त्री सम्यक्दृष्टि भी हो, शास्त्र ज्ञान से संयुक्त हो, और घोर चारित्र को भी आचरण करे, तो भी उसे सब कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती। जैसे प्रथम सहंनन वज्रवृषभनाराच न होने के कारण सातवे नरक नहीं जा सकती वैसे ही निर्वाण को प्राप्त नहीं हो सकतीं। स्त्रियों के अंत के ही तीन होते हैं, जिससे वह मुक्ति प्राप्त नही कर सकती। उनका १६ वें स्वर्ग से ऊपर और छठे नरक से नीचे गमन नहीं हो सकता।

[गा० २२५] यथा जात रूप लिंग, गुरुवचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन मार्ग में उपकरण कहे गये हैं। अन्य कमण्डलु आदि उपकरण व्यवहार से कहे हैं।

[गा० २२९] चौबीस घंटे में एक वार, उनोदर, यथालब्ध, भिक्षाचरण, से दिन में, रस की अपेक्षा से रहित और मधु मांस रहित, यह आहार, साधु का युक्त आहार है।

[गा० २३०-२३१] अपने शुद्ध आत्मा से अन्य सर्वभीतरी व बाहरी परिग्रह का त्याग दे सो उत्सर्ग है इसी को निश्चय से मुनि धर्म कहते हैं। इस निश्चय मार्ग में जो ठहरने को समर्थ न हो तो, वह शुद्ध आत्मा की भावना के सहकारी, कुछ भी प्रासुक आहार, ज्ञान का उपकरण शास्त्रादि को ग्रहण कर लेता है, यह अपवाद मार्ग है। इसी को व्यवहार से मुनि धर्म कहते हैं। साधु उत्सर्ग की उपेक्षा न करके, अपवाद मार्ग को त्याग कर शुद्धात्मा की भावना रूप व शुभोपयोग रूप संयम की विराधना न करता हुवा, औषधि पथ्य आदि के निमित्त अल्प कर्मवन्ध होते हुवे भी बहुत गुणों से पूर्ण, उत्सर्ग की अपेक्षा सहित, अपवाद को स्वीकार करता है। जिससे चित्त में आर्त्त ध्यान से संक्लेश भाव न आवे और दुर्गति न हो।

[गा० २३२-२३३] परमात्मतत्त्व को सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से तन्मयता को एकाग्रता कहते हैं। उसे जो प्राप्त होता है वह श्रमण है। लोक के जीवादि पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है। इस प्रकार आगमों का अभ्यास का उद्यम करना श्रेष्ठ है। शास्त्र ज्ञान से रहित साधु न तो आत्मा को और न पर को जानता है। परमात्मा आदि पदार्थों को न जानता हुवा साधु किस तरह कर्मो का क्षय कर सकता है. अर्थात नहीं कर सकता। अतः साधू (१) गुण स्थान (२) जीव समास (३) प्रर्याप्ति (४) प्राण (५) संज्ञा (६) गति मार्गणा (७) इन्द्रिय मार्गणा (८) काय मार्गणा (९) योग मार्गणा (१०) वेद मार्गणा (११) कषाय (१२) ज्ञान (१३) संयम (१४) दर्शन (१५) लेश्या (१६) भव्य (१७) सम्यकत्व (१८) संज्ञी (१९) आहार और (२०) उपयोग मार्गणा को प्ररुपण करने वाले आगम को जाने।

[गा० २३४-२३५] साधु का चक्षु आगम है, सव प्राणियों के चक्षु इन्द्रियां है देवों का चक्षु अवधि ज्ञान है और सिद्ध सर्व चक्षु वाले हैं। अतः साधु को सब कुछ आगम चक्षु द्वारा ही देखना चाहिये। आगम चक्षु के द्वारा परम्परा से सर्व ही प्रत्यक्ष दिख जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २३६-२३७-२३८] परमागम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान, और संयमपना, तीनों ही एक साथ मोक्ष के कारण है। इन तीनों में से दो का एक से निर्वाण नहीं हो सकता, किन्तु तीनों से ही एक साथ होता है। इसके अलावा आगम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान और संयम तत्त्व की भेद रूप युगपत्तत्ता होने पर भी अभेद रूप आत्म ज्ञान को ही मोक्ष का साधक कहा है।

इसका भावार्थ है कि पहले जिनवाणी का स्वाध्याय करके सात तत्त्वों को जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिये, तथा फिर विषय कषाओं को घटाने को मुनिया ग्रहस्थ के योग्यव्रत का पालन करना चाहिये। फिर परमात्मा का ज्ञान, श्रद्धान करके, उनके ध्यान का अभ्यास करना चाहिये और फिर अपने ही आत्मा को निश्चय से शुद्ध परमात्मा जान उसी की भावना भानी चाहिये। उसके वाद फिर विकल्प रहित स्वानुभव प्राप्त करना चाहिये, यही आत्म ज्ञान हैं।

[गा० २४५] अपने शुद्धात्मा की भावना के बल से, जिनके सर्व शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों की शून्यता है, उन शुद्धोपयोगी साधुओं के कर्मो का आस्रव नहीं होता है, परन्तु शुभपयोगी साधुओं के मिथ्यादर्शन व विषय कषाय रूप अशुभ आस्रव के रुकने पर भी पुण्यास्रव होता है। इस प्रकार शुद्धोपयोग में परिणमित साधु की मुख्यता है।

[गा० २५२] रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा थकावट से पीडित श्रमण को देखकर, साधु अपनी शक्ति अनुसार वैयावृत्य करें।

[गा० २५५] जैसे एक ही बीज होने पर भी, भूमि की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है, उसी प्रकार प्रशस्तराग स्वरूप शुभोपयोग, वही का वही होता है परन्तु जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट पात्र की अपेक्षा भिन्न भिन्न फल देता है।

[गा० २५६] व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दान रत रूप से युक्त शुभोपयोग का फल मोक्ष शून्य केवल अधम पून्य की प्राप्ति है। जिससे सातामयी अवस्था देव वा मनुष्य को प्राप्त होता है।

[गा० २५७] जिन पात्रों के या साधुओं के परमात्मतत्त्व का ज्ञान श्रद्धान नहीं है, जो विषय कषायों के अधीन होने के कारण, निर्विकार शुद्धात्मा के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप की भावना से रहित है, उनकी भक्ति के फल से नीच देव तथा नीच मनुष्य हो सकता है।

[गा० २६४] यदि साधु संयम भी पालता हो, तप भी करता हो, शास्त्र ज्ञान सहित भी हो, परन्तु तीन मूढ़ता आदि सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों से रहित होकर, जिनेन्द्र के कहे अनुसार पदार्थ समूह का श्रद्धान न करता हो, वह श्रमण नहीं, मिथ्यादृष्टि है।

[गा० २६८-२६९] जैसे अग्नि के संसर्ग से जल उष्ण अर्थात विकारी हो जाता है, उसी प्रकार मुनि भी कुसंगति से विकारी अवश्य होता है। इस लिये लौकिक संग मुनि के लिये सर्वथानिषेध्य है। यदि मुनि अपनी प्रसिद्धि वडाई व लाभ बढ़ाने के कारण, ज्योतिषि, कर्म, मंत्र, यंत्र, तंत्र, वैद्यक आदि लौकिक व्यापारों को करता है, तो वह द्रव्य संयम व तप करता हुवा भी लौकिक है।

[गा० २७४] शुद्धोपयोग ही मोक्ष का कारण है। शुद्धोपयोगी के ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है और उसी का मोक्ष होता है। अतः सब मनोरथ त्याग कर, इसी शुद्धोपयोग की ही भावना करना योग्य है।

उपसंहार

शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा, यह आत्मा उपाधिरहित, स्फटिक मणि के समान, सब राग-द्वेषादि विकल्पों की उपाधि से रहित है। वही आत्मा अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा उपाधि सहित स्फटिक मणि के समान, सब राग-द्वेषादि विकल्पों के सहित है। वही आत्मा शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से केवल ज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधारभूत है। वही आत्मा अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय से मतिज्ञान आदि विभाव गुणों का आधार भूत है। वही आत्मा अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय से परमऔदारिक शरीर में वीत-राग सर्वज्ञ की तरह एक शरीर में स्थित है वही आत्मा उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय से, समवशरण में स्थित वीतराग सर्वज्ञ के समान किसी विशेष ग्राम गृह आदि में स्थित है, इत्यादि परस्पर अपेक्षा रूप अनेक नयों के द्वारा जाना हुवा या व्यवहार किया हुवा, यह आत्मा अमेचक स्वभाव की दृष्टि से विविक्षत एवं स्वभाव में व्यापक होने से एक स्वभाव रूप है। इस तरह नय, प्रमाणों के द्वारा तत्त्व के विचार के समय में जो कोई परमा-त्म द्रव्य को जानता है, वही निर्विकल्प समाधि के प्रस्ताव में या अवसर में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्विकार, स्वसंवेदन ज्ञान से भी परमात्मा को जानता है अर्थात् अनुभव करता है।

जैसे पूर्ण मासी के दिवस समुद्र अपने जल की तरंगों से अत्यन्त क्षोभित होता है, इस तरह रागद्वेष मोह की कल्लोलों से यह जीव जब तक अपने निश्चल स्वभाव में न ठहरकर, क्षोभित या आकुलित होता रहता है, तब तक अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं प्राप्त करता है।

जैसे सर्वज्ञ-कथित उपदेश पाना दुर्लभ है वैसे ही एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय-संज्ञी, पर्याप्त मनुष्य, उत्तम देश उत्तम कुल, उत्तम रूप, इन्द्रियों की विशुद्धता, बाधारहित आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सच्चे धर्म का सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, उसका श्रद्धान करना, संयम का पालना, विषयों के सुख से हटना, क्रोधादि कषायों से बचना आदि परम्परा दुर्लभ सामग्री को भी कंथचित काकतालीन्याय से प्राप्त करके, अभेद रत्न-त्रय निर्विकल्प समाधि से, अमावश के दिन समुद्र की तरह क्षोभ रहित होता और अपने शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करता है। यही सब शास्त्रो का सार है।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३-नियमसार

(१) जीवाधिकार

[गा० २] जिन शासन में मार्ग और मार्ग का फल ऐसे दो भेद हैं। इसमें मोक्ष प्राप्ति का उपाय, सो तो मार्ग है और निर्वाण की प्राप्ति, उस मार्ग के सेवने का फल है।

[गा० ३] नियम करके जो करने योग्य हो, सो नियम है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र ही नियम है, इससे विरुद्ध कोई नियम नहीं है। इसीलिये निश्चय करके सार, ऐसा नियमसार वचन कहा है।

[गा० ५] आप्त, जिनवाणी तथा आगम में वर्णित तत्त्व इन तीनों के श्रद्धान से व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है।

[गा० ६] आप्त-क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म और आकुलता, इन १८ दोषों से रहित होता है।

[गा० ८] आप्त के मुख से निकले हुवे वचन, पूर्वा पर दोष रहित हैं और शुद्ध है उसे ही जिनवाणी अथवा आगम कहां है। इसी आगम में तत्त्वों के अर्थों का वर्णन किया गया है।

[गा० ९] जीव पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे छः द्रव्य कहे हैं, ये गुण और पर्यायों सहित है।

[गा० १०] जीव उपयोग मय है, उपयोग-ज्ञान दर्शन के भेद से दो रूप है, ज्ञानोपयोग, स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान, दो रूप हैं।

[गा० ११-१२] केवल ज्ञान, स्वभाव ज्ञान है। विभाव ज्ञान, संज्ञान व अज्ञान दो रूप है। संज्ञान-मति, श्रुत, अवधि तथा मन पर्याय चार रूप है। अज्ञान-कुमति, कुश्रुत तथा कुवधि रूप तीन प्रकार हैं।

[गा० १३] इसी प्रकार दर्शनोपयोग दो प्रकार हैं। स्वभाव दर्शनोपयोग और विभाव दर्शनोपयोग। जो दर्शन, इन्द्रियों के व्यापार रहित असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग है और जो इन्द्रियों की सहायता से होता है वह विभाव दर्शोंपयोग है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १४] पर्याय दो प्रकार हैं:- एक स्वपरापेक्ष ओर दूसरी निरपेक्ष अथवा विभाव पर्याय और स्वभाव पर्याय ।

[गा० १५] नर, नारक, पशु और देव, ये चार मुख्य विभाव पर्याय हैं जो पर्याय कर्मों की उपाधि रहित है, वे स्वभाव पर्याय है ।

[गा० १६-१७] मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, कर्मभूमिज और भोगभूमिज । नार की ७ प्रकार के, तिर्यंच १४ प्रकार, देव चार प्रकार के होते हैं ।

[गा० १८-१९] निश्चय नय अथवा शुद्ध नय से यह जीव सब पर्यायों से भिन्न शुद्ध है, अशुद्ध निश्चय नय से कर्म से उत्पन्न हुवे भावों का कर्त्ता, भोक्ता है, और व्यवहार नय से पुदगल कर्म का कर्त्ता व भोक्ता है ।

(२) अजीवाधिकार

[गा० २०] पुदगल द्रव्य के दो भेद हैं एक अणु और दूसरा स्कंध । अणु दो प्रकार है और स्कन्ध छः प्रकार हैं । अणु स्वभाव पुदगल है और स्कन्ध विभाव पुदगल है । स्वभाव पुदगल अणु के दो भेद हैं:— एक कार्यपरमाणु और दूसरा कारण परमाणु । स्कन्ध के, पृथ्वी, जल, छाया, रुपी पदार्थ, कार्माण योग्य पुदगल वर्गणा और कर्म अयोग्य पुदगल वर्गणा ।

[गा० २१ से २४] विभाव पुदगल (१) स्थूल-स्थूल-जैसे पर्वत पृथ्वी आदि (२) स्थूल-जैसे घी तेल, मठा, दूध जल आदि (३) स्थूल-सूक्ष्म-जैसे छाया आतप, अंधकार आदि (४) सूक्ष्म-स्थूल- जैसे शब्द, स्पर्श, रस, गंध आदि (५) सूक्ष्म- जैसे कार्माण वर्गणाये (६) सूक्ष्म- सूक्ष्म कार्माण वर्गणाओं से भी सूक्ष्म ।

[गा० २७] पुदगल का गुण एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श इस प्रकार पांच गुण पुदगल के स्वाभाविक गुण हैं ।

[गा० २९] निश्चयनय से परमाणु को पुदगल द्रव्य कहते हैं । व्यवहार नय से स्कन्ध को भी पुदगल द्रव्य कहा जाता है ।

[गा० ३१] एक परमाणु मंद गति से जितने काल में एक प्रदेश को लांघ जाता है उसे **'समय'** कहते हैं । असंख्यात समयों की एक **आवली** होती है । आठ आवली (निमेष) की एक **काष्ठा** होती है । १६ काष्ठों का एक **कला**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है। ३२ कलाओं की एक घटिका होती है। ६० घटिका का एक दिन रात होता है। ३० दिन रात्रि का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है। तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयन का एक संवत्सर अर्थात वर्ष होता है। इस प्रकार व्यवहार काल है।

[गा० ३२] जीवों से पुदगल अनन्तगुणे हैं, वैसे ही पुदगल से अनन्तगुणे काल के समय है। जो कालाणु लोकाकाश में तिष्ठे हैं वे कालाणु परमार्थ अर्थात निश्चय काल है।

[गा० ३३] जीवादि द्रव्यों की पर्यायों का कारण काल द्रव्य है। धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्यों की स्वभाविक पर्यायें होती हैं जबकि जीव, पुदगल की दोनों पर्यायें होती हैं।

[गा० ३४] काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं क्योंकि निश्चय करके इनके बहु प्रदेशीपना है।

[गा० ३५-३६] पुदगल के संख्यात, असंख्यात, व अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म तथा एक जीव के अंसंख्यात प्रदेश हैं। लोकाकाश के भी असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश है। काल द्रव्य में एक ही प्रदेश होता है।

[गा० ३७] पुदगल द्रव्य मूर्तिक है। अन्य शेष मूर्ति रहित है। जीव चैतन्यवान है। शेष द्रव्य चैतन्य गुण से रहित हैं।

(३) शुद्ध भावाधिकार

[गा० ३८] जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं। एक शुद्धआत्मा कारणपरमात्मा ही उपादेय है। यह आत्मा कर्म की उपाधि से पैदा होने वाले गुण पर्याय से भिन्न है। यह औदायिक, ओपशमिक, क्षयोपशमिकऔर क्षायक, चारों भावों से अगोचर होने से, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, राग द्वेषादि भाव कर्म, बास्य शरीरादि नो कर्म आदि रूप जो उपाधि, उससे उत्पन्न हुवे जो विभाव गुण और विभाव पर्याय, उनसे रहित है। जो शुद्ध, सहज, पारिणामिक भाव कारण परमात्मा है। ऐसा आत्मा ही उपादेय है।

[गा० ४२] यह कारण परमात्मा, आत्मा, नित्य, शुद्ध, चिदानन्द रूप है, कारण परमात्मा स्वरुप है, इसी के ध्यान से परमात्मा होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४३ से ४६] इस कारण परमात्मा जीवास्तिकाय के, न क्षायिक भाव है, न क्षयोपशम भाव हैं, न औदायिक भाव हैं, न उपशम भाव हैं, इसका न चार गतियों में भ्रमण है, न इसके जरा, न जन्म, न मरण, न शोक, न कुल, न योनि, न जीवसमास और न मार्गणास्थान हैं । यह दंड रहित है, द्वन्द रहित है, ममकार रहित है, शरीर रहित है, राग रहित है, दोष रहित है मूढ़ता व भय रहित है । यह निर्ग्रन्थ है, वीतराग है, निशल्य: है, काम रहित है, मान और मद रहित है, कोई संहनन नहीं है ।

[गा० ४७-४८-४६] शुद्ध निश्चय नय से जैसे सिद्ध आत्मा है, वैसे ही संसार में लीन जीव हैं। जो भिन्न-भिन्न भाव, जीव के बताये हैं वे व्यवहार नय से हैं । शुद्ध निश्चय से संसार के अन्दर सब ही जीव सिद्ध भगवान के समान शुद्ध हैं ।

[गा० ५१-५५] मिथ्या अभिप्राय से रहित श्रद्धान सम्यक्त है, संशय, विमोह विभ्रम से रहित ज्ञान, सम्यग्ज्ञान है , हेय और उपादेय तत्त्वों को जानना ज्ञान है । सम्यक्त होने में अंतरंग कारण दर्शन मोहनी का क्षय, क्षयोपशप अथवा उपशम है। सम्यक्त और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक्-चारित्र मोक्ष का कारण है ।

(४) व्यवहार-चारित्राधिकार

[गा० ५६] कुल स्थान योनिस्थान, जीव समास, संस्थान, मार्गणास्थान, इत्यादि जीवों के ठिकानों को जान, उनमें आरम्भ करने से हटने का जो परिणाम, वह अहिंसा व्रत है ।

[गा० ५७] जब जीव, राग से द्वेष से, व मोह से झूठ बोलने के परिणाम को छोड़ता है, तव ही सत्य व्रत होता हैं ।

[गा० ५८] दूसरे की पड़ी वस्तु देखकर, उसके उठा लेने का परिणाम का जव त्याग हो जाता है, तो अचौर्य व्रत होता है ।

[गा० ५६] जो स्त्री के रूप को देखकर भी मैथुन संज्ञा से रहित भाव को प्राप्त होता है, उसे ब्रह्मचर्य व्रत होता है ।

[गा० ६०] जो वांछा रहित भावना के साथ सर्व ही परिग्रहों को त्यागता है, वह अपरिग्रह व्रत है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ६१] जो साधु प्रासुक मार्ग से दिन में चार हाथ प्रमाण आगे पृथ्वी को देखता गमन करता है, वह इर्य्या-समिति है।

[गा० ६२] दुष्टता के, हास्य के, कठोर तथा पर की निन्दा तथा आत्म प्रशंसा के वचनों को त्याग, जो अपने व दूसरे के हित रूप वचन होते हैं, वह भाषा-समिति है।

[गा० ६३] जो कृत, कारित, अनुमोदना, इनको त्यागकर प्रासुक, शुभ, और श्रावक द्वारा भक्ति से दिये हुवे आहार को समभाव से ग्रहण करें, वह एषणा-समिति है।

[गा० ६४] पुस्तक, कमंडुल, पीधी आदि के उठाने, धरमें जोयत्न करने रूप परिणाम, सो आदान-निक्षेपणा समिति है।

[गा० ६५] जो साधु जीव जंतु प्रासुक जमीन में, जो जीव रहित हो और अन्य द्वारा रोकने योग्य ना हो, ऐसे स्थान पर मल-मूत्रादि त्याग है, वह प्रतिष्ठापना समिति है।

[गा० ६६] कलुषपना, मोह, अभिलाषा, राग-द्वेष आदि अशुभभावों का जो त्याग, उसे व्यवहार से मनोगुप्ति कहते हैं।

[गा० ६७] पापबन्ध की कारण स्त्री कथा, राजकथा, चोर कथा तथा भोजन कथा, इन ४ कथाओं रूप वचनों का त्याग सो वचन गुप्ति है।

[गा० ६८] बंधन, छेदन, मारन, संकोचन, विस्तारन आदि शरीर की क्रियाओं को न करना, सो काय गुप्ति है।

[गा० ६९-७०] मन से रागादि भावों को दूर करना मनोगुप्ति, मौन रहना वचन गुप्ति एवं शरीर के ममत्व भाव को छोड़कर काय की सम्पूर्ण क्रियाओं को छोड़ना काय गुप्ति ऐसा निश्चय से है।

[गा० ७१] जो सम्पूर्ण धातिया कर्मों से रहित है, केवल ज्ञान गुण के धारी हैं। चौतीस आतिशयवान है, वे अरहंत कहलाते हैं।

[गा० ७२] जिन्होने आठों कर्मों का नाश कर दिया है, जो आठ महागुण सहित है, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, अविनाशी है, वे सिद्ध है।

[गा० ७३] जो दर्शन ज्ञान चारित्र तप और वीर्य, ऐसे पांचों आचारों से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिपूर्ण हैं, पंचेन्द्रिय रुपी हाथीयों के मद को दलन करने वाले हैं, जो धीर हैं, गुणों में गम्भीर हैं, वे आचार्य हैं ।

[गा० ७४] जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जिनेन्द्र भगवान प्रणीत पदार्थों के उपदेशक हैं, जो इच्छा रहित ऐसे भाव-सहित है, वे उपाध्याय है ।

[गा० ७५] जो सर्व व्यापार से रहित हैं, चार प्रकार, आराधना में सदा लवलीन हैं, जो निर्गन्थ और मोहरहित है, वे साधु हैं ।

[गा० ७६] उपरोक्त सब कथन व्यवहार नय से हैं ।

(५) परमार्थ-प्रतिक्रमणाधिकार

[७७ से ८१] इन गाथाओं में बतलाया है कि शुद्ध आत्मा, कारण समय-सार में सब प्रकार के कर्त्तव्य भाव का अभाव है, सब पर्यायों का अभाव है । वह शुद्ध निश्चय के बल से शुद्ध जीवास्तिकाय है । वह शुद्ध पारिणा-मिक भाव को धारण करने वाला है, शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, सहज चैतन्यमयी शक्ति का धारी है । जो भव्य जीव इस प्रकार सर्व-विभाव पर्यायों के भाव को त्यागकर, अपने आत्मीक भाव में लीन करता है, वह सब विभावों को त्यागकर मोक्ष को पाता है ।

[गा० ८२] भेद विज्ञान से ही क्रम-क्रम से निश्चय चारित्र होता है ।

[गा० ८३-८४] वचन की रचना को छोड़कर, राग-द्वेषादि भावों का निराकरण करके, जो आत्मा को ध्याता है, वह प्रतिक्रमण है । जो अपनी आत्मा में ठहरा हैं, उसी जीव के प्रतिक्रमण कहलाता है ।

[गा० ८७] जो मुनि, तीनों शल्यों (माया, मिथ्या, निदान) को छोड़कर विषयों से विमुख होता है, उसी के निश्चय से प्रतिक्रमण होता है ।

[गा० ८९] जो साधु आर्त्त तथा रौद्र ध्यान को छोड़कर, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को ध्याता है, उसे ही प्रतिक्रमण होता है ।

[गा० ९२-९३] जो साधु आत्मा में ही स्थित रहकर, ध्यान करता है, वह उत्तम प्रतिक्रमण है । जो साधु ध्यान में लवलीन है, वह सब दोषों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याग कर देता है। अतः ध्यान ही अतीचारों का प्रतिक्रमण करने वाला है।

(६) निश्चय-प्रत्याख्यानाधिकार

[गा० ९५] जो सर्व वचन जाल को त्याग कर, आगामी सर्व शुभ, अशुभ भावों को व द्रव्य एवं भाव कर्मों का संवर करता है और आत्मा का ही ध्यान करता है, उसी के निश्चय प्रत्याख्यान हैं।

[गा० ९८] यह आत्मा निश्चय से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध, ऐसे चार प्रकार बंधों से रहित हैं, जो ऐसा है, वही मैं हूं, इस तरह चिन्तन करता वह भव्य अपने भाव को स्थिर करता है।

[गा० १००] निश्चय करके मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन में आत्मा है, चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान अर्थात त्याग में आत्मा हैं, तथा मेरे संवर और उपयोग में आत्मा है, ऐसा चितवन करो।

[गा० १०२] मेरा आत्मा एक, अविनाशी है, ज्ञान दर्शन लक्षण का धारी है। मेरे आत्मीक भाव के सिवाय अन्य सब भाव मुझ से बाहर है, संयोग लक्षण हैं अर्थात पर संयोग से उत्पन्न हुवे हैं।

[गा० १०३] जो कुछ मेरा दुष्ट रूप चरित्र है, उस सबको मैं मन-वचन-काय से त्यागता हूं तथा तीन प्रकार से निराकार सामायिक करता हूं। तीन प्रकार सामायिक भेदोपचार रूप व्यवहार चारित्र, अभेदोपचार रूप चारित्र शुद्धात्मा की भावना, और अभेद अनुपचार रूप चारित्र, स्वभाव में निश्चल स्थिति।

[गा० १०४] सर्व प्राणियों में मेरे समता भाव है, तथा किसी के साथ भी मेरा वैरभाव नहीं है। निश्चय करके, आशा को त्याग करके समाधिभाव को प्राप्त होता हूँ।

[गा० १०६] जो जीव और कर्मों के भिन्नपने, भेद का अभ्यास नित्य करता है, वही संयमी प्रत्याख्यान को धारण करता है।

(७) आलोचनाधिकार

[गा० १०७] जो मुनि आत्मा को द्रव्य कर्म, भाव कर्म तथा नो कर्म और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्यायों से रहित, करके ध्याता है, उसी के आलोचना होती है।

[गा० १०८ से ११२] आगम में आलोचना का लक्षण, आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण तथा भाव शुद्धि, इन चार प्रकार कहा है। जो सगताभाव में अपने परिणाम धर कर अपने आत्मा को देखता है, उसके **आलोचन** जानो। अपने ही आत्मा का जो स्वाधीन और समताभाव रूप परिणाम, सो **आलुंछन** है। कर्मों से भिन्न निर्मल गुण का स्थान जो आत्मा, उसको जो वीतराग भावना में लीन होकर भावता है उसे **अविकृतिकरण** जानो। मद, मान, माया और लोभ, इन चारों कषायों से रहित जो भाव, उसको भाव शुद्धि कहते हैं।

(८) शुद्धनय-प्रायश्चित अधिकार

[गा० ११३] व्रत, समिति, शील, और संयम का जो परिणाम, तथा इन्द्रियों को रोकने का जो भाव, उसका नाम प्रायश्चित्त है।

[गा० ११४ व ११५] क्रोधादि अपने विभाव भाव को क्षय करने की भावना में वर्तना तथा अपने आत्मीक गुणों का चिन्तन करना सो निश्चय प्रायश्चित है। क्रोध को क्षमा सें, मान को मार्दवभाव से, माया को आर्जव से तथा लोभ को संतोष से, इन चार प्रकार से योगी कषायों को जीतता है।

[गा० ११८] कारण समयसार, परमात्मतत्व, उसमें सदा अंतरंग में लीन होकर जो तपना है, वही तप प्रायश्चित है।

[गा० १२०] मुक्ति का कारण तो एक निर्विकल्प ध्यान ही है। जहां विकल्प है, वहां बंध है।

[गा० १२१] काय आदि पर द्रव्यों में स्थिरभाव को दूर कर, जो विकल्प रहित होकर अपने आत्मा को ध्याता है, उसके ही कार्योत्सर्ग होता है।

(९) परम समाधि अधिकार

[गा० १२२] बचनो को त्याग कर, जो वीतराग भाव से अपने आत्मा को ध्याता है, उसी के परम समाधि होती है।

[गा० १२३] संयम, नियम और तप के द्वारा धर्मध्यान अथवा शुक्ल ध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसी के परम समाधि होतीहै।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १२४] जो मुनि समता से रहित है, उसको वनवास, कायक्लेश व नाना प्रकार के उपवासों का करना, शास्त्र पठन तथा मौनव्रत, ये सब क्या कर सकते हैं। अर्थात मोक्ष के साधन में असमर्थ हैं।

[गा० १२६] जो नित्य आर्त्त और रोद्रध्यानों को हटाता है, उसी के सामायिक व्रत स्थायी होता है, ऐसा आगम में कहा है।

[गा० १३०] जो पाप और पुण्य भावों को त्यागता है, उसी के सामायिक है।

(१०) परम भक्ति अधिकार

[गा० १३४] जो मुनि सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र में भक्ति करता है, उसी के कर्मों से निवृत्ति रूप भक्ति होती है।

[गा० १३५] जो मोक्ष प्राप्त पुरुषों के गुणों के भेदों को जानकर, उन गुणों में परमभक्ति करता है, उसी के व्यवहार से सिद्ध भक्ति कही है।
[गा० १३८] जो साधु, सर्व विकल्पों के अभाव में, अपने आत्मा का ध्यान करता है, उसी के योग भक्ति होती है।

(११) निश्चय आवश्यक अधिकार

[गा० १४१] जो दूसरे के वश नहीं रहता है, उसी के आवश्यक कर्म होता है। यह आवश्यक कर्म, कर्मों का नाश करने वाला मोक्ष का मार्ग है। यह छः प्रकार है:— सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्तुति, बंदना और कायोत्सर्ग, ये ये छः व्यवहार आवश्यक है।

[गा० १४३-१४४] जो श्रमण, अपने अशुभ अथवा शुभ भाव के द्वारा, आत्मा के सिवाय, अन्य पदार्थों के वश हो जाता है, इसी से उसके आवश्यक कर्म नही होता।

[गा० १४५] जो साधु, छः द्रव्यों के गुण और पर्यायों के चिन्तवन में अपने चित्त को रखता है, वह भी अन्य के वश है, पराधीन है।

[गा० १४६-१४७] जो साधु परभाव को त्याग कर, निर्मल स्वभावधारी आत्मा को ध्याता है, वही निश्चय से आत्मवश अर्थात स्वाधीन होता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और उसी के आवश्यक कर्म होता है। यदि तू आवश्यक कर्म चाहता है तो आत्मस्वभाव में स्थिर हो।

[गा० १४८-१४९] जो साधु, आवश्यक कर्म नहीं करता, वह अपने चारित्र से भ्रष्ट है। इसलिये पहले कहे हुवे क्रम से ही आवश्यक कर्म करने चाहिये। जो साधु आवश्यक कर्म से सहित है, वही अन्तरात्मा है और जो आवश्यक कर्म से रहित है वह बहिरात्मा मिथ्याद्रष्टि है।

[गा० १५०] जो अन्तरंग और वाह्य वचन रचना (जल्प) में वर्तता है परन्तु स्वरूप चितन नहीं करता, वह बहिरात्मा है और जो इन जल्पों में नहीं रहता वह अन्तरात्मा है।

[गा० १५१] जो साधु धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में परिणमन करता है वही अन्तरात्मा है अन्यथा बहिरात्मा है।

[गा० १५३-१५४] बचन मई प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना आदि स्वाध्याय में गर्भित हैं। यदि तू शक्ति रखता है तो ध्यान मई प्रतिक्रमणादि कर। जब तक ऐसी शक्ति न हो तो तब तक ऐसा श्रद्धान तो कर।

[गा० १५६] जीव भिन्न-भिन्न विचारों के हैं। उन्हें समझाने के वास्ते वाद-विवाद करना ठीक नहीं। वाद विवाद में पड़ने से कार्य्य की सिद्धि नहीं होती। अतः निज आत्मीक अनुभव करना योग्य है।

[गा० १५७] जैसे कोई दरिद्री, धन को पाकर, उसका फल अत्यन्त गुप्त पने से भोगता है, ऐसे ही ज्ञानी, ज्ञाननिधि को पाकर पर द्रव्यों के समूह को त्याग कर, उसी का भोग करता है।

(१२) शुद्धोपयोग अधिकार

[गा० १५९] केवली भगवान सब पदार्थों को जानते देखते हैं, यह व्यवहार नय करके हैं परन्तु निश्चय से वे अपने आत्मस्वरूप को ही अनुभवते हैं।

[गा० १६०] जैसे सूर्य्य का प्रकाश व ताप एक ही साथ बर्तता है वैसे ही केवली भगवान के केवल ज्ञान और केवल दर्शन एक साथ ही होते हैं।

[गा० १६९] केवली भगवान व्यवहार से लोकालोक को जानते हैं। परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने को नहीं जानते, यदि कोई ऐसा कहे तो उसको दोष नहीं हो सकता। क्योंकि वह व्यवहार नय से कह रहा है निश्चय नय से नहीं।

[गा० १७१] आत्मा को ज्ञान जानो। ज्ञान को आत्मा मानो। इसमें कोई संदेह की बात नहीं। दर्शन-ज्ञान, स्व और पर को प्रकाश ने वाला है।

[गा० १७३] केवली भगवान के जानना देखना इच्छा पूर्वक नहीं होता, इसी कारण से केवल ज्ञानी कहा है और इसी से उनको बंधरहित कहा है।

[गा० १७६-१७७] जन्म, जरा, मरण, से रहित, उत्कृष्ट, अष्ठकर्मों से दूर, शुद्ध ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख, चार स्वभावधारी, क्षय रहित, विनाश बिना तथा छेद रहित जो तत्त्व है, वह कारण परमात्मा है। वह परमात्म तत्त्व, बाधा रहित है, इन्द्रियों के गम्य नहीं है, उपमा रहित है, पुण्य और पाप से दूर है, पुनः संसार में आगमन रहित है, नित्य है, अविचल है तथा आलम्ब रहित है।

[गा० १७८ से १८०] जहाँ, न तो कोई दुःख-सुख पीड़ा है, न बाधायें हैं, न मरण है न जन्म है, जहाँ न इन्द्रियां हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न आश्चर्य है, न निद्रा है, न तृष्णा है, न क्षुधा है, जहाँ न द्रव्य कर्म है, न नौकर्म है, न चिंता है, न आर्त्त-रौद्र ध्यान है, न धर्म-शुक्ल ध्यान है, ऐसी दशा निर्वाण की है।

[गा० १८१ से १८३] सिद्ध भगवान के केवल ज्ञान-सुख-वीर्य-दर्शन है, अमूर्तिकपना, अस्तित्व भाव तथा सप्रदेशीपना है। जो निर्वाण रूप है वही सिद्ध है, जो सिद्ध है वही निर्वाणरूप है। धर्मास्तिकाय लोक के अंत तक है अतः उससे ऊपर कोई जीव नहीं जा सकता।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५-पंचास्तिकाय-संग्रह

(अ) षट द्रव्य वर्णन

[गा० १] जिन भगवन्तो की चार विशेषणों से वंदना की है। (१) भगवान सौइन्द्रों से बंदित है (२) उनकी वाणी तीनों लोकों की हितकर, मधुर एवं निर्मल है (३) उनके अनन्तगुण वर्तते है और (४) उन्होने संसार को जीता है।

[गा० ४] पंचास्तिकायों के नाम-जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म और आकाश हैं।

[गा० ६] जो तीन काल के भावों रूप परिणमित होते हैं, नित्य है वे अस्ति काय और परिवर्तनलिंग (काल) सहित है। द्रव्यवास्तव में सहभावी गुणों को तथा क्रमभावी पर्यायों को अनन्य रूप से आधार भूत है।

[गा० ७] वे द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथापि सदा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

[गा० ८] द्रव्य सत् है। वह सत्ता, उत्पाद व्यय ध्रोव्यात्मक, एक, सर्व पदार्थ स्थित, विश्व को रुपों सहित, अनन्त पर्याय मय और सप्रतिपक्ष है अर्थात वह सत्ता सामान्य विशेषात्मक है।

[गा० १०] जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद व्यय ध्रोव्यात्मक है, जो गुण पर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं।

[गा० ११] द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं है, सद्भाव है। उसी की पर्यायें, विनाश, उत्पाद और ध्रुवता करती है।

[गा० १३] द्रव्य बिना गुण नहीं होते, उसी प्रकार गुणो के बिना द्रव्य नहीं होता, इसलिये द्रव्य व गुणों का अव्यति रिक्तभाव (अभिन्नपना) है।

[गा० १४] वह द्रव्य स्यात् अस्ति-नास्ति आदि सात भंगवाला है।

[गा० १५] भाव का (सत्) का नाश नहीं है, तथा अभाव का उत्पाद नहीं है। भाव, गुण पर्यायों में उत्पाद व्यय करते हैं। अर्थात उत्पाद होने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से कहीं असत् की उत्पत्ति नहीं होती और व्यय होने से सत् का विनाश नहीं होता।

[गा० १६] जीवादि वे भाव हैं; जीव के गुण चेतना व उपयोग है और जीव की पर्यायें, देव-मनुष्य-नारक-तिर्यंच रूप अनेक हैं।

[गा० २०] ज्ञानावरणादि भाव, जीव के साथ भली भाँति अनुबद्ध हैं, उनका अभाव करके वह अभूत पूर्व सिद्ध होता है। अर्थात जीव की संसार पर्याय नष्ट होकर सिद्ध पर्याय होती है, पर जीव वही रहता है। संसार पर्याय और सिद्ध पर्याय उसी जीव की हैं।

[गा० २२] छः द्रव्यों में जीव, पुदगल, आकाश, धर्म और अधर्म प्रदेशों के समूह मय होने से, ये पांचों अस्तिकाय हैं। काल में प्रदेश के समूह का अभाव होने से अस्तिकाय नहीं है।

[गा० २४] काल द्रव्य (निश्चय काल) पांच वर्ण, व पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श रहित है। वह अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला है। काल किसी द्रव्य को परिणमित नहीं करता, सम्पूर्ण स्वतन्त्रता से स्वयमेव परिणमित होने वाले द्रव्यों को वह वाह्य निमित्त मात्र है।

[गा० २५] समय, निमेष, काष्ठा, कला, घडी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, और वर्ष, ऐसा वास्तव मे निश्चय काल ही है पर पर पदार्थो से नाप होती है, इसलिये व्यवहार काल कहां है

(१) जीव द्रव्यस्तिकाय-व्याख्यान

[गा० २६] काल परिमाण, पुदगलों द्वारा निश्चित होता है, अतर व्यवहार काल को पराश्रित कहा है। निश्चय से ये भी काल द्रव्य की पर्याय है।

[गा० ३०] जो, इन्द्रिय. बल, आयु और उच्छवास-चारों प्राणों से जीता है, पूर्व काल में जीता था और जियेगा वह जीव है। वह प्राण, भावप्राण व द्रव्यप्राण दो रूप है।

[गा० ३३] जिस प्रकार पद्मरागरत्न, दूध में डाले जाने पर, दूध को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जीव, देह में रहता हुवा स्वदेह प्रमाण प्रकाशित होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ३४] जीव क्रमवर्ती सब शरीरों में है और किसी एक शरीर एक रूप से (क्षीर नीर सदृश) रहता है तथापि उसके साथ एक नहीं है, अध्यवसाय विशिष्ट वर्तता हुवा, कर्ममल द्वारा मलिन होता हुवा, होने से भ्रमण करता है।

[गा० ३६] वे सिद्ध किसी कारण से उत्पन्न नहीं होते इसलिये कार्य नहीं है और किसी भी अन्य कार्य को उत्पन्न नहीं करते, इसलिये वे कारण भी नहीं हैं।

[गा० ३९] पांच प्रकार के स्थावर जीव अव्यक्त सुख दुखानुभव रूप शुभाशुभ कर्मफल को चेनते हैं। द्वीन्द्रियादित्र जीव उसी कर्म फल को इष्ठ अनिष्ट रूप इच्छा पूर्वक कर्म चेतना सहित चेतते हैं और परिपूर्ण ज्ञानवन्त भगवन्त ज्ञान को ही चेतते हैं मुनि श्रावक तथा अविरत् सम्यग्दृष्टि कौ ज्ञान चेतना कही है वह आँशिक कहीं है। पूर्ण रूप से नहीं।

[गा० ४०] दर्शन और ज्ञानरूप उपयोग जीव के सर्व कालों में अनन्य रूप से रहता है।

[गा० ४१] ज्ञान के आठ भेद, मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय केवल ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि है। यहां जो आठ ज्ञानों को वर्णन है वह व्यवहार नय से है। निश्चय से तो आतमा अखण्ड-एक-ज्ञान प्रतिभासमय ही है।

[गा० ४२] दर्शन के चक्षु दशन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन, चार भेद हैं।

[गा० ४९] जीव को और ज्ञानगुण को सदैव एकत्व व अभिन्नता है। छद्मस्थ दशा में भी उस अभिन्न ज्ञान गुण में शक्ति रूप से केवल ज्ञान होता है छद्मस्थ अवस्था व केवली अवस्था में जो ज्ञान का अन्तर है वह मात्र शक्ति व्यक्ति रूप अन्तर है।

[गा० ५३] जीव पारिणामिक भाव से अनादि अनन्त है' औदायिक, क्षयोपशमिक और औपशमिक भावों से सादि-सान्त है, और क्षायिक भावों से सादि-अनन्त है।

[गा० ५६] उपरोक्त आदि के चार भाव उपाधि के निमित्त से हैं और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाँचवां भाव स्वभाव के कारण है।

[गा० ५७ से ६० जीव जैसे भाव को कर्त्ता है उस भाव का वह कर्त्ता है। आदि के चार भाव का कर्ता द्रव्य कर्म है आत्मा नहीं। आत्मा तो अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता। जीव भाव का कर्म निमित्त है और कर्म का जीव भाव निमित्त है पर वास्तव में एक दूसरे के कर्त्ता नहीं।

[गा० ६१-६२] अपने भाव को करता हुवा आत्मा वास्तव में अपने भाव का कर्ता है. पुदगल कर्मों का नहीं. ऐसा जिन वचन जानना। कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को करते हैं और वैसे ही जीव भी कर्म स्वभाव भाव से अर्थात औदायिक भाव से अपने को करता है। इस प्रकार निश्चय रूप से कर्म रूप कर्त्ता को जीवकर्ता नहीं है और जीव रूप कर्त्ता को कर्म कर्त्ता नहीं है।

[गा० ६३] यदि कर्म, कर्म को करें, और आत्मा, आत्मा को करे, तो कर्म आत्मा को फल क्यों देगा, और आत्मा उसका फल क्यों भोगेगा ? अर्थात नहीं भोगेगा। कर्मों का फल भोगने की वात जो कही है, वह व्यवहार नय से हैं।

[गा० ६५] आत्मा मोह-राग- द्वेष रूप अपने भाव को करता है तब वहाँ रहने वाले पुदगल कर्म वर्गणायें, अपने भावों से जीव में, विशिष्ट प्रकार से अन्योन्य-अवगाह रूप से प्रविष्ट हुवे कर्म भाव को प्राप्त होती हैं। इस प्रकार, जीव से किये गये बिना ही पुदगल स्वयं कर्म रूप से परिणमित होते हैं।

[गा० ६६] जिस प्रकार पुदगल द्रव्यों की अनेक प्रकार की स्कंध रचना पर से किये गये बिना होती दिखाई देती हैं, उसी प्रकार कर्मों की वहु प्रकारता पर से हुई मत जानो। अर्थात अपने योग्य जीव-परिणाम का निमित्त मिलने पर अनेक प्रकार के कर्म भी अन्य कर्ता की अपेक्षा बिना ही उत्पन्न होते हैं।

[गा० ६७] जीव और पुदगल काय अपने अपने अन्योन्य अवगाह कारण से, (जीव मोह राग द्वारा स्निग्ध होने से और पुदगल स्कंध स्वभाव से स्निग्ध होने से) वद्ध रूप रहते हैं। काल लब्धि आने पर जव पृथक होते हैं (उदय के समय) तो कर्म पुदगल सुख दुःख देते हैं और जीव भोगता है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ६८] कर्म निश्चय से अपना कर्ता है, व्यवहार से जीव भावका कर्ता है, जीव भी निश्चय से अपने भाव का कर्त्ता है, व्यवहार से कर्म का कर्ता है। चूंकि पुदगल कर्म को चैतन्य पूर्वक अनुभूति का सद्भाव नहीं है, इस लिये उदय के समय, चेतन पने के कारण, मात्र जीव ही कर्मफल का भोत्मा प्रसिद्ध है।

[गा० ६९-७०] इस प्रकार अपने कर्मो से, कर्ता भोक्ता होता हुवा आत्मा, मोहाच्छिदित वर्तता, सांत अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है। और जव जिन बचन द्वारा मार्ग को प्राप्त करके उपशांत-क्षीण मोह होता हुवा ज्ञानानुमार्ग में विचरता है, तव वह आत्मानिर्वाण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार जीव के कर्मरहितपने की मुख्यता पूर्वक प्रभुत्व गुण का व्याख्यान किया गया।

(२) पुदगल द्रव्यास्ति काय-व्याख्यान

[गा ७४-७५] पुदगल काय के चार भेद (१) स्कन्ध (२) स्कन्ध देश (३) स्कन्ध प्रदेश (४) परमाणु, जानना। सम्पूर्ण वस्तु वह स्कन्ध हैं। उसके आधे को स्कन्ध देश कहते हैं। आधे का आधा वह स्कन्ध प्रदेश है और अविभागी, वह परमाणु हैं।

[गा० ७६] स्कन्ध छः प्रकार के हैं (१) वादर-बादर (२) बादर (३) वादर-सूक्ष्म (४) सूक्ष्म बादर (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म। दृष्टाँत (१) काष्ट आदि जो न जुड़ सके (२) दूध-घी, तेल, जल, (३) छाया, धूप, अंधकार, चांदनी आदि (४) स्पर्श-रस गंध शव्द आदि जो दिखाई तो न दें पर महसूस हो (५) कर्म वर्गणाआदि (६) कर्म वर्गणा से नीचे के द्विअ-णुक-स्कन्ध तक।

[गा० ७८] सर्व स्कन्धों का जो अंतिम भाग, वह परमाणु है। वह एक, शाश्वत, मूर्तरूप से उत्पन्न होने वाला और अशब्द है. समस्त परमाणु एक ही जाति के हैं, इसलियें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप चार धातुओं का एक ही परमाणु कारण है।

[गा० ८०] वह परमाणु, द्रव्य का माप क्षेत्र का माप, काल का माप और भाव का माप का कारण है।

[गा० ८१] स्कन्ध में भी प्रत्येक परमाणु स्वयं परिपूर्ण हैं, स्वतन्त्र है, पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की सहायता से रहित और अपने से ही अपनी गुण-पर्यायों में स्थित है।
[गा० ८२] इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषय, इन्द्रियों, शरीर, मन, कर्म और अन्य जो कुछ मूर्त हो, वह सब पुदगल है।

(३) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का व्याख्यान

[गा० ८३-८४] धर्मास्तिकाय, अस्पर्श, अरस, अगंध, अवर्ण और अशब्द है लोक व्यापक, अखण्ड और विशाल है। ऐसा निश्चय से है। व्यवहार से असंख्यात प्रदेशी है। वह, अगुरुलघु रूप अनन्त रूपों से सदैव परिणमित होता है, नित्य है, गति क्रिया युक्त है और कारण भूत है और स्वयं अकार्य है।

[गा० ८५] जिस प्रकार पानी मछलियों के गमन में अनुग्रह करता है। उसी प्रकार धर्म द्रव्य, जीव-पुदगलों को गमन में अनुग्रह करता है।

[गा० ८६] जिस प्रकार धर्म द्रव्य है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य है परन्तु यह गति क्रिया के बजाय, स्थिति क्रिया रूप है।

[गा० ८७] जीव-पुदगल की गति-स्थिति तथा लोक आलोक का विभाग, इन दो द्रव्यों धर्म और अधर्म द्वारा जगत में होता है और ये दोनो, विभक्त, अविभक्त और लोक प्रमाण कहे गये हैं।

[गा० ८८-८९] धर्म-अधर्म जीव पुदगल की गति-अगति के हेतु नहीं है वरन् गति स्थित के उदासीन निमित्त भूत है। जीव-पुदगल तो अपने परिणामों से गति और स्थिति करते हैं।

(४) आकाश द्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान

[गा० ९०] जो जीव को और पुदगलों को व समस्त द्रव्यों को सम्पूर्ण अवकाश देता है, वह आकाश है।

[गा० ९६] धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य क्षेत्र अवगाह की अपेक्षा से एकत्व होने पर भी, वस्तु रूय से अन्यत्व हैं।

(५) चूलिका

[गा० ९७] जीव, धर्म, अधर्म आकाश और काल अमूर्त है। पुदगल मूर्त है जीव अमूर्त के साथ-साथ चेतन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ९८] बहिरंग साधन के साथ, जीव व पुदगल सक्रिय हैं। आकाश, धर्म, अधर्म और काल निष्क्रिय हैं।

[गा० ९९] जो पदार्थ जीवों के इन्द्रिय ग्राह्य है वे मूर्त हैं और शेष पदार्थ अमूर्त हैं। परन्तु चित्त दोनों को ग्रहण करता है।

(६) कालद्रव्य

[गा० १००-१०१[व्यवहार काल का माप, जीव-पुदगलों के परिणाम के द्वारा होता है। इस व्यवहार काल का आधार निश्चय काल द्रव्य है। व्यवहार काल क्षण भंगुर है और निश्चय काल नित्य है। अर्थात निश्चय काल द्रव्य रूप होने से नित्य है, व्यवहार काल पर्याय रूप होने से क्षणिक है।

[गा० १०२] पाँच द्रव्य तो अस्तिकाय द्रव्य संज्ञा को प्राप्त होते हैं परन्तु काल द्रव्य को काय पना नहीं है।

(७) उपसंहार

[गा० १०३-१०४] इस प्रकार "पंचास्तिकाय संग्रह" को जानकर, जो जीव, राग द्वेष को छोड़ता है, वह दुख से परिमुक्त होता है। जीव इस अर्थ को जानकर, शुद्ध आत्मा को अनुभव करता हुवा, हतमोह होकर, राग द्वेष को प्रशमित करके, सब कर्मों से मुक्त होता है, अर्थात मुक्ति को प्राप्त होता है।

(ब) नव पदार्थ पूर्वक मोक्ष मार्ग वर्णन

[गा० १०५] अब तक द्रव्यस्वरूप के प्रतिपादन द्वारा शुद्ध तत्त्व का उपदेश दिया गया। अब पदार्थ-भेद द्वारा शुद्धात्मतत्त्व के मार्ग का अर्थात मोक्ष मार्ग का वर्णन किया जाता है।

[गा० १०६] सम्यक्त्व, ज्ञान, से संयुक्त चारित्र, जो राग-द्वेष से रहित हो वह उन भव्य जीवों को जिन्होंने बुद्धि प्राप्त की है, मोक्ष का मार्ग होता है।

[गा० १०८] छः द्रव्यों के भेद रूप नौभावों में दो भाव जीव अजीव हैं, तथा उन दो के पुण्य-पाप-आस्रव, संवर-निर्जरा-बंध और मोक्ष सात अन्य पदार्थ हैं। इस प्रकार नौ पदार्थ हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१) जीव पदार्थ व्याखायन

[गा० ११०] पृथ्वी काय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पति-काय, ये कायें जीव सहित है और उनमें रहने वाले जीवों को अत्यन्त मोह से संयुक्त स्पर्श देती है।

[गा० १११] इनमें तीन पृथ्वी कायिक अपकायिक और वनस्पति कायिक तो स्थावर हैं और वायु कायिक और अग्निकायिक जीव त्रस हैं। ये सब मन रहित, एक इन्द्रिय जीव है।

नोटः—यहां वायु कायिक व अग्निकायिक को स्थावर के वजाय त्रस कहा है जवकि ओर सब जगह स्थावर कहा है। यह चलन क्रिया की अपेक्षा से है।

[गा० ११२ से ११७] तिर्यंच जीवो में, स्पर्श, रस, गंध, चक्षु व श्रोत्र और मन के भेद से एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन्द्रिय, चौंइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (संज्ञी और असंज्ञी) होते हैं। देव-मनुष्य-नारकी पंचेन्द्रिय मन सहित होते हैं। तिर्यंच जलचर स्थलचर और नभचर होते हैं। और मनरहित व मन-सहित दोनों होते हैं।

[गा० ११८] देवों के भवनवासी व्यन्तरवासी, ज्योतिष्क और वैमानिक चार भेद हैं। मनुष्य, कर्मभूमिज और भोग भूमिज, के दो भेद वाले हैं। तिर्यंच अनेक प्रकार के हैं। नारकी भूमि मेदो के कारण सात प्रकार के होते हैं।

[गा० ११९] लेश्या (कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति) गतिनाम कर्म और अन्य आयुषकर्म का कारण होती है। जिससे वे जीव परिभ्रमण करते हैं। ऐसा नहीं कि जीव एक ही गति में रहे।

[गा० १२०] ये सभी संसारी जीव देह सहित होते हैं। देहरहित जीव सिद्ध होते हैं। जिनमें शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का सदभाव है उन्हें भव्य और जिनमें शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का असदभाव हो, उन्हें अभव्य कहते हैं।

[गा० १२१] व्यवहार से कहे जाने वाले एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वी कायिक आदि जीवों में इन्द्रियां जीव नहीं है, उनमें जो ज्ञान है, वह जीव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चय से उनमें जीव के लक्षण भूत चैतन्य स्वभाव के अभाव में, जीव नहीं है।

[गा० १२३] इस प्रकार अन्य भी वहुत सी पर्यायों द्वारा जीव को जानकर, ज्ञान से अन्य ऐसे लिंगों द्वारा जीव को जानो।

(२) अजीव पदार्थ व्याख्यान

[गा० १२५] जिसे सुख दुःख का ज्ञान, हित का उद्यम, अहित का भय, ये सदैव नहीं होते, उसे अजीव कहते हैं।

[गा० १२६-१२७] जीव पुदगल के संगोग में भी, संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द ऐसे जो बहुगुण और पर्यायें है, वे पुदगल द्रव्य निष्पन्न है और जो अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द है, अनिर्दिष्ठ-संस्थान है, चेतनागुण वाला है, और इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, उसे जीव जानो।

[गा० १२८ से १३०] जो संसारी जीव होता है उसके परिणाम से कर्म और कर्म से गतियों में गमन होता है। गति प्राप्त को देह होती है, देह से इन्द्रियां होती है, इन्द्रियों से विषय ग्रहण और विषय ग्रहण से राग और द्वेष होता है। ऐसे राग-द्वेष के भाव, जीव को, संसार चक्र में अनादि-अनन्त अथवा अनादि साँत होते रहते हैं। इस प्रकार जीव और पुदगल को परस्पर निमित्त नैमित्तिक रूप से परिणाम होता है।

(३) पाप-पुण्य का व्याख्यान

[गा० १३१-१३२] जिनके भाव में मोह-राग-द्वेष अथवा चित्त प्रसन्नता है उसे शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं। जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप हैं। उन दोनों के द्वारा पुदगल मात्र भाव, कर्मपने को प्राप्त होते हैं।

[गा० १३३] क्योंकि कर्म का फल जो विषय, वह नियम से मूर्तरूप इन्द्रियों द्वारा ही जीव द्वारा सुख-दुःख रूप भोगा जाता है अतः कर्म मूर्तिक है।

[गा० १३४] मूर्त मूर्त को स्पर्श करता है, मूर्त, मूर्त के साथ बंध को प्राप्त होता है, मूर्तत्व रहित जीव, मूर्त कर्मों को अवगाह देता है और मूर्त कर्म जीव को अवगाह देते हैं अर्थात दोनों एक दूसरे के अवगाह प्राप्त करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) आस्रव पदार्थ का व्याख्यान

[गा० १३५-१३६] अनुकम्पा युक्त परिणाम, चित्त में कलुषता का अभाव, प्रशस्त राग, अर्हन्त-सिद्ध-साधु के प्रतिभक्ति, धर्म में यथार्थतया चेष्ठा और गुरुओं का अनुगमन, यह प्रशस्त राग है। और इससे पुण्य का आस्रव होता है।

[गा० १३८-१३९-१४०] क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूप चित्त की कलुषता से, बहु प्रमादवाली चर्चा से कलुपता से, विषयों के प्रति लोलुपता से, पर को परिताप करने से तथा पर की निन्दा करने से, पाप का आस्रव होता है। चार संज्ञाये, तीन लेश्यायें, इन्द्रियवशता, आर्त, रोद्र ध्यान से, इष्ट रूप से अशुभ कार्यो में लगा ज्ञान और मोह ये भाव भी पाप प्रद हैं।

(५) संवर पदार्थ व्याख्यान

[गा० १४१] भली भांति संवर मार्ग में रहकर, इन्द्रिया, कषाय, और संज्ञाओं का जितना निग्रह किया जाता है, उतना उतना पापास्रव-छिद्र बंद होता है।

[गा० १४२] जिसे सब द्रव्यों के प्रति मोह-राग-द्वेष नहीं हैं, सुख दुःख सम है, उस भिक्षु को शुभ और अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता।

(६) निर्जरा पदार्थ व्याख्यान

[गा० १४४] संवर और योग से युक्त (शुद्धोपयोग से युक्त) जो जीव अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शययासन, तथा काय क्लेशादि भेदोवाले बहिरंग तपों सहित, और प्रायश्चित, विनय, वैयवृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान, ऐसे भेद वाले अंतरंग तपों सहित वर्तता है, वह कर्मों की निर्जरा करता है।

[गा० १४५] संवर से युक्त, जो जीव आत्मा को जानकर, ज्ञान को निश्चल रूप से ध्याता है, वह कर्म रज को खिरा देता है।

[गा० १४६] जिसे मोह-राग-द्वेष नहीं है तथा मन-वचन-काय योगों का सेवन नही है अर्थात इनके प्रति उपेक्षा है, उसे शुभाशुभ को जलाने वाली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है। इस प्रकार यहां शुद्धोपयोग रूप ध्यान की मुख्यता बताई है।

(७) बंध पदार्थ-व्याख्यान

[गा० १४७] यदि आत्मा विकारी, शुभाशुभ भावों को करता है तो वह आत्मा उन भावों के निमित्त से विविध पुदगल कर्मों को बांधता है अर्थात उनसे बद्ध होता है।

[गा० १४८] कर्म ग्रहण का निमित्त, मन-वचन-काय, जनित योग हैं, बंध का निमित्त भाव है। जीव भाव, मोहनीय कर्म के विपाक से उत्पन्न होने वाला विकार है। इस प्रकार बन्ध का अंतरंग निमित्त मोह-राग द्वेष भाव है और बहिरंग वाह्य निमित्त योग है।

[गा० १४९] मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग, ये चार हेतु आठ प्रकार के कर्मों के कारण कहे गये हैं। उन्हें भी जीव के रागादि भाव कारण है। रागादि भावों के अभाव में जीव नहीं बंधते। इस प्रकार रागादि भावों को अंतरंग कारण वन्ध का वताया है।

(८) मोक्ष पदार्थ व्याख्यान

[गा० १५०-१५१] मोह-राग-द्वेष रूप, हेतु का अभाव होने से ज्ञानी को नियम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रव भाव के अभाव में कर्म का निरोध होता है और कर्मों का अभाव होने से वह सर्वज्ञ तथा सर्वलोक दर्शी होता हुआ, इन्द्रिय रहित, अव्यावाध. अनन्त सुख को पाता है। इस प्रकार यहां भाव मोक्ष का प्रकार व द्रव्यकर्म मोक्ष का प्रकार, का कथन है।

(९) मोक्ष मार्ग प्रपंच सूचक-चूलिका

[गा० १५४] जीव का स्वभाव ज्ञान और दर्शन रूप है, जो अनन्यमय है। उस ज्ञान-दर्शन में नियत अस्तित्व, जो कि अनिंदित है, उसे चारित्र कहा है। वही मोक्ष मार्ग है।

[गा० १५५] जीव, स्वभाव नियत होने पर भी, यदि अनियत (विभाव) गुण पर्यायवाल हो तो परसमय हैं। यदि वह स्वसमय को करता है, अर्थात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभाव में रहता है तो कर्म वन्ध से छूटता है।

[गा० १५६] जो राग से पर द्रव्य में शुभ वा अशुभ भाव करता है, वह जीव स्वचारित्र भ्रष्ट, ऐसा परचारित्र का करने वाला है। वास्तव में शुद्धोपयोग रूप परिणति स्वचारित्र है और पर द्रव्य में राग उपयोग रूप परिणति वह परचारित्र है।

[गा० १५७-१५८] जिस भाव से जीव को पुण्य वा पाप आस्रवित होते हैं, उस भाव द्वारा वह जीव परचारित्र है। जो जीव सर्वसंगमुक्त और अनन्यमन वाला होकर वर्तता है और आत्मा को ज्ञान दर्शन रूप स्वभाव द्वारा नियत रूप से जानता देखता है वह स्वचारित्र आचरता है।

[गा० १५९] जो पर द्रव्यात्मक भावों से रहित स्वरूप वाला वर्तता हुवा, निज स्वभाव भूत, दर्शन-ज्ञानरूप भेद को, आत्मा से अभेदरूप आचरता है वह स्वचारित्र है।

[गा० १६०-१६१] सव पदार्थों का यथा जात श्रद्धान सम्यक्त्व, अंगपूर्व सम्वन्धी ज्ञान, और तप में चेष्ठा सोचारित्र, यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है जो उसे ही होता है, जो अंतरंग में शुद्धि का अंश लिये आत्मा से अभेद होता है जो निश्चय मोक्ष गार्ग है। शुद्धि का अंश अर्थात निश्चय मोक्ष मार्ग न होने से उसे व्यवहार मोक्ष मार्ग भी नहीं है।

[गा० १६२] जो आत्मा, आत्मा को, आत्मा से आचरता है, जानता है, देखता है, वह आत्मा ही चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है, ऐसा निश्चित है।

[गा० १६४] दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष मार्ग है। परन्तु यदि यह अल्प भी पर समय प्रवृत्ति के साथ मिला है तो अग्नि के साथ मिले घी की भांति, वंध का कारण भी है और जब ये दर्शन ज्ञान-चारित्र समस्त पर समय पृवति से निवृत रूप, ऐसी स्वम्तमय प्रवृत्ति के साथ, संयुक्त होते हैं तो मोक्ष का कारण है। इस प्रकार केवल "स्व समय प्रवृत्ति" नाम का जो जीव स्वभाव में नियतचारित्र, वह ही मोक्ष मार्ग है।

[गा० १६६] अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिगण, और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य तो बांधता है परन्तु वास्तव में, वह कर्म काक्षय नहीं करता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १७०-१७१] संयम, तप, संयुक्त होने पर भी, नव पदार्थ तथा तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव वर्तता है और सूत्रों के प्रति जिसकी रुचि है, उस जीव को निर्वाण दूरतर है। उसे तो देव लोक ही मिल सकता है।

[गा० १७२] इस लिये मोक्षार्थी जीव किंचित भी राग न करे। ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भवसागर को तरता है। इस प्रकार यहां अर्हंतादि की भक्ति जितने राग को भी, साक्षात मोक्ष का बाधक बताया है। मोक्ष का साधक तो केवल एक पूर्णवीतराग भाव ही है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६-रयणसार

[गा० २-३] सर्वज्ञ भगवान ने जो उपदेश दिया था, उसका विस्तार गण-धर देव ने किया। उसके बाद उसी प्रकार और और आचार्यों ने उपदेश किया। बस इस क्रम परिपाटी के अनुसार, जो उपदेश देते हैं, वे ही श्रेष्ठ ग्रंथकर्ता एवं सम्यग्द्रष्टि वक्ता है। और जो अपने मति श्रुत ज्ञान के घमंड में, जिनेन्द्र द्वारा कथित सिद्धान्त का विपरीत कथन करते हैं वे मिथ्या-द्रष्टि हैं।

[गा० ४] सम्यग्दर्शन, मोक्षरुपी महान वृक्ष की जड़ है, उसके निश्चय व व्यवहार दो भेद हैं।

[गा० ५] सातभय (इस भवभय, परलोक भय, मरणभय वेदनाभय, अरक्षा चोरभय, अकस्मात भय) सात व्यसन (जुआ, मांस भक्षण, शराब, वेश्या, शिकार, चोरी और पर स्त्री सेवन) शंकादि आठ दोष, आठ मद, तीन मूढता, छ अनायतन, आदि २५ दोषों से रहितता, आठ अंग तीन (संसार, शरीर, भोगों, से विरक्तता, करुणा आदि (करुणा, मैत्री, सज्जनता, स्वल-घुता, समता, श्रद्धा, उदासीनता और धर्म अनुरागता) आठगुण, पंचपरमे-ष्ठी आदि पांच भक्ति सहितता इस प्रकार ६३ गुणों का समूह व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

[गा० ८] आठ मूल गुण (पांच उदंवर फल, व मद्य, मांस, मधु का त्याग) और बारह उत्तर गुण (५ अणु व्रत, ३ गुण व्रत, ४ शिक्षाव्रत) पांच मल अतिचार का त्याग, बारह वैराग्य भावना और एक भक्ति इन ३८ गुणों में भी सम्यग्दृष्टि पगा होता है।

[गा० ९-१०] देव, शास्त्र, गुरु का भक्त, सम्यकदर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीन रत्नों का धारक, दान-शील-पूजा तथा अनेक मुनि व्रतों को करने वाला, मोक्ष सुख को पाता है। यह सब व्यवहार सम्यकदर्शन है।

]गा० ११] साधु और श्रावक के छः छः आवश्यक कर्त्तव्य हैं श्रावक के। (देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान) आवश्यक हैं। इनमें पूजा और दान विशेष है। साधु के (सामायिक, स्तुति, वंदना, स्वा-ध्याय, प्रतिक्रमण, और कार्योत्सर्ग) आवश्यक हैं और इनमें ध्यान और स्वाध्याय मुख्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १२] जो ग्रहस्थ न तो दान करता है और व पुण्य रूप धर्मकरता है और न भले प्रकार भोग ही भोगता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि तो पतंग जैसा है जो अवश्य लोभ रुपी आग में भस्म होगा।

[गा० १३-१४] जो ग्रहस्थ शक्ति अनुसार जिनेन्द्र पूजा करता है, साधु आदि सुपात्रों को आहार आदि दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि है और अवश्य भवसागर से पार होगा।

[गा० १५] पात्र को आहार दान देने मात्र से श्रावक धन्य हो जाता है। अतः उसे मुनि, पात्र है या अपात्र, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये।

[गा० १८] जैन यात्रा, जिन प्रतिष्ठा, जैन संघ, जैन रथोत्सव, जिनविब जिनालय निर्माण और जैन शास्त्र ज्ञान प्रचार, दान के सर्वोत्तम स्थान है।

[गा० २२] साधु की प्रकृति वातरूप है, या पित्तरूप है, या श्लेष्मा कफ रूप है या कोई व्याधि बीमारी है, साधु कितना श्रम-कायोत्सर्ग या उपवास किये हैं, इन सब बातों का विचार कर, उसे आहार देना योग्य है।

[गा० २३] हित, मित प्रासुक शुद्ध अन्नपान, निर्दोष हितकर औषधि, निराकुल स्थान, यथायोग्य शयन, आसन, शास्त्रादि उपकरण. दान योग्य वस्तुयें सुपात्रों को मुमुक्ष सम्यग्दृष्टि देते हैं।

[गा० २४-२५] अनगार गृह त्यागी, साधु क्षुल्लक आदि की वैया वृत्य अपने गर्भ से उत्पन्न बालक के पोषण के समान, आलस रहित तथा सावधानी से करनी चाहिये।

[गा० २७] जो मूढ लोभी, यश कीर्ति, अथवा पुण्य लाभ की इच्छा से दान देते हैं, वे सम्यक्रत्न से सुशोभित सुपात्रों को जानते ही नहीं।

[गा० २९] शिष्य के यह पूछने पर की संसार में धर्मात्मा और दानी पुरुष तो कंगाल दिखाई देते हैं और अधर्मी लोभी, धन सम्पत्ति वाले दिखाई देते हैं, सो क्यों ? गुरु समझाते हैं कि यह सब दोनों के पहले किये हुवे कर्मो का फल है, दान, धर्म का फल तो सदा सुखकर ही है।

[गा० ३१] जैसे सुपुत्र बिना धन, वैभव, महलादि व्यर्थ है, और भाव विना व्रत, तप, चारित्र व्यर्थ है वैसे ही कुपात्र का दान बेकार है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ३२ से ३७] धार्मिक कार्य के लिये दिये गये धन का जो मनुष्य लोभवश भोग करता है, उसे नरक के सभी दुख झेलने पड़ते हैं।

[गा० ४०-४१] जो व्यक्ति हेय उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, योग्य अयोग्य, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, संसार-मोक्ष को नहीं पहचानता हुवा विवेकपूर्वक क्रिया नहीं करता, वह सम्यग्दर्शन रहित मिथ्यादृष्टि है।

[गा० ४२] लौकिक जनों की संगति से, अनाप सनाप बोलने वाली, वाचाल-, मायाचारी और खोटे भावों वाली बुद्धि हो जाती है अतः ऐसे लौकिक जनों की संगति, मन-वच-काय से छोड़ना चाहिये।

[गा० ४३-४४-४५] उग्र, तीव्र, दुष्ट, भंडवचन बोलने वाले, धर्म विरुद्ध चलने वाले, मिथ्या अभिमानी, क्षुद्र, रुद्रपरिणामी, क्रोधी, चुगल खोर, कामी, परदोषी, द्वेषी गाने गाने वाले, भिखारी, पर निन्दक, भांड ये सब बिना सम्यक्त्व के नष्ट होते हैं बंदर, जोक, गधा, भैंसा, पक्षी, बाघ, सुअर, हाथी और ऊंट स्वभाव वाले मनुष्यों को वीतराग धर्म नहीं होता। वीत-राग धर्म तो सरल, निराभिमानी, शांत प्रकृति वालों के ही होता है।

[गा० ४६] मिथ्या तप करने वालों को, खोटे भेषधारी को मिथ्या शास्त्रों के पढ़ने वाले को, कुशीली को, मिथ्याज्ञानी की प्रशंसा करने वाले को, सम्यग्दर्शन शीघ्र ही छूट जाता है।

[गा० ४७] सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान-चारित्र का अस्तित्व ऐसे ही नहीं बनता जैसे बीज के बिना पेड़ नहीं होता।

[गा० ५२-५३-५४] जैसे सूर्य अंधकार को, हवा बादलों को, वज्र पर्वत को, आग बन को, नष्ट कर डालते हैं, वैसे ही सम्यक्त्व सब कर्मों को नष्ट करता है। जो ज्ञानी सम्यग्दर्शन को अपने हृदय में प्रकाशित करते हैं, वे नियम से केवल ज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार कोई भाग्यशाली ही काम धेनु, चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, रसायन आदि या मनवां-छित सुख को भोगता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि को सब प्रकार के सर्वोत्तम सुख सहज ही मिल जाते हैं।

[गा० ५५-५६] जैसे निर्मली से जलनिर्मल होता है, अग्नि से सोना शुद्ध होता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन से संसारी जीव, शुद्ध हो मोक्ष प्राप्त करता है भव्य जीवों को उपशम-शान्तभाव, उनके पहले के कर्मों की निर्जरा करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, नये कर्मों को आने नहीं देता, और दोनों लोक में सुख देता है।

[गा० ५७] सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपना समय वैराग्य-ज्ञान में रत हो व्यतीत करता है, जबकि मिथ्यादृष्टि जीव खोटे भावों, वांछा, आलस्य और कलह में जीवन बरवाद करता है।

[गा० ६०] अब भी भरत क्षेत्र, अवसर्पिणी काल में मुनियो को प्रमाद रहित ७ वें गुणस्थान में धर्मध्यान होता है।

[गा० ६१] सुख दुःख की प्राप्ति अपने अपने शुभ-अशुभ भावों पर निर्भर है। हे भव्य, जो तुझे अच्छा लगे, सो कर।

[गा० ६७ से ७०] विना मिथ्या दर्शन नष्ट किये और सम्यग्दर्शन प्राप्त किये, जिनलिंग, मुनिलिग, अनेक प्रकार के कठिन तप, व्रत आचरण, तन को क्षीण करना, उपवास करना ऐसा ही है जैसे केवल सांप की बांबी को पीटने से सांप नहीं मरता। इससे तेरे कर्मों का क्षय नहीं हो सकता और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

[गा० ७२-७३] जैसे औषधि को केवल जान लेने से रोग दूर नहीं होता, उसे सही प्रकार प्रयोग करना होता है। ऐसे ही सम्यग्दर्शन को केवल जान लेने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, उसे अपने जीवन चारित्र में उतारना होगा, हर समय उसी रूप अनुभव करना होगा।

[गा० ७६] जैसे शूरवीर शक्ति के बिना, स्त्री सौभाग्य–पति के बिना, शोभा को प्राप्त नहीं होतो, उसी प्रकार साधु, संयम-ज्ञान और वैराग्य के विना मोक्ष को नहीं प्राप्त होता।

[गा० ८०] ज्ञानी जीव पहले अपनी पांचो इन्द्रियों को वश में करे, फिर मन-वच–काय को वश में करे, पीछे सिर का केश लौच करे, ऐलक मुनि वने, इस क्रम से चलने पर मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र होती है। अर्थात द्रव्य दीक्षा के साथ साथ भाव दीक्षा भी आवश्यक है, तभी सिद्धि होगी।

[गा० ८१] स्त्री पति भक्ति विना, सेवक स्वामी भक्ति विना, यति शास्त्र की भक्ति विना और शिष्य गुरु की भक्ति बिना दुर्गति का पात्र है।

[गा० ८४] जैसे भक्ति विना दान, विनय विना प्रेम, दया विना धर्म,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निष्फल है, वैसे ही गुरु भक्ति बिना शिष्य के सब व्रततपादि बेकार हैं।

[गा० ८६] जिन लिग दिगम्बरत्व धारण करके कठिन व्रत, तप और कायोत्सर्ग, निज आत्मा की रुचि सहित ही कार्यकारी है।

[गा० ८९] जब तक जीव, अपनी आत्मा को, अपने सत्य स्वरूप को नहीं जानता, उसका अनुभव नही करता, तब तक सुख नहीं पाता।

[गा० ९०] अपने आत्मस्वरूप की जानकारी, अनुभव के विना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, और सम्यग्दर्शन के बिना कर्मों से छुटकारा नहीं।

[गा० ९१] परमागम शास्त्र का अभ्यास ही परम धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान का कारण है, धर्मध्यान–शुक्ल ध्यान से कर्मों का क्षय होता है। और कर्मों के नाश पर ही मोक्ष होता है। अत सत्-स्वाध्याय कर।

[गा० ९२] जैसे नगर रक्षा के कोट विना राज की शोभा नहीं, दान, दया और धर्म विना ग्रहस्थ की शोभा नहीं, जीव के विना शरीर को शोभा नहीं, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान बिना तप को कोई शोभा नहीं।

[गा० ९३] जैसे मक्खो कफ में फंसकर नाश को प्राप्त होती है, वैसे ही साधु, परिग्रह में फंसकर कहीं का नहीं रहता।

[गा० ९६] मन वचन काय की विशुद्धता से, अपने आत्मा में होने वाले संकल्प विकल्पों को रोककर, धर्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये। इससे आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में तन्मय हो, कर्मों का नाश करता है।

[गा० १०४] जिस प्रकार मैले दर्पण में अपना चेहरा ठीक ठीक नहीं दिखता वैसे ही जिनका आत्मा राग-द्वेषादि दोषों से मैला है, उसे आत्मा में, आत्मा का यथार्थ स्वरूप नही झलक सकता।

[गा० १०७ से ११०] जो मुनि होकर भी धन-धान्य की, किसी आरम्भ की, किसी उपकरण की इच्छा करते हैं, दूसरे साधुओं से ईर्ष्या करते हैं, कषायों के वशीभूत है, व्रत-समिति-शील से रहित है, कलह करने वाले हैं, झक्की है, राजादि की सेवा करते हैं, ज्योतिषी, शास्त्र व किसी अन्य विद्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्त्र-तन्त्र से आजीविका करते हैं, धन-धन्यादि ग्रहण करते हैं, वे धर्म के नाशक, धर्म को दूषित करते हैं।

[गा० ११४] मुनियों की आहार चर्या ५ प्रकार है :— (१) उदर अग्नि प्रशमन (२) अक्षमृषण (पहिये में लगने वाली चिकनाई) (३) गोचरी (४) भ्रामरी और (५) खड्डु पूरण। इनको सबको समझ कर इन भावनाओं से मुनि को आहार लेना चाहिये।

गा० ११५-११६] शरीर अपवित्र है। इसका पोषण करना मूर्खता है। फिर भी यह समझ कर कि शरीर धर्म-क्रियाओं का साधन है, धर्म सेवन के लिये इसे थोड़ा, जैसा तैसा शुद्ध, रुखा, सूखा भोजन, साधुजन, इसे देते हैं क्योंकि शरीर के बिना धर्म पालन नही।

[गा० ११६] साधुओं को, संयम पालने को, ध्यान, अध्ययन, तप करने को, ज्ञान के बढाने को ही आहार लेना चाहिये। जो साधु इन कारणों के अतिरिक्त, केवल शरीर के पोषण के लिये भोजन करता है, वह कभी जन्ममरण से नहीं छूटता।

[गा० १२०] मुनि, अर्जिका, ऐल्लक, क्षुल्लक आदि गृह त्यागी अतिथि "उत्तम" पहली प्रतिभा से १० वीं प्रतिमा तक "मध्यम" और अविरत-सम्यग्दृष्टि "जघन्य" पात्र है।

[गा० १३२ से १३७] जो जीव, ज्ञान, ध्यान, अध्ययन, से उत्पन्न सुख को अमृत नही समझता, हुवा इन्द्रिय सुख में लीन रहता है, इन्द्रिय सुख को किपाक फल के समान, इनका सेवन मृत्यु का कारण नहीं समझता, जो शरीर को ही आत्मस्वरूप मानता है, स्त्री, पुत्र, मित्र चेतन रूप और क्रोधादि विभावों को अपने रूप समझता है, संसार के इन्द्रिय-जन्य सुख सब तीव्र दुख के देने वाले हैं ऐसा नहीं विचारता, वह जीव मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। जैसे विष्ठा में उत्पन्न जीव उसी स्थान व योनि में रुचि-प्रेम करता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि इन्द्रिय विषयों में ही सुख मानता है।

[गा० १४०] सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के सुख भोग उपभोग को इच्छा रहित हो, ऐसे ही सेवन करता है, जैसे रोगी, रोग मेटने के लिये न चाहते हुवे भी दवा का प्रयोग करता है, उसमें रुचि नहीं रखता।

[गा० १४३] अन्तरात्मा के भाव साक्षात पुण्य के और परम्परा से मोक्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के कारण हैं और वे ही वस्तुस्वभाव को दिखाने वाले हैं।

[गा० १४४] जो जीव अन्तरात्मा स्वसमय (मुक्त) और पर समय (संसारी) दोनों के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है, वही मोक्ष मार्ग का श्रेष्ठ पथिक है। बहिरात्मा और अन्तरात्मा पर-समय है और परमात्मा स्व-समय है। पहले, दूसरे और तीसरे गुण स्थानी जीव वहिरात्म है, चौथे गुणस्थान वाले जघन्य अन्तरात्मा, ५ वें गुणस्थान से ११ वें गुणस्थान वाले मध्यम अन्तरात्मा, और १२ वें गुणस्थान वाले उत्तम अन्तरात्मा है। १३वें व १४ वें गुणस्थान वाले केवल सकल परमात्मा और सिद्ध परमेष्ठी निकल परमात्मा है।

[गा० १५३] ८ मूलगुण + १२ व्रत + ११ प्रतिमा + ४ दान + १२ तप + १ समता भाव + १ पानी छानना + १ दिन में भोजन + १ सम्यग्दर्शन + १ सम्यग्ज्ञान + १ सम्यग्चारित्र = ५३, यह श्रावक की ५३ क्रियाये हैं जो सभी श्रावकों को यथाशक्ति करनी चाहिये।

[गा० १५८-१५६] जब ही जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, वह तभी से सुखी हो जाता है। जब तक सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, तब तक दुखी रहता है। आचार्य कुन्द कुन्द कहते हैं कि बहुत कहने से क्या लाभ। बिना सम्यग्दर्शन के दुख ही दुख हैं और उसके साथ सब प्रकार सुख ही सुख है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. पुरुषार्थ सिद्ध उपाय

[गा० २] जैसे जन्म के अंधे पुरुष हाथी के पृथक २ अवयवों का स्पर्श करके उनसे हाथी का आकार निश्चित करने में वाद-विवाद करते हुवे भी कुछ निश्चय नहीं कर सकते, और नेत्रवान पुरुष उनके सब कल्पना कृत आकार विषयक वाद को क्षण मात्र में दूर कर देता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग वस्तु के अनेक अंग अपनी बुद्धि से भिन्न २ रीतियों से निश्चय करते भी सम्यग्ज्ञान बिना सर्वाङ्ग वस्तु को न जानकर परस्पर विवाद करते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानी, स्याद्वाद विद्याके प्रभाव से, यथावत् वस्तु का निर्णय कर भिन्न भिन्न कल्पनाओं को दूर कर देता है।

[गा० ४] उपदेश दाता आचार्य में जिन-जिन गुणों की आवश्यकता है उन सब में मुख्य गुण व्यवहार और निश्चय का ज्ञान है, क्योंकि जीवों का अनादि अज्ञान भाव मुख्य कथन और उपचरित कथन के ज्ञान से हो दूर होता है, सो मुख्य कथन तो निश्चय नय के आधीन है और उपचरित कथन व्यवहार नय के अधीन है।

[गा० ५] निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है। निश्चय नय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है, वे समस्त ही संसार स्वरूप है।

[गा० ६७] आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये व्यवहार नय का उपदेश करते हैं और जो जीव केवल व्यवहार नय को ही साध्य जानता है उस मिथ्यादृष्टि के लिये उपदेश नहीं है। वह तो शुभोपयोग में संतुष्ट हो जायगा, शुद्धोपयोग के लिये प्रमादी हो जायगा।

[गा ६] आत्मा चेतना रूप है। चेतना सामान्य, विशेष भेद से दर्श चेतना व ज्ञान चेतना रूप है। शुद्ध ज्ञान स्वभाव रूप परिणमन करने वाली ज्ञान चेतना कहलाती है, रागादि कार्य रूप परिणमन करने वाली कर्मचेतना कहलाती है और सुख-दुख आदि भोगने रूप परिणमन करती है वह कर्म फल चेतना कहलाती है।

[गा० १०] वह चेतन्य आत्मा अनादि परिपाटी से निरन्तर ज्ञानादि गुणों के विकार रूप रागादि परिणामों का कर्त्ता और भोक्ता भी है।

[गा० ११] जिस समय उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा सम्पूर्ण विभावों से उत्तीर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होकर अपने निष्कम्प, चेतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह आत्मा सिद्धि को प्राप्त होता है, कृत-कृत्य होता है।

[गा० १४] यह आत्मा, कर्मों के किये हुवे, रागादि या शरीरादि भावों से संयुक्त न होने पर भी, अज्ञानी जीवों को संयुक्त सरीखा प्रतिभासित होता हैं, और वह प्रतिभास ही निश्चय करके संसार का वीज है। जैसे लाल रंग के निमित्त से स्फटिकमणि लाल रूप दिखाई देती है और अज्ञानी उसे लाल स्वरूप ही मान लेता है जवकि यथार्थ में वह लाल स्वरूप नहीं है, लाल रूप की झलक मात्र है, परन्तु जो ज्ञानी है परीक्षक जोहरी है, वह उसे लाल स्वरूप नहीं मानेगा।

[गा० १५] ऐसे विपरीत श्रद्धान को नष्टकर, निजस्वरूप को, यथावत् जानकर, जो उस अपने स्वरूप से च्युत न होना, वह ही सिद्धि का उपाय है और मोक्ष मार्ग है।

[गा० १६-१७] इस मोक्ष मार्ग पर लगे महामुनि, गृहस्थी के आचरण से सर्वदा दूर रहते हैं क्योंकि वह पाप क्रिया से मिला होता है। वे केवल अपने आत्मीक चैतन्य स्वभाव का ही अनुभव करते हैं। जो जीव मोक्ष मार्ग पर लगना चाहते हैं और उपदेश सुनने के अभिलाषी है, तो उसे पहले मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये और यदि वह मुनिधर्मग्रहण करने योग्य सामर्थ्य न रखता हो तो तत्पश्चात श्रावक-धर्म का उपदेश दे वे।

[गा० १८-१९] जो उपदेश दाता पहिले मुनिधर्म को न सुनाकर श्रावक-धर्म का व्याख्यान देता है, उसको जिनमत में प्रायश्चित रूप दंड देने योग्य कहा है क्योंकि हो सकता है कि वह जीव मुनिधर्म ही अंगीकार कर लेता और उसका कल्याण हो जाता।

(१) श्रावक धर्म व्याख्यान (१- सम्यग्दर्शन)

[गा० २०] मुनि तो मोक्ष मार्ग का सेवन पूर्ण रूप से करते ही हैं, किन्तु गृहस्थ को भी यथाशक्ति (थोडा बहुत) सेवन करना चाहिये।

[गा० २१] ग्रहस्थ को सर्व प्रथम, समस्त प्रकार के उपायों से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करनी चाहिये क्योंकि इसके होते हुवे ही सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र होता है।

[गा० २२] तत्त्व श्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण है, वह श्रद्धान सामान्य व विशेष दो रूप है। परभावों से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप का श्रद्धान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्य और जीव अजीव आदि सप्त तत्वों को विशेष जानकर श्रद्धान विशेष है।

[गा० २३ से ३०] सम्यक्तव के आठ अंग, निशकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढ, दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना है।

(२- सम्यग्ज्ञान)

[गा० ३१] पदार्थ का जो स्वरूप जिनागम की परम्परा से मिलता है, उसे प्रमाण नय पूर्वक अपने उपयोग में स्थिर कर यथावत जानना यही सम्यग्ज्ञान की यथार्थ सेवा हैं।

[गा० ३२] सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होने पर भी सम्यग्ज्ञान को, अलग ही जानो क्योंकि सम्यग्दर्शन का लक्षण यथार्थ श्रद्धान है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण यथार्थ जानना है।

[गा० ३३-३४] यद्यपि मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान के द्वारा पदार्थो को पहले जानते थे, परन्तु विना सम्यग्दर्शन के वह ज्ञान कुमति और कुश्रुत था, अव उसमें सम्यकपना सम्यक्दर्श से हुवा। अतः सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान का कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है। एक काल में होने पर भी दीपक और प्रकाश का दृटांतघटित है।

[गा० ३५] वह सम्यग्ज्ञान, संशय, विपर्यय, विमोह रहित, आत्मा का निज स्वरूप है।

[गा० ३६] सम्यग्ज्ञान, शब्दाचार (शब्द शास्त्र के अनुसार) अर्थाचार (शुद्ध अर्थ का धारण) उभयाचार (अर्थ व शब्द दोनों से शुद्ध पाठन) कालाचार (गोसर्ग काल, प्रदोषकाल, और विरात्रिकाल में) विनयाचार (शुद्धि करके पर्यकासन से) उपधानाचार (विस्मृत न करते हुवे) वहुमानाचार (ज्ञान, पुस्तक और शिक्षक का पूर्ण आदर करते हुवे) अनिह्नवाचार (गुरु को गोपन न करते हुवे) करना चाहिये।

(३-सम्यग्चारित्र व्याख्यान)

[गा० ३७-३८-३९] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्ति के बाद सम्यग्चारित्र अंगीकार करना चाहिये क्योंकि जहां अज्ञान भाव है, वह चारित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक नाम नहीं पाता क्योंकि वह चारित्र समस्त पाप युक्त मन-वचन-काय के योगों के त्याग से, कषाय रहित, पर पदार्थों से विरक्तता रूप और आत्म स्वरूप होता है।

[गा० ४०] हिंसादिक पापों के सर्वदा त्याग को सकल चारित्र और एक देश त्याग को देशचारित्र कहते हैं।

[गा० ४१] सकल चारित्र में मुनि शुद्धोपयोग रूप बर्तता है और एक देश चारित्र श्रावक को होता है।

[गा० ४२-४३] जहाँ आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणाम नहीं है, वहां निश्चय से हिंसा ही है। कषाय रूप परिणमन हिंसा है क्योंकि उससे शुद्धोपयोग रूप भाव प्राणों का धात तो पहले ही होता है। कषाय से अपने पर के भाव प्राण व द्रव्य प्राण घात हिंसा का लक्षण है।

[गा० ४४-४५] जैन सिद्धांत का सार तो यह है कि रागादिक भावों का प्रगट न होना अहिंसा है और रागादिक भावो का उत्पत्ति हिंसा है। योग्य आचरण करने वाले संत पुरुष के रागादिक भावों के बिना यदि किसी को प्राण पीडन हो भी जाय तो भी हिंसा नहीं होती।

[गा० ४६-४७] रागादिक भावों के साथ अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो या न मरो, वहां हिंसा तो निश्चय से है। क्योंकि कषाय सहित जीव पहिले अपने द्वारा अपने को ही घातता है, फिर पीछे, अन्य जीवों की हिंसा होवे या न होवे क्योंकि वह तो उस जीव के कर्मों के अधीन है।

[गा० ४८] हिंसा से विरक्त न होना भी हिंसा है और हिंसा रूप परिणाम होना भी हिंसा है। प्रमाद के योग में तो निरन्तर हिंसा होती है। (१) जिस पुरुष के हिंसा का त्याग नहीं है, वह यद्यपि, सोते हुवे विलाव की तरह, किसी समय हिंसा में प्रवृत्ति नहीं करता, परन्तु अन्तरंग में हिंसा करने का सद्भाव है, अतः वह अविरमण रूप हिंसा का भागी है (२) जो जीव, पर जीव के घात में, मन-वचन-काय से प्रवृत्त होता है उसको परिणमन रूप हिंसा है।

[गा० ४९] रागादिक भाव का होना हिंसा है, पर वस्तु का इससे कोई सम्बन्ध नही। रागादिक भाव परिग्रहादि के निमित्त से होते हैं। इसलिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणामों की विशुद्धता के लिये परिग्रह का त्याग करना चाहिये क्योंकि उन्हीं के आवलम्बन से कषाय की उत्पत्ति होती है।

[गा० ५०] जो जीव निश्चय के स्वरूप को नहीं जानकर, वाह्य परिग्रह के त्याग को ही (व्यवहार को ही) निश्चय मोक्ष मार्ग जान अंगीकार करता है, वह मूर्ख शुद्धोपयोग रूप आत्मा की दया को नष्ट करता है। इसके साथ ही यदि वाह्य परिग्रह है तो अंतरंग परिणाम अशुद्ध होंगे ही। अतएव एक ही पक्षग्रहण न करके निश्चय और व्यवहार दोनों को ही अंगीकार करना हितकर है।

[गा० ५१] जिसके परिणाम हिंसा रूप हुवे, चाहे वे परिणाम हिंसा का कोई काम न करें तो भी वह जीव हिंसों के फल को भोगेगा और जिस जीव के शरीर से हिंसा तो हो गई परन्तु परिणामों में हिंसा नहीं है, वह हिंसा करने का भागी कदापि नहीं।

[गा० ५२] जो पुरुष वाह्य हिंसा तो थोड़ी कर सका परन्तु अपने परिणामों में हिंसा भाव से अधिक लिप्त है, वह तीव्र कर्मबन्ध का भागी होगा और जो पुरुष, परिणामों में हिंसा के अधिक भाव न रखकर, वाह्य हिंसा कर गया है, वह मंद कर्म बंध का भागी होगा।

[गा० ५३] यदि दो पुरुष मिलकर कोई हिंसा करें, तो उनमें से जिसके परिणाम तीव्र कषाय रूप हुए हों, उसे हिंसा का फल अधिक भोगना पड़ेगा और जिसके परिणाम मन्द कषाय रूप रहे हों, उसे कम फल भोगना पड़ेगा।

[गा० ५५] किसी जीव को मारते देखकर, अन्य देखने वाले अच्छा कहते और प्रसन्न होते हैं, वे सब ही हिंसा फल के भागी है। अर्थात् हिंसा एक करता है और फल अनेक भोगते हैं। इसी प्रकार संग्राम में हिंसा तो अनेक करते हैं परन्तु उनको आज्ञा देने वाला राजा, उस सब हिंसा के फल का भागी होता है। अर्थात हिंसा अनेक करते हैं और उसका फल एक भोगता है।

[गा० ६०] इस प्रकार संवर में प्रवृत्त पुरुषों को यथार्थता से हिंस्य, हिंसक, हिंसा, और हिंसा के फल को जानकर यथाशक्ति हिंसा छोड़नी चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ६१] हिंसा त्याग करने की कामना करने वाले पुरुष को सर्वप्रथम शराब, मांस, शहद, और ऊमर, कठूमर, पीपल, वड़ और पाकर में पांच उदुम्बर फल छोड़ देने चाहिये।

[गा० ६६-६७] अपने से मरे जीवों का मांस भी अभक्ष्य है क्योंकि उस मांस में उसी जाति के निगोदिया जीव रहते हैं। मांस की डली में, विना पकी, पकी हुई, तथा पकती हुई अवस्था में भी उसी जाति के सम्मूर्छन जीवों का उत्पाद होता रहता है।

[गा० ७१] शहद, मदिरा, मक्खन और माँस, यह विकारों को धारण किये हैं। ये चारों पदार्थ व्रती पुरुषों को भक्षण करने योग्य नहीं है।

[गा० ७२] पाँचों उदम्वर फल, त्रस जीवों की खान है, उनके भक्षण से हिंसा होती है।

[गा० ७३] पांचों उदम्वर फलों को सुखाकर खाने से भी, विशेष राग के कारण हिंसा होती है।

[गा० ७४] जो इन आठ पदार्थों का त्यागी नहीं, वह किसी उपदेश के सुनने का भी योग्य पात्र नहीं, अर्थात वह श्रावक भी नहीं।

[गा० ७६] सर्वथा त्याग को उत्सर्ग त्याग कहते हैं। यह नौ प्रकार है। मन से, बचन से, काय से, आप न कराना, दूसरे से न कराना और करने वाले की अनुमोदना न करना। इन नौ भेदों में से किसी भेद का थोड़ा वहुत किसी प्रकार से त्याग करने को अपवाद त्याग कहते हैं।

[गा० ७७] ग्रहस्थ को स्थावर हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता फिर भी योग्य रीति से यत्नाचार पूर्वक कार्य करके व्यर्थ और असावधानी से, जो स्थावर जीवों की हिंसा होती है, वह ग्रहस्थ त्याग करें।

[गा० ७८] कोई जीव हिंसा करता हुवा भी सातायुक्त है, और स्वयं अहिंसा का पालन करता भी असातायुक्त है, धर्मात्मा पूरुष चलायमान न हो।

[गा० ८२] "शाकाहारी भोजन में अनेक स्थावर जीवों की हिंसा होती है अतः उसके बदले एक बड़े भारी पंचेन्द्रिय जीव को मारकर खा लेना अच्छा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है ' ऐसा कुतर्क मूर्खता पूर्ण है क्योंकि स्थावर की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीव के द्रव्य प्राण व भाव प्राण अधिक होते हैं। जबकि एकेन्द्रिय जीव के मारने से, इन्द्रिय जीव के मारने में ही असंख्य गुणा पाप है, तो पंचेन्द्रिय की हिंसा का तो कहना ही क्या।

[गा० ८३] "एक हिंसक जीव को मारने से अनेक जीवों की रक्षा होती है" ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि जो हिंसा करता है। वह पाप का भागी होता है। हिंसक जीव के मारने से कोई पुण्य नहीं हो सकता। संसार में अनन्त जीव एक दूसरे के घातक हैं, हम उनकी चिन्ता कहां तक करें।

[गा० ८५] अनेक दुखों से पीडित जीव को यदि मार दिया जायगा तो वह दुख से छूट जायगा ऐसा सोचना मूर्खता है क्योंकि हर जीव को अशुभ कर्मो को भोगना पड़ेगा ही, चाहे इस शरीर से भोगे चाहे दूसरे शरीर से घातक को तो अशुभ भाव से, अशुभ बंध होगा ही।

[गा० ९१] जो वचन, प्रमाद कषाय के योग से, स्व-पर को हानिकारक अथवा अन्यथा रूप कहा जाता है, वह निश्चयकर असत्य समझो।

गा० ९२ से ९५] होते को नहीं कहना, न होते को होना कहना, कुछ को कुछ कहना, और निन्दरूप, पाप रूप और अप्रिय वचन असत्य हैं।

[गा० ९९] जहां कषाय है, वहीं असत्य वचन होता है, अतः असत्यवचन अवश्य हिंसा होती हैं।

[गा० १०२] चोरी करना भी हिंसा है। जो चोरी करता है उसको भाव हिंसा होती है, और वाद में चोरी खुलने पर द्रव्य हिंसा भी हो सकती है।

[गा० १०५] प्रमाद के योग से पर द्रव्प का ग्रहण करना चोरी है।

[गा० १०७] स्त्री के योनि, नाभि, कुच, कांख आदि स्थानों में सम्मूर्छन पंचन्द्रिय जीव सदा उत्पन्न होते रहते हैं, अतःमैथुन से द्रव्य प्राणों का घात होता है। काम रूप परिणामों से, दोनों के भाव प्राणों का घात होता है। अतः स्त्रीमैथुन हिंसा रूप ही है।

[गा० १११-११२] मोह के उदय से भावों का ममत्वरूप परिणमन होना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूर्च्छा है। और मूर्च्छा ही परिग्रह है। नग्न मुनि यदि वाह्य में सब परिग्रह से रहित है और अंतरंग में मूर्च्छा है तो परिग्रही ही है।

[गा॰ ११६] अंतरंग परिग्रह १४ है। मिथ्यात्व, नोकर्म, चारकषाय अथवा अनन्तानुबंधी, प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण और संजवलन भेद हैं।

[गा॰ ११७] वहिरंग परिग्रह के दस भेद हैं उनमें सचित्त और अचित्त दो भेद हैं। अचित्त, सुवर्ण रजत, मन्दिर वस्त्रादि चेतना हीन पदार्थं है। सचित्त पुत्र, कलत्र, दासी, दास, आदि पदार्थ है।

[गा॰ ११८-११९] इन दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग अहिंसा है और इन का धारण हिंसा है। अंतरंग परिग्रह साक्षात हिंसा है और बहिरंग परिग्रह, अंतरंग के आश्रय भूत साधन है। फिर भी निश्चय से ममत्व परिणामों से ही परिग्रह होता है।

[गा॰ १२०] जैसे हरिण को मंद ममत्व होने पर कम अंतरंग परिग्रह है और बिलाव को तीव्र ममत्व होने पर विशेष अंतरंग परिग्रह है। इस ममत्व परिणामों की विशेषता से ही परिग्रह विशेष होता है।

[गा॰ १२३] जो पुरुष मिष्ठ रस का लोलुपी है, उसे दुध की अपेक्षा शक्कर में अधिक प्रीति होती है। इसी प्रकार वाह्य परिग्रहों की अल्प अथवा विशेष रुचि का कारण पाकर अंतरंग परिणाम होते हैं। अतएवं अंतरंग ममत्व परिणाम परिहार के वास्ते वाह्य परिग्रह त्यागना हितकर है।

[गा॰ १२७] वाह्य परिग्रह का त्याग किये बिना संयम चारित्र नहीं हो सकता इसलिये सचित्त अचित्त दोनों प्रकार के वाह्य परिग्रहों का त्याग करना ही कल्याणकारी है।

[गा॰ १२८] यदि कोई श्रावक वाह्य परिग्रहों को पूर्ण रूप के त्यागने की शक्ति न रखता हो तो उसे जितना कम हो सके, करें।

[गा॰ १२९] रात्रि भोजन से नियम से हिंसा होती है, अतः रात्रि भोजन न करो।

[गा॰ १३०] जिस जीव के तीव्र रागभाव होते हैं, वह त्याग नहीं कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकता। इसलिये जिसे तीव्र राग होगा वह रात्रि व दिन में खावेगा। और जहां राग है वहां हिंसा अवश्य है।

[गा० १३२] दिन के भोजन से रात्रि के भोजन का कारण अधिक राग होता है।

[गा० १३४] जिस महाभाग्य ने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया है वही सच्चा अहिंसक है। रात्रिभोजन त्याग के बिना, अहिंसा व्रत की सिद्धि नहीं होती।

[गा० १३६] जिस प्रकार परकोटे नगर की रक्षा करते हैं वैसे ही तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सप्तशील, पांचों अणु ब्रतों की रक्षा करते हैं।

[गा० १३७ से १४०] गुणव्रत, तीन है। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दंडव्रत। जहां तक दिग्व्रत अथवा देशव्रत की सीमा हो जाती है, उससे परे, समस्त त्रस, स्थावर, जीवों की हिंसा का त्याग हो जाता है।

[गा० १४१] अनर्थ दंडव्रत के पांच भेद है:—(१) अपध्यान (२) पापोपदेश (३) प्रमाद चर्या (४) हिंसा दान (५) विकथा। विना प्रयोजन पाप करने को अनर्थ दंड कहते हैं।

[गा० १४८] शिक्षाव्रत के चार भेद हैं। (१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोग परिमाण (४) अतिथि संविभाग। रागद्वेष के त्याग से, समस्त इष्ट अनिष्ठ पदार्थों में साम्यभाव को अंगीकार कर, आत्मतत्त्व की प्राप्ति का कारण सामायिक करें।

[गा० १५८] अष्टमी, चतुर्दशी, को उपवास करें, वह प्रोषधोपवास है।

[गा० १६१] भोग और उपभोग भी अपनी शक्ति अनुसार छोड़ने योग्य है क्योंकि भोग-उपभोग के निमित्त से भी हिंसा होती है।

[गा० १६७] दाता के गुणों से युक्त ग्रहस्थ को, दिगम्वर अतिथि के लिये अपने और दूसरे के अनुग्रह के हेतु, देने योग्य वस्तु का भाग विधि पूर्वक दोनों अतिथि संविभाग हैं।

[गा० १७१] जो जीव रत्नत्रय युक्त है वे पात्र कहलाते हैं। उनके तीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेद हैं, उत्तम, मध्यम, और जंघन्य। उनमें सकल चारित्र के धारी उत्तम, एक देश वर्ती मध्यम और व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है।

(४-सल्लेखना धर्म व्याख्यान)

[गा० १७५] यह एक, मरण कें अंत में होने वाली सल्लेखना ही मेरे धर्म रुपी धन को मेरे साथ ले चलने को समर्थ है, इस प्रकार भक्ति करके निरन्तर इसे भाना चाहिये और भरते समय अंगीकार करना चाहिये। सल्लेखना=सत्-लेखना अर्थात सम्यक प्रकार से कषाय को कृश करने को सल्लेखना कहते हैं। इसके दो भेद हैं। काय के कृश करने को वाह्य और आन्तरिक क्रोधादि कषायों को कृश करने को अभ्यन्तर सल्लेखना कनेते हैं।

[गा० १७६] मैं मरण काल में अवश्य ही शास्त्रोक्त विधि से समाधिमरण करुंगा, इस प्रकार भावना रूप परिणति करके, मरणकाल आने के पहिले ही, यह सल्लेखना व्रत पालना चाहिये। इस प्रतिज्ञा की अपेक्षा से उक्त सल्लेखना व्रत पहले से ही पालित समझा जायगा।

[गा० १७७-१७८] शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर मनुष्य उसे निर्दोष रीति से शमन करने के लिये औषधादिक सेवन करता है, परन्तु जब व्याधि से मुक्त होना अशक्य समझ लेता है, तब सल्लेखना लेता है, जिससे धर्म न विगडने पावे। अतः धर्म के रक्षार्थ सन्यास, आत्मघात नहीं है। आत्मघात तो उसके होता है जो क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ श्वास निरोघ, जल, विष, अग्नि, शस्त्रादि से अपना घात करता है।

[गा० १७९] जहाँ कषाय के आवेश सहित, मन, वचन, काय के योगों की परणति होती है, वहाँ ही हिंसा है और कषाय के कृश करने को सल्लेखना कहते हैं, इस कारण सल्लेखना से अहिंसा की सिद्धि होती है।

[गा० १८१] सम्यग्दर्शन के ५, पांच अणुव्रतों के पांच-पाँच के हिसाव से २५, दिग्व्रतादि सातशीलों के ३५ और सल्लेखना के ५, इस प्रकार ७० अतीचार होते हैं। अतीचारों का त्याग आवश्यक है क्योंकि इनसे व्रतादिक दूषित होतें हैं।

[गा० १९५] असार शरीर की स्थिति में आदरवान होके जीने की इच्छा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने को जीवितांशंसा रोगादिक की पीड़ा के भय से शीघ्र ही मरने की इच्छा मरणाशंसा, पूर्व में मित्रों के साथ की हुई आनन्ददायिनी क्रीडा के स्मरण करने को सुद्धनुराग, पूर्वकृत नाना प्रकार के भोगो पयोग, स्त्री सुखादि के चिन्तवन को सुखानुबन्ध, और भविष्य काल के भोगों व वांच्छा रुप चिन्तवन को निदान कहते हैं। ये पांच अतीचार सल्लेखना के है।

५- सकल चारित्र व्याख्यान

[गा० १६७-१६८] तप मोक्ष का अंग है, वह सेवने योग्य है। वह तप वाह्य व अंतरंग दो प्रकार है। अनशन, ऊनोदर, विविक्त शय्यासन, रस-परित्याग, काय क्लेश और वृत्तिपरिसंख्यान, वाह्य तप है।

[गा० १६९] विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित; उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान ये छः अंतरंग तप है।

[गा० २०१' समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छः मुनि के आवश्यक है अर्थात अवश्य करने योग्य है।

[गा० २०२] शरीर का शास्त्रोक्त विधि से वश करना, वचन का भले प्रकार अवरोधन करना, और मन का सम्यक्तया निरोधन करना, इस प्रकार, मुनि इन तीन गुप्तियां को जाने व करे।

[गा० २०३] ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपन समिति, और उत्सर्ग समिति। मुनि श्रावक इनका पालन करते हैं।

[गा० २०४] उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, संत्य, तप, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य, इन दश धर्मो का पालन मुनि व श्रावक अपनी-अपनी योग्यतानुसार करे।

[गा० २०५] अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ, और धर्म भावना का चिन्तवन, मुनि-श्रावक योग्यतानुसार करे।

[गा० २०६ से २०८] क्षुधा, तृष्णा, शीत उष्ण, नग्नता याचना, अरति, अलाभ, मच्छर, कुवचन, रोग, शरीर का मल, तृणादिकस्पर्श, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कार, पुरस्कार, शयन, गमन, बंध, बैठना और स्त्री, ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाइस परिषह भी मुनि को सहने योग्य है।

[गा० २०६-२१०] सकल रत्नत्रय मुनिका धर्म है और विकलत्रय गृहस्थ का। परन्तु साक्षात और परम्परा की अपेक्षा, ये दोनों ही मोक्ष के कारण है। इस लिये मोक्षाभिलाषी ग्रहस्थ को सकल न सध सके तो विकलत्रय का सेवन करे पर दृष्टि (लक्ष्य) सकल पर रक्खे।

[गा० २११] विकलत्रय रत्नत्रय में शुभभाव के प्रादुर्भाव से जो पुण्य प्रकृति का बंध होता है, वह मिथ्यादृष्टि की नाई संसार का कारण नहीं है। किन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण है।

[गा० २१२ से २१३] इस आत्मा के जितने जितने अंश में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, उतने उतने अंश बन्ध नहीं है और जितने जितने अंश रागादि है, उतने उतने अंश बंध है।

[गा० २१५-२१६] प्रदेश बन्ध, मन-वचन-काय के योग से, स्थिति बंध क्रोधादि कषाय से होता है। परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय न तो योग रूप है और न कषाय रूप है। अत: वे प्रदेश व स्थिति बंध के कारण नहीं। क्योंकि आत्मा का विनिश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मा का विशेष ज्ञान सम्यग्ज्ञान और आत्मा में स्थिरता सम्यग्चारित्र है तो फिर इन तीनों से बंध कैसे हो सकता है।

[गा० २२०] गुण स्थानों के अनुसार पुण्य का भी आस्रव होता है। जिससे देवादि गति मिलती है, यह दोष रत्नत्रय का नहीं। रत्नत्रय से तो मोक्ष ही मिलता है।

[गा० २२१] शुभोपयोग पुण्य बंध का कारण है और रत्नत्रय मोक्ष का कारण है। परन्तु जब गुणस्थात की चढन परिपाटी में दोनों एकत्र होते हैं, तब व्यवहार से संसार कहा जाता है।

[गा० २२२] निश्चय रत्नत्रय साक्षात मोक्ष का मार्ग है और व्यवहार रत्नत्रय परम्परा से मोक्ष मार्ग है। पथिक के उस मार्ग को जिससे वह अपने अभिष्ठ देश को क्रम से स्थान स्थान पर ठहर के पहुंचता है परम्परा मार्ग और जिससे अन्य किसी स्थान में ठहरे वगैर सीधा ही इष्ट देश को पहुंचता हैं, उसे साक्षात मार्ग कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २२५] जिस प्रकार दही को विलोने वाली ग्वालिनी मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे हाथ से ढीली करती है और दोनों की क्रिया से दही से मक्खन निकालने की सिद्धि होती है, उसी प्रकार जिनवाणी रूप ग्वालिनी सम्यग्दर्शन से तत्त्व स्वरूप को अपनी और खींचती है, सम्यग्ज्ञान से पदार्थ के भाव को ग्रहण करती है और दर्शन-ज्ञान की आचरण रूप क्रिया से परमात्मा पद प्राप्ति की सिद्धि करती है अर्थात द्रव्यार्थिक नय से आकर्षण करती है अर्थात खींचती है और पर्यायार्थिक नय से शिथिल करती है, ऐसी जिन दर्शन की न्याय पद्धति जयवंत हो।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. पंचा ध्यायी (प्रथम भाग) पूर्वार्द्ध

[गा० १] यह ग्रन्थ सामान्य नहीं है वरन सब जैन ग्रन्थों का राजा है। ग्रन्धकार का उद्देश्य पांच अध्याय बनाने का था परन्तु आज डेढ़ अध्याय ही उपलब्ध है।

[गा० ३] जैन सिद्धाँत वस्तु स्वरूप का प्रकाशक होने से अनादि निधन है है और संदोषइतर सिद्धाँतों का खंडन करने वाला है।

[गा० ५] लोकोपकार की तरफ झुकने वाली बुद्धि से, परिणामों में उत्तम विशुद्धि उत्पन्न होती है।

[गा० ७] धर्म-धर्मी का अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः प्रथम धर्मी का निरुपण करने पर, उसके धर्मों का निरुपण करना युक्ति युक्त ठहरता है। अतः प्रथम अध्याय में द्रव्य सामान्य, व दूसरे अध्याय में वस्तु विशेष का का वर्णन किया गया है।

[गा० ८ ९ १० ११ १२ १३ १४] वस्तु सत् स्वरूप तथा स्वतः सिद्ध होने से अनादि निधन, स्वसहाय और निर्विकल्प है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो (१) असत् की उत्पत्ति (२) सत् की पर से उत्पत्ति (३) संयोग से सिद्धि और (४) सत् का विनाश, इस प्रकार ये चार दोष उपस्थित होंगे। अतः वस्तु को सत्, स्वतः सिद्धि, संयोग रहित और विनाश मानना ठीक है।

[गा० १५] वह सत्ता निरपेक्ष नहीं है, किन्तु अपने प्रतिपक्ष की असत्ता की अपेक्षा रखने वालो है। प्रत्येक वस्तु स्वस्वरूप से है, परस्वरूप से नहीं है। इस अपेक्षा से सत्ता का पतिपक्षी असत्ता है। यह असत्ता "आकाश पुष्प" की तरह तुच्छाभावरूप नहीं है। जैसे घट रूप की घट की सत्ता है तथा पट रूप से घट की सत्ता नहीं है।

[गा० १७] द्रव्यार्थिकनय मुख्यता से सामान्य को और गौणता से, विशेष को विषय करता है। तथा पर्यायार्थिकनय, मुख्यता से अवान्तर सत्ता को और गौणता से सामान्य को विषय करता है।

[गा० १९] उपरोक्त दोनों ही नय मानने से ही वस्तु की, सामान्य विशेषा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्मक की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

[गा० २०] द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सत्ता के "सामान्य सत्ता-महासत्ता" तथा "विशेषसत्ता-अवान्तर सत्ता" दो भेद हो जाते हैं। महासत्ता सामान्य पने से एक रूप है, और अवान्तर सत्ता, नाना रूप कहीं जाती है।

[गा० २१-२२] महासत्ता, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक, त्रिलक्षणरूप, स्वभाव रूप है जबकि अवान्तर सत्तागत, उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्यात्मक एक लक्षण रूप है। अतः महासत्ता के एक पने का प्रतिपक्ष अवान्तर सत्तागत अनेकपना है। महासत्ता सप्रतिपक्ष है, निरपेक्ष नहीं।

[गा० ३८] एक द्रव्य के जितने प्रदेश माने गये हैं, उन सब में उस द्रव्य के अनन्तों ही गुण व्याप्त होकर रहते हैं। इसलिये अनन्त गुण रूप, विशेषों सहित प्रदेश समुदाय को द्रव्य और उन विशेषणों को गुण कहते हैं।

[गा० ३९-४०] गुणों के समुदाय का नाम द्रव्य होने से वे दोनों भिन्न सत्ता वाले दो स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु एक ही हैं। द्रव्य से गुण भिन्न नहीं है किन्तु द्रव्य स्वयं गुण मय है।

[गा० ४९] वस्तु की प्रत्येक शक्ति अपने अपने स्वरूप की अपेक्षा से पृथक पृथक है। जो द्रव्य की एक शक्ति का स्वरूप है वही स्वरूप दूसरी शक्ति का नहीं हो सकता। सम्पूर्ण शक्तिया परस्पर भिन्न-२ है।

[गा० ५१] इसी प्रकार जीव में यद्यपि दर्शन, ज्ञान, सुख, चारित्र आदि गुण एक ही काल में रहते हैं तो भी जो स्वरूप एक गुण का है वह दूसरे गुण का नहीं। प्रत्येक गुण का स्वरूप अपना भिन्न भिन्न है।

[गा० ५३] प्रत्येक गुण में उसके अंशच्छेदो द्वारा ही हीनाधिकता रूप विशेषता पाई जाती है। प्रत्येक गुण के तरतमरूप से अनन्त अविभागी अंश होते हैं।

[गा० ५७ से ५९] द्रव्य के प्रत्येक गुण के आधे आधे भाग करते जो अन्त में बचता है, उसे अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। ऐसे अविभागी प्रतिच्छेद प्रत्येक गुण में अनन्त होते हैं। गुणांशों का समुदाय गुण है।

[गा० ६१] गुणों में अंश कल्पना करना, यही उनकी पर्याय का स्वरूप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिये ये अंश और पर्याय एक ही अर्थ के वाचक हैं।

[गा० ६९] यदि गुण और गुणांश की कल्पना न मानी जावे तो द्रव्य के स्वरूप में चार अनिष्ठ पक्षों के उत्पन्न होने का प्रसंग आ जावेगा।

(१) गुणांश की तरह द्रव्य को निरंश मानना।
(२) द्रव्य में केवल गुणों का ही सद्भाव मानने से, उसको कूटस्थ अपरिणामी मानना।

(३) गुणों के विना केवल गुणांश ही मानकर, उसको क्षणिक मानना।
(४) गुणों के अनन्त अंशों को मानकर के भी उवका समान परिणमन मानना। तरतमांशरूप नहीं मानना।

[गा० ७२-७३-७४-७५] गुण पर्यायवान को द्रव्य कहते हैं। इसमें द्रव्य, लक्ष्य और गुण तथा पर्याय उसका लक्षण है। इस प्रकार युग पत सम्पूर्ण गुण और पर्याय ही द्रव्य कहा जाता है। ऐसा नहीं कि द्रव्य, प्रदेश, गुण और गुणांश चारों पृथक है।

[गा० ७७] जिस प्रकार, मूल, स्कंध, शाखा, पत्ते और फल फूल, इन सबके समुदाय को वृक्ष कहते हैं, उसी प्रकार देश, देशांश, गुण तथा गुणाँश, इन सबका समुदाय द्रव्य है। द्रव्य इनसे भिन्न नहीं।

[गा० ८७] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ये तीनों ही सत् के अंश है और सत् अंशी है। अर्थात सत् गुण के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ये तीन प्रकार के परिणमन है। युगपत प्रतिपादन की अपेक्षा से इन सबका नाम सत् है अतः ये सब एक हैं अभिन्न हैं। विशेषपने से क्रमक्रम से कहने पर वे तीनों अनेक व भिन्न है।

[गा० ९०-९१] उत्पाद व्याय-धौव्य, सत् के परिणाम कहे जाते हैं। ये तीनों परिणमन सत् की अवस्था में है, सत् में नहीं। इसी लिये द्रव्य, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से नवीन नवीन अवस्था रुप से उत्पन्न, और पूर्व अवस्थाओं से नष्ट कहा जाता है। द्रव्यायिकनय से द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।

[गा० १०४] जो द्रव्य के आश्रय रहते हो। और जिनमें दूसरा गुण न पाया जाता हो, ऐसे द्रव्य के सम्पूर्ण विशेषों को गुण कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १०५] द्रव्य के सब ही गुण समान प्रदेश वाले अर्थात अभिन्न हैं।

[गा० १०८] गुण द्रव्य से पृथक सत्ता नही रखते हैं। केवल संज्ञा, लक्षण, और प्रयोजन भेद से ही द्रव्य और गुण में भिन्न व्यवहार होता है। जैसे द्रव्य नित्यानित्यात्मक है, वैसे ही उसके गुण भी नित्यानित्यात्मक हैं। यह स्याद्वदरूप जैन सिद्धान्त है

[गा० १२०] परिणमन की अपेक्षा से जो गुण उत्पाद व्यय युक्त है, वे ही सामान्य की अपेक्षा नित्य है, इस प्रकार गुण भी उत्पाद व्यय व धौव्यात्मक कहे जाते हैं।

[गा० १३४] पर्यायें दो प्रकार की होती हैं। (१) व्यंजन पर्याय (२) अर्थ पर्याय। क्रियावती शक्ति के निमित्ति से होने वाली पर्याय व्यंजन पर्याय तथा भाववती शक्ति के निमित्त से होने वाली पर्याय अर्थ पर्याय है।

[गा० १३५] प्रदेशवत्व गुण के निमित्त से जो अंश कल्पना की जाती है, वह द्रव्य पर्याय और गुणों की तरतमरुप अंश कल्पना को गुण पर्याय कहते हैं।

[गा० १३९] ऐसा कभी समय नहीं आता जब द्रव्य में सम्पूर्ण गुणयुगपत न रहते हों।

[गा० १४३] प्रत्येक द्रव्य में एक वस्तुत्व गुण है। जिसके कि निमित्त से द्रव्यों में कुछ न कुछ अर्थ क्रियाकारित्व होता ही रहता है। इसी गुण की अपेक्षा से द्रव्य को वस्तु कहते हैं।

[गा० १४९] प्रतिसमय होने वाली द्रव्य की पयायें एक दूसरे से भिन्न होती है। इसी को 'कालव्यतिरेक' कहते हैं। द्रव्य की कभी भी दो पर्याय एक सी नहीं होती।

[गा० १५६] पर्यायें क्रमवर्ती है। भिन्न-भिन्न समय में उनकी भिन्न भिन्न अवस्था होती है। जिस तरह पर्यायें नाना हैं, उस तरह उस प्रकार से गुण नाना नहीं है केवल द्रव्य में अनेक कार्य देखे जाने से अनेक गुण माने जाते हैं। भिन्न-भिन्न कार्य देखे जाने पर भी वे सब कार्य उसी एक द्रव्य के हैं।

[गा० ५९] प्रत्येक द्रव्य के गुण स्वयं सिद्ध है और सदैव द्रव्य के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहने वाले हैं। इसलिए वे नित्य ध्रौव्यात्मक कहे जाते हैं और प्रति समय परिणमनशील हैं, इसलिये व अनित्य व उत्पाद व्ययात्मक भी कहे जाते हैं। इस प्रत्य पर सम्पूर्ण गुण, उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्यात्मक हैं।

[गा० १६०] जो गुण सब द्रव्यो में सामान्य रुप से पाये जाते हैं, वे साधारण गुण हैं, और जो गुण उसी द्रव्य में पावे जावे, वे असाधारण गुण हैं।

[गा० १६१] साधारण गुण को ही सामान्य गुण कहते हैं, और आसाधारण गुण को विशेष गुण कहते हैं।

[गा० १६५] जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेक और कंथचिद् उत्पादव्यय, ध्रौव्यात्मक होती है उन्हें पर्याय कहते हैं।

[गा० १६६] प्रत्येक द्रव्य में, द्रव्यत्व को न छोड़ करके प्रति समय पूर्व-२ पर्याय के नाश पूर्वक उत्तर-२ पर्याय उत्पन्न होती रहती है इस क्रम में कभी भी अन्तर नहीं पड़ता है। सब ही पर्याय उक्त रूप से परिणमन करती रहती है, इसलिये इस अपेक्षा से पर्याय को क्रमवर्ती कहते हैं।

[गा० १८८] जैसे दीपसिखा, शिखा रुप से ज्यों की त्यों है, परन्तु यदि वह घडे के अन्दर रख दी जावे तो उसका प्रकाश घडे के बराबर हो जाता है और यदि घट से बाहर निकालकर किसी कोठे में रख दी जावे तो उसका प्रकाश कोठे के बराबर हो जाता है। वैसे ही जीव व पुदगल में जो छोटी बड़ी पर्याय होती है वह अवगाहन विशेषता से है, द्रव्य की अपेक्षा से नहीं।

[गा० १६१ से १६२] जिस समय ज्ञान, घटाकार मात्र है उस समय घट के जानने की योग्यता से अतिरिक्त योग्यता वाले ज्ञानांशो का, कुछ नाश नहीं हो जाता है और लोकाकार मात्र ज्ञान की अवस्था में कुछ नवीन अंशों की उत्पत्ती नहीं होजाती। द्रव्य में अगुरूलघु नाम का एक गुण है। जिसके निमित्त से द्रव्यों के गुणों में तरतमभावरूप से, द्रव्य क्षेत्र काला नुसार होते हुवे भी, परिणमन होता रहता है।

[गा० १६७-१६८] पदार्थ को नित्यानित्यात्मक मानने से, पूर्व २ पर्याय, उत्तरोत्तर पर्याय का उपादान कारण और उत्तरोत्तर पर्याय, पूर्व २ पर्याय का कार्य पडता है। इस प्रकार कंथचित नित्यानित्यात्मक पदार्थ में ही उत्पादादिकत्रय तथा कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है, कूटस्थ नित्य में नहीं क्योंकि असत् के उत्पाद और सत् के विनाश की तो कथा ही क्या, जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्त में द्रव्यार्थिकनय से गुण, तदवस्थ रहते हैं और केवल पर्यायार्थिक-नय की विवक्षावश ही गुणों मे तरतमभाव माना गया है।

[गा० २००] उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य, ये तीनों पर्यायों में होते हैं, द्रव्य में नहीं। किन्तु पर्यायें द्रव्य से कंथचित् अभिन्न है इसलिये इस अपेक्षा से द्रव्य के भी उत्पादाद्धिक कहे जाते हैं।

[गा० २०६] इस प्रकार व्यय और उत्पाद, ये दोनों अंश द्रव्य को कंथचित् अनित्य कहलाने में कारण है और ध्रौव्य, यह अंश द्रव्य को नित्य कहलाने में कारण है। इस तरह उत्पादायिक तीनों ही द्रव्य के अंशात्मक भेद हैं।

[गा० २१६] शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्याय वगैरह कुछ नहीं है। केवल सबका समुदाय रूप एक सत् ही पदार्थ है। क्योंकि जितनी भी भेद विवक्षा है, वह सब पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से ही कल्पित की जाती है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय किसी भी प्रकार के भेद को विषय नहीं करता है। इसलिये शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सर्वदा सर्व-अवस्थाओं में सत ही प्रतीयमान होता है, उत्पादायिक नहीं।

[गा० २१९] जैन सिद्धान्त में सत् के उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप अंश नहीं माने हैं किन्तु सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है। उत्पादव्यय व ध्रौव्य, ये तीनों प्रत्येक भिन्न-२ पदार्थ की तरह मिलकर अनेक नहीं है किन्तु विवक्षावश ही तीनों भिन्न-२ रूप से प्रतीत होते हैं।

[गा० २४७] पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है तथा द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से न उत्पाद ही है, न व्यय ही है और न ध्रौव्य ही है। अगुरूलघु गुण के निमित्त से जीव व पुदगल द्रव्य में, सदृश और विसदृश, दोनों ही प्रकार के परिणमन पाये जाते हैं, तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल में प्रतिसमय केवल सदृश ही परिणमन पाये जाते हैं। प्रदेशत्व गुण के मुख्यपने से, द्रव्य क्षेत्र काल भावानुसार होने वाले परिणमन को उत्पाद-व्यय कहते हैं तथा अस्तित्व गुण के मुख्यपने से जो सदृश परिणमन होता रहता है, वह ध्रौव्य शब्द से कहा जाता है।

जीव और पुदगल में वैभाविक नाम का एक गुण है जिसके निमित्त से पुदगलों में सजातीय तथा विजातीय, दोंनों प्रकार के बन्ध हो सकते हैं और जीव द्रव्य में सजातीय बन्ध न होकर केवल विजातीय बन्ध ही होता है। जीव में एक ही प्रकार की विजातीय वैभाविकी शक्ति मानी है जबकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुदगल में सजातीय, विजातीय दोनों प्रकार की वैभाविकी शक्ति मानी है।

इसीलिये पुदगल के साथ, जीव का सम्वन्ध होने से, स्थूल व्यंजन पर्याय होती है और उसी समय प्रदेशत्वगुण की मुख्यता से जीव में उत्पाद-व्यय का जो क्रम जारी रहता है, उसे सूक्ष्म व्यंजन पर्याय कहते हैं। शेष धर्मादि चार द्रव्यों में अगुरूलघु गुण के कारण, प्रदेशत्व गुण की मुख्यता से होने वाले परिणमन को उत्पाद-व्यय और शेष गुणों के निमित्त से होने वाले परिणमन को ध्रौव्य कहते हैं।

[गा० २६२] प्रत्येक वस्तु (१) अस्ति-नास्ति (२) नित्य-अनित्य (३) एक-अनेक (४) तत्-अतत् इन चार परस्पर विरोधी धर्मों के युगलों से गुथी हुई है-युक्त है।

[गा० २६३] द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्ति-नास्ति के चार युगल हो जाते हैं।

[गा० २८२] जब तक सत् में किसी अंश की कल्पना नहीं की जाती तब तक वह सामान्य कहलाता है और जब वहीं सत द्रव्य-क्षेत्र-काल तथा भाव रूप विकल्पों द्वारा विभक्त होता है, तो विशेष कहलाता है।

[गा० ३०४-३०५] सामान्य विशेषात्मक वस्तु, नय से जिस समय सामान्य धर्म से विवक्षित की जाती है उस समय, उसमें विशेष धर्मों के रहते हुवे भी, वह केवल सामान्य रूप से सामान्य धर्म रूप ही प्रतीत होती है और जिस समय वही वस्तु, विशेष धर्मों से विवक्षित की जाती है, उस समय उसमें सामान्य धर्म के रहते हुवे भी, वह केवल विशेष रूप से विशेष धर्म-मय ही प्रतीत होती है। किन्तु प्रमाण विवक्षा से मुख्य रूप से उभय रूप है।

[गा० ३०८] इस प्रकार तत्त्व को जानने वाला स्याद्वादी कहलाता है और यदि वह इस प्रकार तत्त्व को नहीं जानता तो वह केवल सिंहमाणवक कहलाता है अर्थात जैसे कि बालक की शूर वीरता को देखकर उसे सिंह कह देते हैं, वास्तव में वह सिंह नहीं है, वैसे ही उपरोक्त प्रकार नहीं जानने वाले पुरुषों को भी उपचार से तत्त्व ज्ञानी कह सकते हैं। अन्यथा नहीं।

[गा० ३१२] सत् द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्याय अपेक्षा अनित्य है। वैसे ही सदृश परिणमन की अपेक्षा तत् है। तथा विसदृश परिणमन की अपेक्षा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतत् है। अर्थात नित्यानित्य के निरुपण में परिणमन व अपरिणमन की विवक्षा रहती है और तत-अतत के निरुपण में सदृशता तथा विसदृशता की विवक्षा रहती है। इस प्रकार वस्तु में नित्य-अनित्य, तत्-अतत् दोनों विरोधी धर्म एक साथ है।

[गा० ३१३] क्योंकि तत्-अतत विरोधी भाव नही मानने पर सदृश और विसदृश परिणमन नहीं बनता, केवल नित्य-अनित्य की ही प्रतीति होगी और केवल नित्य-अनित्य के मानने से कूटस्थ नित्य की तरह तथा केवल अनित्य मानने से सर्वथा क्षणिक की तरह, सत् में क्रिया. फल, और सत्-पंना कुछ भी सिद्ध नही होगा।

[गा० ३३१] इसलिये द्रव्य जैसे नित्यानित्यत्व धर्म से युक्त है वैसे ही तद्भाव व अतदभाव धर्म से युक्त है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से नित्यानित्य तथा तत् अतत् भाव में से किसी एक के नहीं मानने पर इष्टसिद्धि नहीं हो सकती।

[गा० ४५२] सत् दो प्रकार है। एक प्रदेशी और अनेक प्रदेशी। वह द्रव्यार्थिक नय से एक है तथा पर्यायार्थिक नय से अनेक है,

[गा० ५००] जैसे सत् को एक कहा गया है वैसे ही सत् युक्ति पूर्वक अपेक्षा विशेष से अनेक भी कहा जाता है। तथा वे एक और अनेक दोनों ही मुख्य-गौण विवक्षा से परस्पर सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं। इसलिये किसी एक के नहीं मानने पर दूसरे की सिद्धि नहीं हो सकती। आगे सर्वथा एक तथा अनेक मानने के दोष कहते हैं।

[गा० ५०४] इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्मात्मक जो वस्तु स्वरूप का निरुपण किया गया है, उसमें से किसी एक धर्म के वाचक को नय कहते हैं।

[गा० ५०५] नय ज्ञानात्मक और वचनात्मक के भेद से दो प्रकार है। उनमें से वचनात्मक नय द्रव्य नय तथा ज्ञानात्मक नय भावनय है।

[गा० ५०६-५०७] ज्ञान विकल्प को नय कहते हैं और वह विकल्प उपचरित है वास्तविक नहीं। क्योंकि शुद्ध ज्ञान तथा ज्ञेय को नय नहीं कहते हैं किन्तु ज्ञेय के अनुसार होने वाले श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। इस प्रकार नय विकल्पात्मक है। इस प्रकार ज्ञान, ज्ञान है नय नहीं कहा जा सकता। और नय नय है, ज्ञान नहीं कहा जा सकता। किन्तु ज्ञेय के आश्रय से होने वाले श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ५१०] सब ही नय विकल्पात्मक होते हैं और वे हेय हैं तथापि बलवान योद्धा के समान उनकी बलपूर्वक प्रवृत्ति पाई जाती है अर्थात लोक व्यवहार वश नयों की प्रवृत्ति रोकी नहीं जा सकती ।

[गा० ५११] यहां तक कि केवल सत्रूप ही सत् को मानने वाला भी कोई व्यक्ति, विकल्प कोटि के बाहर नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसके द्वारा भी सत्, यह विकल्प किसी प्रकार से रोका नहीं जा सकता है ।

[गा० ५१५] जैसे फर्सा स्वतन्त्र होकर भेद का करने वाला है, वैसे नय स्वतन्त्र होकर, वस्तु को बलपूर्वक धर्म विशिष्ठ नहीं करता है किन्तु वस्तु में अनन्तधर्म होने से तथा शब्द में युगपत सब धर्मों के प्रतिपादन करने की शक्ति न होने से लोक व्यवहार वश, वस्तुगत एक-२ विशेष-२ धर्म की अपेक्षा से ही, होने वाला ज्ञान व तदनुसार कहे जाने वाला शब्द उपचार से नय कहा जाता है ।

गा० ५१६-१५७] विकल्प सामान्य की अपेक्षा नय एक है। और विषय भेद के कारण, वह नय मूल में द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक भेद से दो प्रकार है । इन्हीं दो नयों के उत्तरोत्तर भेद आगम में बताये हैं ।

[गा० ५१८] द्रव्यार्थिक नय सामान्य तत्त्व को विषय करने के कारण अभेद का साधक है, इसलिये एक ही है, नाना प्रकार नहीं ।

[गा० ५१९-५२०] पर्यायार्थिक नय, पर्याय को मुख्यता से विषय करने के कारण, भेद-प्रभेद को विषय करने के कारण, अनेक है । पर्यायार्थिक नय का नाम व्यवहार नय भी है ।

[गा० ५२३] सत् के साधारण और असाधारण दो प्रकार के गुण है । उन दोनों ही प्रकार के गुणों में से किसी भी एक गुण के विवक्षित होने पर जो व्यवहार किया जाता है, वही व्यवहार, व्यवहारनय कहलाता है, अन्य-था नहीं ।

[गा० ५२५] व्यवहार नय के दो भेद हैं। (१) सद्भूत व्यवहार नय (२) असद्भूत व्यवहार नय उनमें से विवक्षित किसी द्रव्य के गुणों को उसी द्रव्य में भेद रूप से प्रवृत्ति कराने वाले नय का नाम सद्भूत व्यवहार नय है ।

[गा० ५८२] सद्भूत व्यवहार नय के कारण समस्त वस्तु निर्दोष रीति से स्वतन्त्र अनन्य शरण के समान प्रतीत होने लगती है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ५२९] जिसके अन्य द्रव्य के गुण वलपूर्वक अर्थात उपचार से, उससे भिन्न अन्य द्रव्य के कहे जाते हैं, अर्थात अन्य द्रव्य में आरोपित किये जाते हैं वह असद्भूत व्यवहार नय है।

[गा० ५३१] जीव और पुदगल इन दो द्रव्यों में एक वैभाविक नाम की शक्ति है। उसके निमित्त से पुदगल का पुदगल के तथा जीव के साथ और जीव का पुदगल से साथ, अनादिकाल से सम्बन्ध हो रहा है। पुदगल में सजातीय तथा विजातीय, दोनों प्रकार के बंध होते हैं जबकि जीव में केवल विजातीय बंध होता है, सजातीय नहीं। यह वैभाविक शक्ति भी स्वाभाविक है।

[गा० ५३२] असद्भूत व्यवहार नय का प्रयोजन यह है कि इसमें क्रोधादि को पर के निमित्त से अर्थात मूर्तिक कर्म के निमित्त से होने के कारण मूर्तिक कहां गया है, वह असद्भूत व्यवहार नय से है, निश्चय से नहीं ऐसा जानकर कोई जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है। यही इसकी उपादेयता है, वैसे यह नय हेय ही है।

[गा० ५३४] सद्भूत और असद्भूत व्यवहार नय के दो-दो भेद (१) अनुपचरित (२) और उपचरित है।

[गा० ५५७] न्याय के बल से नय का प्रवाह नहीं रोका जा सकता परन्तु यह तो कहा जा सकता है कि वह नय सम्यक् है या मिथ्या। जो युक्ति तथा आगम से विरूद्धनय है, वह सम्यक है और जो युक्ति व आगम विरूद्ध नय हे वह मिथ्यानय है।

[गा० ५६०] जैसे प्रमाण सम्यक् व मिथ्या होता है, वैसे ही नय भी सम्यक् तथा मिथ्या विशेषण युक्त होता है। इसलिये सम्यक्नयको नय और मिथ्या नय को नयाभास कहते हैं।

[गा० ५६१] जो नय तद्गुण का बोधक होता है तथा उदाहरण, हेतु और प्रयोजन सहित होता है, वह वास्तविक नय होता है और इसके विपरीत नयाभास कहलाता है।

[गा० ५६६] जिसमें वास्तविक नय का लक्षण घटता नहीं किन्तु उपचार, संज्ञा, हेतु और दृष्टांत के द्वारा नय जैसा प्रतिभासित होता है, वह नयाभास है।

[गा० ५७५-५७६] जीव की अशुद्ध परिणति के निमित्त से, पुदगल का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मणि वर्गणा कर्म पने को प्राप्त होती है। अतः लोगों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि कर्मों का कर्त्ता जीव है, जबकि जीव अपने ही भावों का कर्त्ता है, कर्मों में तो वह निमित्त मात्र है। कर्मों का कर्त्ता तो कर्म ही है। जो भी कर्त्ता होता है। वह अपने स्वभाव का ही कर्त्ता होता है।

[गा० ५८९-५९०] वस्तु में अनन्त गुण हैं। इसलिये उनके जितने विकल्प सहित वचन विलास हो सकते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। परस्पर सापेक्षनय सभी चीन नय, तथा परस्पर निरपेक्षनय, मिथ्यानय, कहे जाते हैं।

[गा० ५९७-५९८] द्रव्यार्थिक नय किसे कहते हैं ? व्यवहार प्रतिषेध करने योग्य है। और उसका जो प्रतिषेधक है, वही द्रव्यार्थिक नय है। अर्थात जो व्यवहार नय का प्रतिषेध है वही द्रव्यार्थिकनय का वाच्य है।

[गा० ६०१] नय, पक्ष को विषय करता है और पक्ष विकल्पात्मक होता है। इसलिये निश्चयनय भी विकल्प रहने के कारण, विकल्पना सिद्ध है।

[गा० ६२५] जितना भी उदाहरण पूर्वक कथन है वह सब व्यवहार है और उस व्यवहार का निषेध करने वाला वह निश्चयनय है।

[गा० ६२६-६२७] व्यवहार नय से जो वस्तु स्वरूप कहा जाता है, वह यथार्थ नहीं होता अतः यह अयथार्थपना, व्यवहार नय को प्रतिषेध्य, अर्थात प्रतिषेध करने योग्य कहलाने में कारण है। केवल विकल्पात्मक होने से प्रतिषेध्यन नहीं है। क्योंकि विकल्पात्मक तो निश्चय नय भी है।

[गा० ६२९-६३०] निश्चय नय ही सम्यक्त्व का विषय है। निश्चय नय की दृष्टि अर्थात लक्ष्य रखने वाले ही सम्यग्दृष्टि है, निश्चयदृष्टि ही उपादेय है, व्यवहार दृष्टि नहीं। व्यवहार को केवल जानना है।

[गा० ६३७-६३८-६३९] यदि व्यवहार नय कार्यकारी नहीं, तो इसे मानने की आवश्यकता ही क्या है, निश्चय ही को जानो और मानो, ऐसी शंका का समाधान यह है कि जब वस्तु विचार में विवाद तथा संशय उत्पन्न होता है तब व्यवहारनय उपभोगी सिद्ध होता है। इसके अलावा दोनों नयों को युगपत विषय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है किन्तु सविकल्पक ज्ञान वालों के समान, निर्विकल्प वालों के लिये वह कल्याण कारी नहीं। जहां नय, निक्षेप और प्रमाण का भी उदय नहीं रहता, ऐसे निश्चयनय के पक्ष से होने वाले बोध को निर्विकल्प बोध कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ६४१] और भी स्पष्ट करते हैं। निश्चय नय वचन गोचर नहीं है। इसलिये वह तीर्थ के स्थापनार्थ उपयोगी नहीं पडता। तीर्थ स्थापना, व्यवहार के द्वारा ही हो सकती है। अतएव केवल निश्चय नय से काम न चलने के कारण, व्यवहार नय भी जानने, मानने योग्य है।

[गा० ६४३] व्यवहार नय के व्यवहार के अभाव को ही निश्चय नय का विषय समझना चाहिये। वह उन एक-२ विकल्प के अभावरूप, शेष सामान्य ही है।

[गा० ६४५-६४६] व्यवहारनयावलम्बी और निश्चय नयावलम्बी दोनों ही परसमय है क्योंकि दोनों ही विकल्प रूप है। व्यवहार, निश्चय से ऊपर उठ कर जो स्वानुभूति में स्थित है वही स्वसमय है। हां, इतना अवश्य जानना, कि केवल व्यवहारनयावलम्वी तो मिथ्या दृष्टि है, जबकि निश्चय-नयावलम्बी, सम्यग्दृष्टि है।

[गा० ६४९ से ६५२] जैसे, भैंसे के ध्यान से युक्त कोई मनुष्य, "यह भैंसा है और मैं उसका उपासक हूं" इस प्रकार के विकल्प से जव तक युक्त रहता है, तव तक वह नयावलम्वी कहलाता है, किन्तु जिस समय जब वही व्यक्ति दैववश से निश्चय करके, स्वयं भैंसा रूप हो जाता है, तव ऐसा अनुभव करने से, उसे केवल भैंसानुभूति कही जाती है, वैसे ही निश्चय करके स्वात्मध्यान से युक्त कोई मनुष्य भी जब तक "मैं यह आत्मा हूं" और "मैं ही स्वयं इसका अनुभव करने वाला हूं" इस प्रकार के विकल्प से युक्त रहता है तव तक वह नयपक्ष वाला कहा जाता है किन्तु जब वह कुछ काल में निर्विकल्प हो जाता है तो "मैं स्वयं आत्मा हूँ" इस प्रकार अनुभव करने से, यहाँ उसी समय यह आत्मानुभूति कही जाती है।

[गा० ६६० ६६१] शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, और अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय इत्यादि जिसके मत में निश्चय नय के भेद माने गये हैं, वह भी मिथ्यादृष्टि होने से सर्वज्ञ की आज्ञा की अवज्ञा करने वाला है। जैन आगम में निश्चय एक है, उसे अनेक कहना आगम विरुद्ध है।

[गा० ६६५] विधि सापेक्ष निषेधात्मक ज्ञान को निश्चय नय और निषेध सापेक्ष विधिरूप ज्ञान को व्यवहार नय कहते हैं। इन दोनों नयों की मैत्री को प्रमाण कहते हैं।

[गा० ६७३] एक साथ सामान्य व विशेष को विषय करने वाला ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्ज्ञान कहलाता है। क्योंकि ज्ञान दर्पण के समान है और ज्ञेय प्रतिबिम्ब के समान है। इस प्रकार स्व-पर का एक साथ विषय करने वाला ज्ञान प्रमाण है।

[गा० ६७८] प्रत्यक्ष में देखे हुए पदार्थ के समान, वस्तु के सब धर्मों का युगपत अनुभव होना प्रमाण का फल है, प्रमाण उसका नाम है और प्रत्यक्ष व परोक्ष, ये उसके दो भेद हैं।

[गा० ६८०] प्रमाण दोनों ही (प्रत्यक्ष, परोक्ष) भेद को युगपत ग्रहण करता है।

[गा० ६९३ से ६९५] प्रमाण का विषय सामान्य, विशेषात्मक होने से अवकतव्य नहीं है। किन्तु सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य- अनित्य आदि सब ही धर्म प्रमाण के द्वारा युगपत कहे जा सकते हैं क्योंकि प्रमाण, नय के समान क्रमवर्ती नहीं है।

[गा० ७०१] मति, श्रुत, अवधि और मनपर्यय, ये चारों ही ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा रखते हैं अतः क्षयोपशमिक ज्ञान होने के कारण परोक्ष ही है केवल ज्ञानप्रत्यक्ष है।

[गा० ७०२] अवधि व मनपर्यय को जो एक देश प्रत्यक्ष कहा है वह केवल उपचार से व विवक्षा वश कहा है वैसे वे प्रत्यक्ष का असहाय लक्षण न घटने से, प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते।

[गा० ७०५] जैसे मतिज्ञान, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पर्यन्त क्रम क्रम से होता है, वैसे अवधि, मनपर्ययः की प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु ये दोनों ज्ञान युगपत, द्रव्य, क्षेत्रकाल और भाव की अपेक्षा से दूरवर्ती को भी क्षणमात्र में उपयोग लगाते ही मन की सहायता से जान लेते हैं, इसलिये एक देश प्रत्यक्ष है।

[गा० ७०६] मति और श्रुत ज्ञान में भी इतनी विशेषता है कि जिस समय इन दोनों में से किसी एक ज्ञान के द्वारा स्वानुभूति होती है, उस समय, ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा का प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिये इसलिये ये दोनों ज्ञान भी स्वानुभूति के ही समय प्रत्यक्ष है।

[गा० ७१०] सम्यग्दर्शन होने पर, मिथ्यात्व के अभाव के साथ ही साथ स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम होता है जिसकी सामर्थ्य से वह आत्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का प्रत्यक्ष करता है। इसलिये स्वानुभूति के समय मति, श्रुत ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

[गा० ७११-७१२] स्वानुभूति के समय, पांचों इन्द्रियों का उपयोग नहीं होता केवल मन का उपयोग होता है। स्वानुभूति के समय इन्द्रिय जन्य ज्ञान नहीं होता है। मन द्रव्य व भाव, दो रूप है।

[गा० ७१३] द्रव्य मन हृदय कमल में घनांगुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण होता है। यद्यपि वह द्रव्यमन अचेतन है यथापि क्षयोपशमिक भावमन के लिये वह सहायक माना गया है। द्रव्यमन की सहायता बिना भावमन उपयोग नहीं करता।

[गा० ७१५] पांचों इन्द्रियों केवल मूर्तिक पदार्थ को ही विषय करने वाली होती है परन्तु मन, मूर्त व अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ विषय करता है।

[गा० ७१६] स्वानुभूति के समय अतीन्द्रिय आत्मा के प्रत्यक्ष करने के लिये केवल मन ही उपयोगी है तथा स्वानुभूति की विशेष तत्परता की अवस्था में वह मन ही ज्ञान, ज्ञाता व ज्ञेय के विकल्प से रहित होकर स्वयं ज्ञान मय हो जाता है।

[गा० ७१७-७१८] वह मति-श्रुतात्मक भावमन स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष माना जाता है यही कारण है कि मति श्रुत बिना केवल ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु अवधि मनपर्ययः के बिना हो सकती है।

[गा० ७१९] अवधि, मनपर्यय: के बिना मोक्ष हो सकता है परन्तु मतिश्रुत के बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

[गा० ७४०] नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से जो नयों के द्वारा पदार्थों में जो एक प्रकार का आरोप किया जाता है, उसे निक्षेप कहते हैं। जैसे लोक व्यवहार के लिये, जिन सम्बन्धी गुणों की अपेक्षा न करके किसी का जिन नाम रख लेने को नाम निक्षेप कहते हैं। जिनके समान आकारादिवाली मूर्ति में जिन भगवान की, "ये वही जिन है" इस प्रकार बुद्धिपूर्वक स्थापना करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं तथा साक्षात जिन पर्याय के उन्मुख छद्मस्थवीतरागजिन के जीव को जिन कहकर पूजन को द्रव्यनिक्षेप कहते हैं और समवशरण में विराजमान साक्षात जिन भगवान को ही जिन कहने को भाव निक्षेप कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. पंचाध्यायी (दूसरा भाग) उत्तरार्द्ध

[गा० १] प्रत्येक द्रव्य का सामान्यपना व विशेषपना स्वतः सिद्ध है। सामान्यरूप से जो धातु संज्ञा है, वही कोई विशेषरूप से पीली सफेद है।

[गा० २] सामान्य व्यापक कहलाता है और विशेष व्याप्य।

[गा० ३] सम्पूर्ण द्रव्यों में शब्दकृत व अर्थकृत भेद हैं। जैसे जीव, अजीव कहना शब्द भेद हैं। लक्षण भेद से कहना अर्थ भेद हैं। जैसे जो चेतन, सो जीव, जो अचेतन वह अजीव।

[गा० ६] सुखादिक के स्व-संवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु से और स्वानुभव प्रत्यक्ष से जीव की सिद्धि होती है, इसके विपरीत से अजीव की सिद्धि होती है।

[गा० ७] जैसे जीव, अजीव रूप से जीवों के दो भेद हैं वैसे ही मूर्त, अमूर्त रूप से भी द्रव्यों के दो भेद होते हैं।

[गा० ९] जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जावे, वह मूर्त द्रव्य है जैसे पुदगल/जिसमें ये लक्षण न हो वह अमूर्त जैसे जीव धर्म अधर्म, आकाश और काल द्रव्य।

[गा० २५-२६] द्रव्यों में भाव व्यापक है और क्रिया व्याप्य है, इसलिये केवल जीव व पुदगल द्रव्य में भाव व क्रिया दोनों है, जबकि शेष चार द्रव्यों में केवल भाव है, क्रिया नहीं। द्रव्यों के प्रदेशों के चलनात्मक परि-स्पन्द को क्रिया कहते हैं और अगुरुलघु के निमित्त से प्रतिसमय होने वाले धारावाही परिणमन को भाव कहते हैं।

[गा० २९] सातो ही तत्त्व, जीव की अवस्था विशेष है।

[गा० ३२] जीव असंख्यात प्रदेशी होकर भी अखण्ड प्रदेशी है। अर्थात जीव लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है परन्तु वह अपने अंशों से कभी छिन्न-भिन्न नहीं हो सकता, इसलिये अखण्ड प्रदेशी भी है।

[गा० ३३] शुद्ध नय की अपेक्षा से जो जीव शुद्ध और एक प्रकार का है, वही जीव पर्यार्थिकनय की अपेक्षा मुक्त व संसारी दो प्रकार है।

[गा० ३५-३६] जैसे जीव, पुदगलादि द्रव्य अनादि है वैसे ही जीव और कर्मों का सम्बन्ध रूप बंध भी अनादि है। यह बंध सुवर्ण व पत्थर के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समान, अनादि-सान्त संयोग है। वह यदि अनादि- सान्त नहीं माना जायगा तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

[गा० ३७] यदि जीव को बंध से पहले निष्कर्मा मान लें तो बन्ध नहीं होना चाहिये। यदि कहो कि शुद्ध होने पर बंध हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है ?

[गा० ४१-४२-४३] अशुद्ध रागादिक भावों से द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्म, अशुद्ध रागादिक भावों से होता है। ऐसा निमित्त नैमित्तक सम्वन्ध है इस प्रकार भावबन्ध, यह परम्परा अनादि से चली आ रही है। यह अनादि जीव कर्म सम्बन्ध ही संसार है और छूटने का उपाय केवल सम्यक्दर्शन है।

[गा० ४४] जो कर्म, जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं उनके साथ विस्त्रसोपचयरूप कर्म भी रहते हैं पर वे बद्ध नहीं होते, वरन् एक क्षेत्राव-गाहरूप होते हैं। जीव-कर्म का जो बंध होता है वह एकक्षेत्रावगाहरूप के कारण नहीं होता वरन् उन दोनों के अशुद्ध भावों की अपेक्षा से एकत्व वुद्धिजनक बंध होता है।

[गा० ४५] जीव में वैभाविक नाम की आकर्षक और पुदगल में आकृष्य-रूप खिचे जाने योग्य, जो शक्ति हैं। उमके निमित्त से जीव पुदगल (कर्म) का परस्पर बंध होता है जैसे चुम्बक व लोहे में होता है। जीव में केवल विजातीय बंध की व पुदगल से विजातीय व सजातीय बंधी की शक्ति है।

]गा० ४६] बंध तीन प्रकार के होते हैं। (१) जीव के अशुद्ध रागादिक भाव जो मूल कारण है, उसे भाव बंध कहते हैं (२) कर्म-स्कंधो को कर्म बंध कहते हैं। ओर (३) दोनों के सम्बन्ध होने पर होने वाले तृतीय अवस्था रूप बंध को उभय बंध कहते हैं।

[गा० ४७] नवीन कर्मों के निमित्त भूत रागादिक भावों को भावबंध कहते हैं, इसी का नाम जीव बंध भी है और पुदगल पिण्डकार कर्म को अथवा उनकी ज्ञानादिक को घातने वाली शक्ति को द्रव्यबंध कहते हैं।

[गा० ४८] रागादि रूप परिणत, जीव के प्रदेशों का, तथा कर्म के प्रदेशों का, परस्पर में, भावबन्ध के निमित्त से जो वन्ध्य-बन्धक भाव है, वह उभय बंध है। जैसे हल्दी चूने का बंध।

[गा० ५२-५३] इस शंका का कि मूर्तिक कर्म के साथ अमूर्तिक जीव का संयोग बंध कैसे हो सकता है, का समाधान यह है कि जीव पुदगल में जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैभाविकी शक्ति भी है वह भी एक स्वाभाविक शक्ति ही है इसलिये ये तर्क के योग्य नहीं।

[गा० ५६-५७] जैसे मूर्तिक शराब से अमूर्तिक जीव के मतिज्ञान श्रुत ज्ञान मूर्छित हो जाते हैं वैसे ही जीव व कर्म का मामला है।

[गा० ६३-६६-६७] शंका उठती है कि वैभाविकी क्रिया भी यदि स्वाभाविक है। तो दोनों में अन्तर क्या रहा ? उसका समाधान है कि बद्ध द्रव्य की वैभाविक और अबद्ध की स्वाभाविक क्रिया होती है। जब मोहनीय कर्म रहता है तो ज्ञान की स्वाभाविक क्रिया न होकर रागादिक रूप वैभाविक क्रिया होती है।

[गा० ७३-७४] उस उभय बंध में केवल जीव पुदगल की वैभाविकी शक्ति ही कारण नहीं है और न केवल उपयोग ही कारण है किंतू जो पहले का बंध है, जिसके कारण स्वाभाविक स्वतंत्र परिणमन नहीं हो पाता, वह परतंत्रता कारण है। जब यह परतंत्रता सिद्ध अवस्था में नहीं रहती, तो स्वाभाविक परिणमन ही होता है।

[गा० ७६] इस प्रकार केवल वैभाविकी शक्ति व उसका उपयोग पृथक २ रूप से बंध का कारण नहीं है किंतू वह वैभाविकी शक्ति और पर द्रव्य के निमित्तवश, उस वैभाविकी शक्ति के उपयोग पूर्वक होने वाली, जीव तथा पुदगल के परस्पर गुणों की संक्रांति, ये सब बंध के कारण है।

[गा० ८०] यह वैभाविकी शक्ति, और गुणों की तरह नित्य है और सिद्ध अवस्था में भी पाई जाती है, परन्तु जिस प्रकार संसार अवस्था में पर निमित्त से विभावरूप परिणति होती थी वैसी सिद्ध अवस्था में निमित्त के हट जाने से परिणित नहीं होती।

[गा० १३०] जीव और कर्मों की परस्पर में परगुण के आकार जो परिणामिकी क्रिया होती है, उसको बंध कहते हैं और उस परिणामिकी क्रिया होने पर जो उन दोनों का अपने गुणों से च्युत होना है, उसको अशुद्धता कहते हैं। यही बद्धता और अशुद्धता का अन्तर है।

[गा० १३४-१३५] सम्पूर्ण शुद्ध नय एक, निर्द्वन्द, और निर्विकल्प है और व्यवहार नय अनेक सद्वन्द और सविकल्प है। शुद्ध नय का विषय केवल चेतनात्मक शुद्ध जीव है और व्यवहारनय का विषय जीवादिक नौ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदार्थ है।

[गा० १३७-१३८] यद्यपि परमार्थ को विषय करने वाला शुद्ध नय ही उपादेय है व्यवहार नय नहीं, तो भी वह उपादेय की तरह ही माना है क्योंकि वही परमार्थ को समझने में अर्थात नौ पदार्थों को बताने में सक्षम है।

[गा० १५१] अशुद्धता और शुद्धता, ये दोनों ही जीव की पर्याय है। जीव को अशुद्ध से शुद्ध होने पर केवल पर्याय में भेद होता है, द्रव्य में नहीं। क्योंकि द्रव्य तो वही रहता है।

[गा० १५३] जीव और पुदगल के सिवाय, नव पदार्थों में अन्य किसी द्रव्य का सम्बन्ध नहीं है, तथा न ये नव पदार्थ शुद्ध जीव और शुद्ध पुदगल के भी नहीं है, किन्तु परस्पर संयुक्त जीव और पुदगल के हैं क्योंकि विना परनिमित्त, शुद्ध द्रव्यों में विकार नहीं होता।

[गा० १५८] जैसे सुवर्ण, अन्यधातुओं के संयोग से नाना रूपों को धारण करता है किन्तु यदि उस संयोग की अपेक्षा करके उस सुवर्ण ही को देखो तो वह अन्य धातु से मिश्रित सुवर्ण, केवल शुद्ध ही प्रतीत होता है वैसे ही जीव भी कर्म के निमित्त से अजीवादि नौ पदार्थों में अशुद्ध रूप से दिखाई देता है. किन्तु यदि कर्म निमित्त की उपेक्षा करके उसको देखा जावे तो वह जीव शुद्ध ही प्रतीत होता है, अनुभव में आता है।

[गा० १६५ से १७१] जैसे कमल पत्र जल से भिन्न है, जल कीचड़ से भिन्न है अग्नितिनके से भिन्न है, दर्पण का मयूर दर्पण से भिन्न है, स्फटिक मणि लालिमा से भिन्न है, ज्ञान घट से भिन्न है, समुद्र वायु से भिन्न है, वैसे ही जीव विकार (नौ पदार्थ) से भिन्न है।

[गा० १७२] जैसे सब अवस्थाओं में खारी रसवाली नमक की डली, नाना प्रकार के व्यंजनों से मिलकर अनेक रसों वाली नहीं हो जाती, उसी प्रकार जीव अद्वैत है वह द्वैत रूप नहीं होता।

[गा० १७३] इस प्रकार दृष्टांत पूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण से जो अपना इष्ट था, वह सिद्ध होता है कि वास्तव में ये नौ पदार्थ अवश्य कहने व समझने चाहिये अर्थात सम्यग्दर्शन के विषयभूत है। अतः जीव को समझने के लिये नौ पदार्थों को समझना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १७६] जैसे अंधकार के विना प्रकाश का अनुभव नहीं होता वैसे ही शुद्ध आत्मा का ज्ञान, नौ पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

[गा० १८४] आत्मा जिस समय जिस भाव से युक्त होता है, उस समय वह अनन्य गति होकर भी उसी भावमय अर्थात शुद्ध अवस्था में शुद्ध और अशुद्ध अवस्था में अशुद्ध प्रतीत होता है।

[गा० १८५] उस समय उसी भाव रूप परिणत होने के कारण, जो शुभ है वह शुभ भाव से ही, जो अशुभ भाव है, वह अशुभ भाव से ही और जो शुद्ध है वह शुद्ध भाव से कहा जाता है। जीवों की शुभ, अशुभ और शुद्ध तीन प्रकार की परिणति होती है। जिस समय जैसी परिणति होती है, उस समय वह उसी रूप से कहा जाता है।

[गा० १९२] सामान्य की उपेक्षा चेतना एक रूप है। विशेष की अपेक्षा क्रम पूर्वक शुद्ध अथवा अशुद्ध रूप से दो प्रकार है। आत्मा का स्वरूप शुद्ध है और कर्म के संयोग से अशुद्ध है।

[गा० १९३] चेतना के दो भेद हैं। शुद्ध व अशुद्ध। वह शुद्ध, अशुद्ध क्रमवार होती है, युगपत नहीं।

[गा० १९४] शुद्ध ज्ञान एक ही प्रकार का होता है, इसलिये शुद्ध चेतना एक ही प्रकार की होती है और वह शुद्ध आत्मा को विषय करने के कारण शुद्ध तथा ज्ञानमय होने के कारण ज्ञान चेतना है।

[गा० १९५] अशुद्ध चेतना दो प्रकार है जैसे कर्मचेतना और कर्म जन्य फल का अनुभव करने के कारण कर्म फल चेतना कहलाती है।

[गा० १९७] आत्मस्वरूप की उपलब्धि रूप सम्यग्ज्ञान को ज्ञान चेतना कहते हैं।

[गा० १९८] वह ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टि जीव के ही होती है।

[गा० १९९] मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व कर्म का उदय रहने के कारण, ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी ज्ञान चेतना नहीं होती।

[गा० २०२] मति ज्ञानादि की प्राप्ति में केवल ज्ञानावरणादि का क्षयोपशम कारण नहीं है, किन्तु उसके साथ-२ यथा योग्य वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की भी आवश्यकता पड़ती है। केवल मति ज्ञानावरणादि के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभाव से शुद्धोपलब्धि नहीं होती किन्तु दर्शनमोहनीय और ज्ञानावरण कर्म के उदय के अभाव से शुद्धआत्मोपलब्धि होती है।

[गा० २११] सम्यग्दृष्टि जीव का स्वानुभूति रूप ज्ञान और केवली का केवल ज्ञान ये दोनों ज्ञान सुख दुख के अनुभव से रहित है। इस लिये उनमें केवल, ज्ञान मात्रता रहने के कारण उनके साथ अशुद्धोपलब्धि की व्याप्ति नहीं कही जा सकती हैं।

[गा० २१४] कर्म और फर्म-फल, ये दोनों चेतनाये सामान्य रूप से भव्य और अभव्य सब जीवों के पाई जाती है। इसलिये ये दोनों चेतना सम्यक्त्व कारण नहीं मानी गई है।

[गा० २२४-२२५] अज्ञानी जीवों को व्यंजनों में मिला जो नमक है, वह खारा प्रतीत न होकर केवल व्यंजन ही खारे प्रतीत होते हैं जबकि तत्त्व ज्ञानी को व्यंजनो में मिश्रित अथवा अमिश्रित दोनों ही अवस्थाओं में केवल नमक की डली ही खारी लगती है व्यंजन नहीं।

[गा० २२७] शुद्धोपलब्धि का नाम सम्यक्त्व है। अपने प्रतिपक्षी कर्म के अभाव में जितनी जितनी शुद्धोपलब्धि होती है, उतनी ही ज्ञान चेतना कहलाती है क्योंकि पूर्ण ज्ञान चेतना तो केवली के पाई जाती है और पूर्ण परमावगाढ़ सम्यक्त्व भी केवली के ही माना गया है।

[गा० २२८] केवल सम्यक्तद्रष्टि ही ज्ञानी है, शेष सव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

[गा० २२९-२३०-२३१] यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी की वाह्य प्रवृत्ति एक सी देखी जाती है तथापि ज्ञानी की क्रियायें वंध का कारण नहीं मानी गई हैं और अज्ञानी की बंध का कारण है। इतना ही नहीं सम्यग्दृष्टि को वैसी क्रियायें रहते हुवे कर्मों की निर्जरा भी होती है क्योंकि ज्ञानियों के ज्ञानमय भाव व ज्ञान निमित ही होते हैं।

[गा० २३२] परमउपेक्षा रूप वैराग्य और स्वानुभूति, ये दोनों ही सम्यग्दृष्टि के लक्षण हैं। अतएव परमोपेक्षा तथा स्वानुभव हो जाने के कारण सम्यग्दृष्टि को ही जीव मुक्त कहते हैं।

[गा० २३८] जो एहिक सुख है, वह अतीन्द्रिय नहीं है किन्तु विषय जन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसलिये उस सुख को सुखाभास भी नही कहना चाहिये किन्तु निःसंशय दुःख ही कहना चाहिये। वास्तविक सुख आत्मा का गुण है और वह अतीन्द्रिय है, इन्द्रिय जन्य नहीं।

[गा० २४५] यह इन्द्रिय जन्य सुख, पराधीन, दुःख पूर्वक, सान्त बंध का कारण और विषम होता है, इसलिये यह वास्तव में दुःख रूप ही है।

[गा० २४७] जैसे जल अग्नि के निमित्त से उष्ण होने के कारण, अपने सम्पूर्ण अवयवों में संतप्त देखा जाता है, वैसे ही यह जीव भी कर्मो के निमित्त से अपने सम्पूर्ण अवयवों में संतप्त होकर व्याकुल है।

[गा० २५०] ऐसा किसी भी कर्म का उदय नहीं है, जो जीव को सुख प्राप्त कराने वाला हो क्योंकि स्वभाव से सब ही कर्म आत्मा को उसके स्वभाव से च्युत करते हैं। अतः वह सुखकारी कैसे हो सकता है।

[गा० २५८-२५९] सारांश यह है कि सर्व साधारण जिसे सुख समझते हैं, वह भी वास्तव में दुख ही है इसलिये सम्यग्दृष्टियों को उन सांसारिक सुखों की अभिलाषा और असक्ति नहीं होती क्योंकि वह विषयों की आसक्ति अज्ञान भाव है, जो मिथ्या दृष्टियों के होती है सम्यग्दृष्टि के नहीं।

[गा० २६२] सम्यक्त्व के प्रभाव से विषयों में केवल अरुचि होती है, उन विषयों का त्याग तो सम्यक्त्व के साथ चारित्र मोह के अभाव से होता है। अतः चारित्र मोह के अभाव में सम्यग्दृष्टियों को विषय सेवन भी पाया जाता है।

[गा० २६५] जैसे पराधीन पुरुष, अपनी इच्छा के न रहते हुवे परवशअनुचित क्रिया को करके भी, वास्तव में अनुचित क्रिया का कर्ता नहीं कहा जा सकता वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी चारित्र मोहोदय वश भोगों को भोग करके भी, वास्तव में भोगों का भोक्ता नहीं कहा जाता।

[गा० २६७] क्योंकि जब तक सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पद में स्थित रहता है; तब तक कंथचित विषय सेवन करता है। जिसका कारण चारित्र मोहनीय का उदय है जिसके कारण वह जघन्य पद में है।

[गा० २६८] जब तक चारित्र मोह का उदय है तब तक ही ज्ञानी जीव अनासक्ति पूर्वक इष्टानिष्ट बुद्धिकरता है। किन्तु जब चारित्र मोहनीय का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभाव हो जाता है तब वही शुद्ध वीतराग हो जाता है।

[गा० २७३] जैसे रोग का प्रतिकार रोग की उत्पत्ति में कारण नहीं होता, वैसे ही केवल कर्मोंदयवश उत्पन्न होने वाली आकुलता के निवारणार्थ भोगे हुए भोग, नवीनकर्मों के आश्रव में कारण नहीं हो सकते।

[गा० २७४] चूंकि सम्यग्दृष्टि के भोग इच्छापूर्वक नहीं होते इसलिये वे रागजनक नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे उपेक्षा भाव के साथ होते हैं ?

[गा० २७५] यद्यपि सम्यग्दृष्टि को मुख्य रूप से ज्ञान चेतना ही होती है फिर भी गौण रूप से जो कर्म व कर्म फल चेतना होती है, वह भी रोग के प्रतिकार की तरह राग-रहित होने के कारण ज्ञान चेतना ही है।

[गा० २७६] कर्म और कर्मफल चेतना से बंध ही होता है, पर सम्यग्दृष्टि के कर्म व कर्मफल चेतना इच्छा रहित होती है, इसलिये उसे बंध नहीं होता और वह भी ज्ञान चेतना ही है।

[गा० २८४] इन्द्रिय जन्य ज्ञान कभी घट जाता है, कभी बढ़ जाता है, कभी खत्म हो जाता है, इसलिये मृगी रोग के समान मूर्च्छित ज्ञान ही है।

[गा० २९३] जिस समय जितने अंशों वाला मतिश्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम हो, यदि उसी समय उतने ही अंशों में वीर्यातराय कर्म का क्षयोपशम हों, (शक्ति की उपेक्षा से) तो तभी इन्द्रिय ज्ञान की लब्धि कही जाती है।

[गा० ३००-३०१] इस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान की लब्धि हो जाने पर भी यदि सभी सामग्रीयो का जैसे पर्याप्ति, प्रकाश का होना आदि का सदभाव हो, तभी लब्धि ज्ञान का उपयोग हो सकता है अन्यथा नहीं। इस प्रकार सारांश यह है कि वाह्य हेतु के बिना वह इन्द्रिय ज्ञान लब्धि रूप ही रहता है, उपयोग रूप नहीं हो पाता।

[गा० ३०८-३०९] दु:ख दो प्रकार का होता है (१) बुद्धिपूर्वक और (२) अबुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वक के दृष्टांत तो बहुत मिल जाते हैं परन्तु अबुद्धिपूर्वक जो दु:ख है वह केवल अनुभव गोचर होता है और वह संसारी जीव को सदैव रहता है और बुद्धिपूर्वक दु:ख कभी रहता है कभी नहीं अर्थात जब पंचेन्द्रिय संज्ञी अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह अनुभव में आता है और वह सिद्ध ही है, उसके निरुपण की आवश्यकता नहीं।

[गा० ३१३-३१४] यद्यपि आत्मा का अविनाशी सुख गुण स्वत: सिद्ध है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु घातिया कर्मों के द्वारा घाते जाने के कारण, उसका दर्शन नहीं होता इस प्रकार धातियों कर्मो के कारण जो सुखका अदर्शन हो रहा है, वही अवुद्धि जन्य दुःख है और इसका सदभाव सिद्ध होता है।

[गा० ३२७] निश्चय से निराकुल सुख अनुजीवी जीव का गुण है और जो उस सुख के विपरीत आकुलता है वह उस सुख के गुण के घातक घातियां कर्मों की शक्ति है अर्थात घातिया कर्मो के उदय से उस सुख का अदर्शन है।

[गा० ३२९] इसलिये कर्मबन्धन वद्ध संसारी आत्मा के जब तक कर्मों का उदय रहता है, तव तक सब प्रदेशों में प्रकम्प पैदा करने वाला दुख सिद्ध है।

[गा० ३४०-३४१] जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि केवल शरीर मन और इन्द्रिय सम्बन्धी बुद्धिपूर्वक होने वाला दुख ही दुख नहीं है किन्तु कर्ममात्र का उदय दुख है। यदि ऐसा नही माना जायेगा तो तीनों दुख केवल संज्ञी जीवों के ही माने जावेंगे, असज्ञियों के नहीं, ऐसा मान लिया जाएगा जबकि असंज्ञी को अधिक दुख है।

[गा० ३५१] मतिज्ञानादि के समय आत्मा उपादान कारण है और देह इन्द्रिया तथा उन इन्द्रियों के विषय केवल वाह्य हेतु हैं, अतः वे अहेतु जैसे हैं। जैसे मृत अवस्था में इन्द्रियों के रहते भी इन्द्रियाज्ञान नहीं होता।

[गा० ३५२] जीव संसार अथवा मोक्ष, दोनों ही अवस्था में अपने ज्ञानादि लक्षणों से युक्त रहता है अतः आत्मा ही स्वयं ज्ञान अथवा सुखमय होता है।

[गा० ३५६] अतः सिद्ध होता है कि आत्मा के उस इन्द्रिय जन्य ज्ञान और सुख के प्रति शरीर को तथा पांचों इन्द्रियों को तथा उन इन्द्रियों के विषयों को अकिन्चित्कारित्व है।

[गा० ३६३-३७१] आत्मा की संसार अवस्था में साधारण ज्ञान और सुख होता है तथा मुक्त अवस्था में शुद्ध ज्ञान व सुख होता है। इसलिये आत्मीक ज्ञान और सुख के रहस्य को जानने वाला आत्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख तथा ज्ञान में राग-द्वेष नहीं करता।

[गा० ३७४] जैसे सम्यग्दृष्टि को उक्त इन्द्रिय जन्य सुख और ज्ञान आदेय नहीं होते वैसे ही आत्मा प्रत्यक्ष होने के कारण सम्पूर्ण कर्म (तीर्थंकर प्रकृति) भी आदेय नहीं होते।

[गा० ३७५-३७६] पांचों ज्ञानो में मति-श्रुत ज्ञान से सम्यक्त्व नहीं जाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जा सकता। वह तो परमावधि, सर्वावधि, मनपर्ययः और केवल ज्ञान से ही जमा जा सकता है।

[गा० ३८०] दर्शन मोहनीय के उपशम से जीव की अवस्था विशेष, उपशम सम्यक्त्व है। किन्तु चेतना के आकार में होने वाली किसी प्रकार की विशेषता सम्यक्त्व नहीं।

[गा० ३८२-३८३] जैसे सूर्य के उदय होने पर सम्पूर्ण दिशायें प्रसन्न हो जाती है वैसे ही दर्शन मोह के उपशम से होने वाले सम्यक्त्व के होने पर आत्मा में प्रसन्नता (निर्मलता) उत्पन्न हो जाती है।

[गा० ३८६-३८७] सम्यग्दृष्टि जीव के श्रद्धान आदि गुण लक्षण, वाह्य लक्षण है, इसलिये केवल उन श्रद्धानादिक लक्षण को ही सम्यक्त्व नहीं कहते क्योंकि वे श्रद्धानादि तो ज्ञान की पर्याय है। इसो प्रकार स्वानुभूति भी सम्यक्त्व का अतरंग लक्षण नहीं हो सकता केवल वाह्य लक्षण हो सकता है क्योंकि स्वानुभूति भी ज्ञान की ही पर्याय है सम्यक्त्व की नहीं।

[गा० ४००-४०१-४०२] सम्यक्त्व आत्मा का एक गुण है और वह सूक्ष्म तथा वचनों के अगोचर है, इसलिये कोई भी पुरुष उसके विधिपूर्वक कहने तथा सुनने का अधिकारी नहीं है। आत्मा के ज्ञान गुण के अलावा ओर सव गुणों में, कोई आत्मा की सिद्धि में तथा स्वानुभूति में हेतु नहीं पड़ता अतः ज्ञान ही परम पद है और वह स्वानुभूतिपूर्वक जो ज्ञान है वह सम्यक्दर्शन के बिना आत्मा में नहीं होता।

[गा० ४०३] इसलिये सम्यक्त्व और स्वानुभूति में व्याप्ति होने के कारण वचन के अगोचर सम्यक्त्व भी वचन गोचर हो जाता है अतः यदि शुद्ध नयात्मिक हो तो वह स्वानुभूति सम्यक्त्व कहला सकती है।

[गा० ४०४] सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति इन दोनों में विषम व्याप्ति है क्योंकि उपयोग रूप स्वानुभूति के साथ, सम्यक्त्व की समव्याप्ति नहीं है किन्तु लब्धि रूप स्वानुभूति के साथ ही सम्यक्त्व की समव्याप्ति है। अर्थात सम्यग्ज्ञान रूप स्वानुभूति का सम्यक्त्व कारण है और स्वानुभूति कार्य, इसलिये उपयोग रूप स्वानुभूति के होने पर सम्यक्त्व का वोध होता है, परन्तु सम्यक्त्व के होने पर उपयोग रूप स्वानुभूति होती ही है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि छद्मस्थ सम्यक्दृष्टि के स्वानुभूति से भिन्न भी उपयोग भी पाया जा सकता है किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ स्वानुभूत्यावरण का भी क्षयोपशम होता है। अतः लब्धि रूप स्वानुभूति के साथ सम्यक्त्व की समव्याप्ति है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४०५] स्वानुभूति कार्य है और सम्यक्त्व कारण है अतः उपयोग रूप स्वानुभूति के साथ सम्यक्त्व की विषमव्याप्ति है।

[गा० ४०६-४०७] सम्यक्त्व के होने पर स्वानुभूति उपयोग हो ही, ऐसा नियम नहीं, परन्तु सम्यक्त्व के होने पर, लब्धि रूप स्वानुभूति अवश्य रहती है। और इस लब्धि रूप स्वानुभूति रहने का कारण यह है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय स्वानुभूत्यावरण कर्म का भी यथा योग्य क्षयोपशम होता है।

[गा० ४११] आगमानुसार तत्वार्थ विषयक श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, और आचरण को सम्यक्त्व कहते हैं।

[गा० ४१२-४१३] तत्वार्थी के विषय में उन्मुख बुद्धि को श्रद्धा, तत्वार्थी के विषय में तन्मयता रुचि, तत्वार्थ का स्वरूप जिस प्रकार है, वह उसी प्रकार है, ऐसा स्वीकारना प्रतीति, तथा उसके अनुसार आचरण करना चरण कहलाता है। इनमें श्रद्धा, रुचि, और प्रतीति तो ज्ञान की पर्याय होने से ज्ञानरूप पड़ते हैं तथा वचन, काय और मन से शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना आचरण कहलाता है।

[गा० ४१४] चूंकि उपरोक्त चारो लक्षण, पृथक-२ रूप से अथवा समस्त रूप से, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के पाये जा सकते हैं अतः वास्तव में सम्यग्दर्शन के लक्षण नहीं हो सकते।

[गा० ४१५] इसलिये उपरोक्त गुण स्वानुभूति सहित हैं तो सम्यग्दर्शन के कहे जा सकते हैं अन्यथा नहीं।

[गा० ४२२-२३] जैसे उन्मत्त पुरुष, माता और पत्नी में बिना किसी विशेषता के कभी माता को माता और पत्नी को पत्नी कह देने पर भी, वह उन्मत्त ही कहलाता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि द्वारा तत्वों को सही निरुपण कर देने पर भी आवश्यक नहीं कि वह सत् श्रद्धानी हो। स्वानुभूति सहित ही सत् श्रद्धा होती है।

[गा० ४२५] उपरोक्त लक्षणों के अलावा, सम्यग्दृष्टि के, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और अस्तिकय, ये चार लक्षण हैं।

[गा० ४२६-४२७] पांचों इन्द्रियों के विषय में तथा क्रोधाधि कषायों में स्वभाव से ही मन का शिथिल होना प्रशम है। अथवा अपराधियों के प्रति भी मन्द कषायपने के कारण प्रत्युपकार न करना प्रशम है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४३१] धर्म और धर्म के फल में परमोत्साह होना और साधर्मीजनों और पंचपरमेष्ठी में अनुराग रखना संवेग है।

[गा० ४३९-४४०-४४१] इष्टसिद्धि से लिये केवल अभिलाषा कारण नहीं है किन्तु योग्य कारण सामग्री कारण है। कीर्ति, सम्पत्ति और पुत्रादि की प्राप्ति की इच्छा सबको ही होती है, परन्तु पुण्योदय के बिना केवल इच्छा मात्र से किसी को भी उनकी प्राप्ति नहीं होती। जरा, मृत्यु आदि कोई भी नहीं चाहता परन्तु पाप उदय से इच्छा विना समागम होता है।

[गा० ४४६] वैर के त्याग पूर्वक सब प्राणियों पर अनुग्रह, मैत्री भाव, माध्यस्थ-भाव और शल्य रहित वृत्ति अनुकम्पा कहलाती है।

[गा० ४५२] स्वतः सिद्ध व तत्त्वों के सदभाव में तथा धर्म में, धर्म के हेतु में और धर्म के फल में जो निश्चय रखना है वह जीवादि पदार्थों में अस्तित्व बुद्धि रखने वाला आस्तिक्य गुण है।

[गा० ४५८] निश्चय व्यवहार नय से अनादि से जो और जैसे जीवादिक सम्पूर्ण पदार्थ है, उनको वैसे ही जानना, मानना आस्तिक्य है।

[गा० ४६६] सम्यक्त्व होने पर, उपरोक्त चारों लक्षणों के, संवेग, निर्वेद, आत्मनिन्दा, गर्हा, प्रशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ, उपलक्षण है। संवेग के भक्ति व वात्सल्य उपलक्षण है। प्रशम के आत्मानिन्दा तथा गर्हा उप लक्षण है।

[गा० ४७९-४८०] सम्यग्दृष्टि के निःशंक्ति, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढ़दृष्टि उपवृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना आठ अंग लक्षण भी है।।

[गा० ४८९] सम्यग्दृष्टियों का, अपनी आत्मा को जानने वाला स्वसंवेदन ज्ञान, सिद्धों के समान शुद्ध होता हैं।

[गा० ४९०] यद्यपि आत्मा सबके द्वारा अनुभव करने योग्य है परन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय रहते, किसी को उसका अनुभव नहीं होता है।

[गा० ४९१] सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के पदार्थ के विषय करने में केवल स्वाद भेद होता है किन्तु उनके विषयभूत पदार्थों में वास्तविक भेद नहीं होता क्योंकि कोई भी पदार्थ अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४६५] निश्चय करके, पर पदार्थों में आत्मीय बुद्धि के बिना, भय हो सकता है। अतः पर्याय में मोह (ममकार, अहंकार) करने वाले मिथ्या दृष्टियों को ही भय होता है, केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टियों को भय नहीं होता है।

[गा० ५००] चारों संज्ञाये आहा, भय, मैथुन, परिग्रह, अज्ञानी व ज्ञानी दोनों के पाई जाती हैं यह तो ठीक है परन्तु अहंकार, ममकार के भाव न होने से, सम्यग्दृष्टि जीव भयवान होकर भी वास्तव निर्भय ही है जैसे चक्षु इन्द्रिय-रुपी पदार्थ को देखने पर भी उपयोग न रहने पर उसे नहीं देखता। परन्तु मिथ्यादृष्टि रागी द्वेषी होने से भययान रहता है।

[गा० ५०४-५०५] भय सात प्रकार है। (१) इह लोकभय (२) परलोक-भय (३) वेदनाभय (४) अत्राणभय (५) अगुप्ति भय (६) मरणभय और (७) आकस्मिक भय इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव निशंक रहता है।

[गा० ५८२] सब जीवों में कर्मोदय वश ही त्रस, स्थावर आदि भेद हैं, आत्मदृष्टि में नहीं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को सब जीवों में सदृशता होती है।

[गा० ५८३] जैसे कि शूद्र के दो बच्चे अलग-अलग होकर ब्राह्मण व शूद्र के यहां पलने कारण बड़े होकर ब्राह्मण व शूद्र कहलाते हैं परन्तु वास्तव में है तो दोनों शूद्र ही। वैसे कर्मोपाधि से नाना जीवों में भेद पाया जाया है, वास्तव में वे सब ही संसारी कर्ममलीमस है।

[गा० ५८६] अतत्त्वों में तत्त्व की श्रद्धा को मूढ़दृष्टि कहते हैं। वह मूढ़-दृष्टि जिस जोव की नहीं है, वह अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि है।

[गा० ५९५] कुदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, कुगुरु में गुरुबुद्धि जो होती है, वह देवादिमूढ़ता कहलाती है।

[गा० ६०९ से ६१४] कर्म मल रहित देव एक ही है। वह जगत पूज्य है, इसलिये अर्हंत, कर्म रुपी शत्रुओं की जीतने वाला होने से 'जिन' देवों का देव है इसलिये 'महादेव' सम्पूर्ण जीवों को सुख देने वाला है इसलिये शंकर, सम्पूर्ण पदार्थ पदार्थ ज्ञान गत है इसलिये 'विष्णु' शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है इसलिये 'ब्रह्मा' और जगत के दुखों का नाश करने वाला है, इसलिये हरि' कहलाता है। अनेक नामों में कोई दोष नहीं।

[गा० ६१६] तत्त्व वचन अगोचर ही है। वह जो द्वादशांग गोचर कहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है, वह सब स्थूल दृष्टि की अपेक्षा से कहा जाता है।

[गा० ६१७-६१८] अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व- अव्यावधत्व और अगुरुलघुत्व, ये सिद्धों के आठगुण है।

[गा० ६२८] जो आत्मा का शुद्धभाव, निर्जरादिक का कारण है, वह ही, परम पूज्य है और उस भाव से युक्त आत्मा ही केवल गुरु कहलाता है।

[गा० ६३०] छठें गुणस्थान से लेकर वारहवें गुणस्थान तक के मुनियों को, सम्पूर्ण घातिया कर्मों का नाश न होने से छद्मस्थ कहते हैं। फिर भी उनमें मोहनीय कर्म का वहाँ उदय नहीं है, यथा संभव क्षयोपशम रहता है, अतः उनमें गुरुपना होना सार्थक है।

[गा० ६३८-६३९-६४४] गुरु की आचार्य, उपाध्याय, और साधु, तीन अवस्थायें हैं। उनमें प्रयोजन, क्रिया, वाह्य भेष, बारह प्रकार का तप, पाँच प्रकार का व्रत, तेरह प्रकार का चारित्र, समता भाव मूलगुण, उत्तर गुण, संयम, परीषह, उपसर्गों का सहन, आहारादिक विधि, चर्या, आसन, शयन मोक्ष का मार्गभूत निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय, ध्याता, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार प्रकार की आराधना, और उत्तमक्षमादि दशधर्म आदि सब सदृश होते हैं।

[गा० ६४६] जो आदेश देता है वह आचार्य है। प्रमाद वश व्रतों के छिन्न-भिन्न होने पर जो मुनियों को प्रायश्चित देता है, आदेश देता है और पालन कराता है वह आचार्य हैं।

[गा० ६४७] आदेश और उपदेश में अन्तर है। आदेश पालना ही पड़ता है। उपदेश का पालना न पालना अपनी इच्छा पर निर्भर है उसमें भंग करने का दोष नहीं लगता।

[गा० ६५२] व्रती पुरुषों का, दूसरों को उपदेश देने से उनको स्वयं राग नहीं होता और रागी पुरुषों द्वारा उपदेश देने से राग की पुष्टी होती है। अतः रागी अव्रती पुरुषों को उपदेश देना निषिद्ध बताया है।

[गा० ६५८] इस प्रकार जो आचार्य, पूर्वोक्त तप, व्रत, शील, संयमादि को धारण करने वाला है वही साक्षात गुरु आचार्य है।

[गा० ६५९ से ६६५] जो मुनि शंका समाधान करने वाला हो, वाद पटु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो, अनेकांत का यथार्थ वेत्ता हो, वाग्मी हो, शब्द ब्रह्म तथा सिद्धांत शास्त्रों का पारगामी हो, सूत्रों का शब्दार्थ द्वारा सिद्ध करने वाला हो, स्वाभाविक प्रतिभा सम्पन्न होने से कवि हो, शब्दों का माधुर्यपूर्वक अर्थ प्रगट करने वाला हो और वक्ताओं में अग्रणी हो, वह उपाध्याय कहलाता है।

[गा० ६६७-६७४] जो आत्म कल्याण की भावना से रत्नत्रय को साधते हैं, वों आचार्य की तरह आदेश को तथा उपाध्याय की तरह उपदेश को नहीं देते सदैव आत्मध्यान में मग्न रहने से उपदेश देने की इच्छा भी नहीं करते, अंतरंग, वहिरंग व्यापार से रहित शांत रहते हैं, न स्वर्ग अथवा मोक्ष मार्ग का आदेश-उपदेश देते हैं दिगम्बर परमदयालु, परीषहों को सहने वाले आदि गुणों से युक्त होते हैं, वे साधु हैं। जो इन गुणों से युक्त नहीं है, न वे साधु है और न ज्ञानियों द्वारा वंदनीय है।

[गा० ६९०] आत्मा को चारित्र से च्युत करना, चारित्र मोह का कार्य है किन्तु शुद्धात्मानुभव से च्युत करना चारित्रमोह का कार्य नहीं है।

[गा० ६९२] कषायों के होने का नाम आत्मा का चारित्रगुण से च्युत होना है। और निश्चय से जितना कषायों का अभाव है, उतना ही चारित्र है।

[गा० ६९४-६९७] आचार्य, उपाध्याय व साधु में एक दूसरे में जो विशेषता है वह केवल दीक्षा, आदेश, और उपदेश की अपेक्षा से है, शेष सब बातों में समान है।

[गा० ७१२-७१३] श्रेणी के आरोहण काल में, विशुद्धि की वृद्धि से स्वयं मेव साधु पद प्राप्त होता है क्योंकि वहा शुक्ल ध्यान में, वाह्य उपयोग के लिये विल्कुल ही अवकाश नहीं। ऐसा नहीं है कि श्रेणी चढ़ते समय आचार्य अथवा उपाध्याय पहले अपने पद की भले प्रकार छदोपस्थापना करके पीछे साध पद को ग्रहण करते हैं।

[गा० ७१८-७१९] सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही गृहस्थ अथवा मुनिधर्म को धर्म कहते हैं, उसके विना धर्म नहीं किन्तु अधर्म शब्द से कहे जाते हैं। मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति को तो रुढ़ि से ही धर्म कहा जाता है।

[गा० ७२५-७२६] तीन मकार, पांच उदूबर फल के त्याग करने वाले ग्रहस्थ को श्रावक नाम से कहा जाता है, इसके विपरीत वह श्रावक भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं। जब ऐसा है तो पाक्षिक, गूढ़, नैष्टिक और साधक, इन मूल गुणों बिना श्रावक कैसे हो सकता है।

[गा० ७२९-७३०-७३१] श्रावकों को श्रद्धा बुद्धि से जघन्य, मध्यम और उत्तम पात्रों को चार प्रकार का दान देना चाहिये। अपात्र व कुपात्र को भी कृपा बुद्धि से दान देना चाहिये, पात्र बुद्धि से नहीं। करुणा बुद्धि से दान देने का निषेध नहीं है। इनके अलावा बाकी बचे अशुभ कर्म के उदय से भूखें, पीडितों को भी अभयदान देना चाहिये।

[गा० ७४०] ग्रहस्थों को अपनी शक्ति अनुसार, प्रतिमारूप से, अथवा बिना प्रतिमा के संयम पालन करना चाहिये। प्रतिमा सहित संयम नैष्टिक श्रावक और बिना प्रतिमा श्रावक पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

[गा० ७४४-७४५] मुनिव्रत अठाइस मूलगुण होने पर ही होता है, कम में नहीं। वे २८ मूलगुण, ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय जय, ६ आवश्यक दिगम्बरत्व, कैशलोच, अदेतधोवन, अस्नान, भूमिशयन, खड़े होकर भोजन करना और एक बार भोजन लेना, है।

[गा० ७४७] सागार धर्म और अनागार धर्म, दोनों में ही अहिंसा मूलधर्म है।

[गा० ७५० से ७५२] "सर्व सावद्ययोग निवृत्ति" शब्द का 'अर्थ सब प्रकार की हिंसा में, आत्मा के सब प्रकार के उपयोग का त्याग" है। इसी को व्रत कहते हैं, इसी से एक देशव्रत व महाव्रत बनता है।

[गा० ७५३] इसलिये जीवों पर दया करना बहिरंग व्रत व अपनी कषायों का त्याग करना अंतरंग व्रत है। यही अंतरंग व्रत स्वदया है।

[गा० ७५५] वास्तव में रागादिक को ही हिंसा, अधर्म और व्रतच्युति तथा रागादिक के अभाव को अहिंसा, धर्म और व्रत समझना चाहिये।

[गा० ७५६] आत्मा राग द्वेषादिक हिंसा से रहित होकर जो आत्मा में लीन होता है, उसी को शुद्धोपयोग कहते हैं और वही चारित्र है।

[गा० ७६१-७६२] रुढ़िवश व्यवहार से शुभ प्रवृति भी चारित्र कहलाती है परन्तु वह शुभास्रव का ही कारण है, संवर व निर्जरा का नहीं। इसलिये वह शुभोपयोग अशुभपयोग की तरह बंध का ही कारण है। शुद्धोपयोग को छोड़कर शेष सब क्रियायें केवल बंध की जनक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ७६४] कर्मों की आस्रव रूप क्रिया का रुक जाना, वह स्वरूपाचरण है और वही चारित्र कहलाता है, शुद्धोपयोग है तथा धर्म है। निश्चय से चारित्र ही धर्म है। मोह और कषाय रहित आत्मा का परिणाम ही धर्म है।

[गा० ७७०] सम्यग्दर्शन के बिना जो चारित्र व ज्ञान होता है, वह न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यग्चारित्र है, वह तो केवल कर्मबन्ध ही को करने वाला है।

[गा० ७७२] संक्षेप में इतना समझो कि जितने अंश में राग है, उतने अंशों में बन्ध है, जितने अंशों में राग का अभाव है, उतने अंश मोक्ष है।

[गा० ७८७] सम्यग्दृष्टि जीव को सत् क्रियाओं के करने में अपनी शक्ति को नहीं छिपाना चाहिये, किंतू प्रयत्न से बढाना ही चाहिये।

[गा० ८०४] धर्म के आदेश और उपदेश द्वारा, दूसरे जीवों का हित करना चाहिये, परन्तु अपने व्रत को छोड़कर नहीं क्योंकि आगम में कहा है कि सदैव आत्म कल्याण ही करना चाहिये। ऐसे अवसर पर जहाँ एक ही हो सकता हो, वहां परहित छोडकर स्वहित करें।

[गा० ८२३] ज्ञान चेतना ही सम्यग्दृष्टि का अंतरंग लक्षण है। जिन बाह्य चिन्हों से सम्यग्दृष्टि की पहचान होती है, वे सम्यग्दर्शन के बाह्य लक्षण है।

[गा० ८२६ से ८३३] कुछ विद्वान सम्यग्दृष्टि के दो भेद (१) सराग सम्यग्दृष्टि और (२) वीतराग सम्यग्दृष्टि। उनकी समझ में वीतराग सम्यग्दृष्टि के ही ज्ञान चेतना होती है, सराग के नहीं। यह गलत है। ऐसा मानना हाथी के सतृण भोजन की तरह मिथ्यादृष्टित्व का विषय है, सम्यग्दृष्टित्व का नहीं क्योंकि रागांश और विकल्पांश सम्यक्त्व का धर्म नहीं, किन्तु मोही का धर्म है।

[गा० ८४०] इन्द्रिय जन्य ज्ञान क्रमवर्ती है, अक्रमवर्ती नहीं क्योंकि वह एक व्यक्ति को विषय करता है।

[गा० ८४२] अन्य सब विषयों से चित्त को हटाकर किसी एक विषय में चित्त के लगाने को ध्यान कहते हैं। ध्यान में भी क्रम ही है, अक्रम नहीं।

[गा० ८४६] छद्मस्थ अल्पक्ष जीवों में जो चारो ज्ञान पाये जाते हैं, वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब नियम से क्रमवर्ती होने के कारण संक्रमण रूप होते हैं। केवल ज्ञान, क्षायिक ज्ञान होने के कारण असंक्रमणात्मक होता है।

[गा० ८४८] क्षयोपशमिक ज्ञान का विकल्पपना, ज्ञान चेतना का बाधक नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान चेतना का बाधक विवक्षित ज्ञानावरण का उदय ही हो सकता है, क्षयोपशम नहीं।

[गा० ८५१-८५२] सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियों को जब तक सम्यक्त्व रहता है। धारा प्रवाह मे अथवा अखण्ड एक धारा सदैव ज्ञान चेतना होती है। यह बात लब्धि रूप की अपेक्षा से है उपयोग रूप की अपेक्षा से नहीं। जिस समय मिथ्यात्व कर्म का उपशम, क्षयोपशम किंवक्षय होता है, उसी समय स्वानुभूत्यावरण नामक मति ज्ञानावरण का भी क्षयोपशम अवश्य हो जाता है। इसलिये सम्यक्त्व के साथ ज्ञान चेतना का नित्य सम्बन्ध रहता है।

[गा० ८५३ से ८५६] जैसे भावेन्द्रिय और भावमन, से दोनों लब्धि तथा उपयोग रूप होते हैं। वैसे ही स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली ज्ञान चेतना भी लब्धि व उपयोग रूप रहती है। अतः उपयोगात्मक ज्ञान चेतना का अभाव लब्धि रूप ज्ञान चेतना के नाश में कारण नहीं हो सकता। सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान चेतना का उपयोग होता ही रहता है, ऐसा नियम नहीं किन्तु ज्ञान चेतना का उपयोग होगा तो सम्यक्त्व के होने पर ही होगा।

[गा० ८५९] जिस समय ज्ञान चेतना रूप शुद्ध आत्मोपयोग होता है, उस समय उस उपयोग में अर्थ से अर्थांतर गति नहीं होती है, इसलिये उतने समय तक उपयोग भी निर्विकल्प ही है।

[गा० ८६६] क्षयोपशमिक ज्ञान, अपने विषयों में इष्टानिष्ट कल्पना के अनुसार प्रति समय प्रत्यक्ष परिणामी होता रहता है। परन्तु उसके निमित्त से सम्यक्त्व में न कुछ दोष पैदा होता है तथा न गुण ही। क्योंकि चारित्र मोह के उदय से होने वाली इष्टानिष्ट कल्पना से सम्यक्त्व में कोई लाभ हानि नहीं।

[गा० ८७२] ज्ञान और सम्यक्त्व के गुण पृथक पृथक है और इनके बाधक कर्म भी पृथक पृथक हैं।

[गा० ८७८-८७९] ज्ञान चाहे आत्मा में उपयोग कर रहा हो, अथवा कदाचित् पर पदार्थों में उपयोग कर रहा हो, किन्तु सम्यक्त्व भावों के होने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
5217

पर वे निर्जरादिक अवश्य होते हैं। क्योंकि शुभाशुभ बंध तो रागद्वेष और मोह से होता है, उपयोग से नहीं।

[गा० ८८२-८८३] मिथ्यात्व, दर्शन मोह के उदय से होता है और रागादि भाव चारित्रमोह के उदय से होते हैं। उपयोग रूप ज्ञान क्षयोपशमिक भाव है। क्योंकि वह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। मिथ्यात्व तथा रागादि सम्यक्त्व व चारित्र गुण की विपरीत अवस्था है।

[गा० ८८७-८८८] ज्ञान के कारण रागादिक की और रागादिक के कारण ज्ञान की, हानि वृद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों के अलग-२ कारण हैं इससे सिद्ध है कि ज्ञान की विशेषता से राग द्वेष की मंदता नहीं होगी किन्तु चारित्र मोह के अभाव से राग द्वेष का अभाव होता है।

[गा० ८९८] सांरांश यह निकलता है कि उपयोग, सम्यक्त्व, तथा वन्ध-मोक्ष का किसी प्रकार भी कारण नहीं है।

[गा० ९०८-९०९] जैसा रागी का ज्ञान चंचल रहता है वैसा वीतरागी मुनिका नहीं रहता है। इस प्रकार जो पर पदार्थों के रागद्वेष और मोह के कारण ज्ञान में परिवर्तन होता रहता है वह ज्ञान का असली स्वरूप नहीं। वह तो राग की क्रिया है।

[गा० ९१०-९११] बुद्धिपूर्वक राग छठे गुणस्थान तक होता है और ७ वें गुणस्थान से १०वें गुण स्थान तक होने वाला राग अबुद्धिपूर्वक होता है।

[गा० ९१७-९१८] यह स्पष्ट है कि चारित्र मोह कर्म के उदय से होने वाला जो औदायिक राग है, वह सम्यक्त्व व ज्ञान में दोषधायक नहीं। अतः बुद्धिपूर्वक राग न तो सम्यक्त्व का ही घात करता है और न उस सम्यक्त्व के साथ होने वाली ज्ञानचेतना का ही घात करता है।

[गा० ९२१] दर्शन को विकृत करने में असमर्थ, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संजवलन चारित्र मोह के उदय से होने वाले जो रागभाव है, वह सम्यक्त्व ज्ञान चेतना के घातक नहीं होते हैं।

[गा० ९३३] इसलिये अर्थ की अपेक्षा से और उस सम्यक्त्व के लक्षण की अपेक्षा से सम्यक्त्व एक ही है, सराग-वीतराग दो नहीं और उस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान चेतना होती ही है।

[गा० ९६४ से ९७०] सम्पूर्ण भावों की जाति पाँच प्रकार है। कर्मों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपशम से औपशमिक भाव होता है और वह केवल सम्यक्त्व व चारित्र में होता है। प्रतिपक्षी क्यों के सर्वतः क्षय होने पर क्षायिक भाव होता है। प्रतिपक्षी कर्मों में से सर्वधाति स्पर्द्धकों के उदययावी क्षय से और देशधाति स्पर्द्धकों के उदय से होने वाले भावक्षयोंपशमिक भाव है। कर्मों के उदय से जो भाव होता है। वह औदायिक भाव है।

[गा० ६७१] उपरोक्त चारों अवस्थाओं में से किसी की अपेक्षा न रखने वाला, केवल आत्माद्रव्यरूप ही जिसका स्वरूप है, ऐसा जो भाव है वह पारिणामिक भाव, कहलाता है।

[गा० ६७५] औदायिक भाव के २१ भेद, हैं। ४ गति, ४ कषाय, ३ लिंग, १ मिथ्यात्व, १ अज्ञान, १ अंसंयमत्व, १ असिद्धत्व, ६ लेश्या = २१

[गा० ६६६] कर्मों के मूलभेद ८ व उत्तरभेद १४६ है।

[गा० १०८४-१०८५-१०८६] वहुधा तो जो द्रव्यलिंग होता है, वही भाव लिंग होता है। परन्तु कहीं-२ पर द्रव्य लिंग व भावलिंग अलग-२ भी होते हैं।

[गा० १०६२] कर्म भूमियाँ मनुष्य और तिर्यंचों के द्रव्यवेद के अनुसार भाव वेद के होने का नियम न होने से, द्रव्य, स्त्री पुरुष तथा न पुंसकों के भिन्न-२ काल में अपने अपने उदयानुसार तीनों ही वेद हो सकते हैं।

[गा० १०६८] बंध का कारण भाव वेद है, द्रव्य वेद नहीं।

[गा० १११७] व्यवहार से अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होना संयम कहलाता है। परन्तु निश्चय से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि को संयम कहा है।

[गा० ११४४] छहों लेश्यायें औदायिक भाव रूप से मानी गई है क्योंकि ये लेश्यायें योग और कषाय द्रोनों ही के उदय से उत्पन्न होती है। अर्थात कषायों के उदय सहित मन-बचन काय की प्रवृति को भाव लेश्या कहते हैं और वर्णनामा नाम कर्म के उदय से होने वाले शरीर के वर्ण को द्रव्य लेश्या कहते हैं। भाव लेश्या जीव के औदायिक भावो में है। द्रव्य लेश्या नही और वह भाव लेश्या कषायों के उदय से अनुरंजित मन बच काय की प्रवृत्ति है।

—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. परमात्म प्रकाश

[गा० ८-९] शिष्य प्रभाकर भट्ट अपने गुरु श्री योगीन्द्र देव को नमस्कार कर श्री गुरु से भक्ति पूर्वक विनती करता है कि हे स्वामी, इस संसार में रहते हुवे हमारा अनन्त काल बीत गया लेकिन मैंने कुछ भी सुख नहीं पाया, उल्टा महान दुख ही पाया है।

[गा० १०] हे गुरु देव चारों गतियों के दुखों से तप्तायमान संसारी जीवों के चारों गतियों के दुखों को नाश करने वाला, जो कोई चिदानंद परमात्मा है, उसको कृपा करके बताइये। इस प्रकार विनती की।

[गा० १२] श्री गुरुयोगीन्दुदेव कहते हैं कि हे प्रभाकर भट्ट सुन ! आत्मा तीन प्रकार जानकर बहिरात्म स्वरूप भाव को छोड़कर जो परमात्मा स्वभाव है उसे स्वसंवेदन ज्ञान से अन्तरात्मा होता हुवा जान। वह स्वभाव केवल जानकर परिपूर्ण है।

[गा० १३] मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुवा बहिरात्मा, वीतराग निर्वि-कल्प स्वसंवेदन ज्ञान रूप परिणमन करता हुवा अंतरात्मा और शुद्ध बुद्ध स्वभावरूप परमात्मा, इस प्रकार आत्मा तीन प्रकार है। जो देह को ही आत्मा मानता है, वह प्राणी बहिरात्मा है।

[गा० १४] जो पुरुष परमात्मा को शरीर से जुदा केवल ज्ञान कर पूर्ण जानता है, वो ही परमसमाधि में तिष्ठता हुआ अंतरात्मा है।

[गा० १५] जिसने ज्ञानावरणादि कर्मो को नाश करके और सबदेहादि पर द्रव्यों को छोड़कर केवल ज्ञान मई आत्मा पाया है, उसको शुद्ध मन से परमात्मा जान और उसी का ध्यान कर।

[गा० २५-२६] औदायिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण, ये पांच शरीर जिसके नहीं है अर्थात निराकार है, ऐसा जो सिद्ध परमात्मा, लोक शिखर पर विराजमान है और जो कार्य समयसार है, वैसा ही सब लक्षणों सहित, पर ब्रह्म, शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कर शक्ति रूप परमात्मा, तेरा आत्मा शरीर में निष्ठता है, इसलिये सिद्ध भगवान और अपने में भेद नहीं।

[गा० २७-२८] हे प्रभाकर भट्ट ! तू सब विकल्पों व विभावों को छोड़कर, अपने में बसे उस कारण समयसार में ध्यान लगा जिसके ध्यान से शीघ्र ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्वाण के बाधक सब कर्मों का नाश हो जाता है।

[गा० २६] वह कारण परमात्मा रूप आत्मा, व्यवहार से तो शरीर में ठहरा हुवा कहा जाता है परन्तु निश्चय से वह अपने स्वभाव से ही ठहरा है। शरीर से सर्वथा भिन्न है।

[गा० ३०] जीव व अजीव को एक मतकर। जो पर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुवे रागादि विभाव हैं, उनको भी पर जान। केवल आत्मा को अपनी जान।

[गा० ३२] जो जीव, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होता हुवा, शुद्धात्मा का चिंतवन करता है, उसी की संसार रुपी बेल नाश को प्राप्त होती है।

[गा० ३४] जो देह में रहता हुवा भी, निश्चय से शरीर को छूता भी नहीं और न शरीर उसको छूता है उसी चैतन्य तत्त्व आत्मा को तू परमात्मा जान।

[गा० ३५] जो जीव, समभाव में अर्थात जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख शत्रु-मित्र, इत्यादि में समभाव रखते हुवे योगी हैं, उन योगियों के हृदय में, परमआनन्द को प्राप्त होता हुवा, जो स्फुरायमान होता है, वही तो परमात्मा है।

[गा० ४१] जैसे रुपी पदार्थ को नेत्र देखते हुवे भी, उनसे भिन्न दूर रहते हैं वैसे ही वह आत्मा, जिसके केवल ज्ञान में तीन लोक रुपी संसार झलक रहा है, जगत की किसी वस्तु से तन्मय नहीं होता, उनसे भिन्न ही है।

[गा० ४४] जिसके देह मे रहने से इन्द्रियों का ग्राम बसता है और जिसके पर भव में चले जाने से इन्द्रिय ग्राम नष्ट हो जाता है, वही परमात्मा है।

[गा० ४५[जिस चिदानन्द शुद्धात्मा के, निश्चय से द्रव्य-क्षेत्र-काल भव और भाव रूप पंच प्रकार परिवर्तन स्वरूप संसार नहीं है और जो संसार के कारण प्रकृति स्थिति, अनुभाव व प्रदेश रूप आदि से बंधा भी नहीं है, उसी परमात्मा को, सब लौकिक व्यवहार छोड़कर, तथा वीतराग समाधि में ठहरकर जान और उसी का ध्यान कर।

[गा० ४८] व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि कर्म सुख दुखादि कार्य को पैदा करने वाले हैं, तो भी शुद्ध निश्चय से जिस आत्मा का कुछ भी न तो नया पैदा होता है और न विनाश को पैदा होता है और उसमें न कोई परिवर्तन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है, उस परमात्मा को तू चिंतवन कर।

[गा० ५२-५४-५५] यह आत्मा कर्मरहित होता हुवा लोक आलोक को जानता है, इसलिये सर्व व्यापक कहलाता है। हानि वृद्धि का कारण, शरीर नामकर्म से रहित होता हुवा शुद्ध जीव, न तो घटता है और न बढ़ता है उस कारण जिनेन्द्र देव शुद्ध जीव को चरम शरीर प्रमाण कहते हैं। चूंकि आठों कर्मों के छूट जाने से, शुद्ध जीव में सब दोष छूट जाते हैं, इस लिये इसे शून्य भी कहते हैं।

[गा० ५६] यह आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुवा, कोई द्रव्य इससे उत्पन्न नहीं हुवा, द्रव्य स्वभाव से नित्य हैं और पर्याय स्वभाव से अनित्य है अर्थात विनाशीक है।

[गा० ५७] जो गुण पर्याय सहित है, उसे तू द्रव्य जान। जो सदाकाल पाये जावें, वे तो उन द्रव्यों के गुण है और जो द्रव्य की अनेक रूप परिणति क्रम से हो, वह पर्याय है।

[गा० ५८] हे शिष्य, आत्मा को द्रव्य जान और उसके दर्शन-ज्ञान गुण जान, चारों गतियों के भाव व शरीर को कर्म जनित विभाव पर्याय जान।

[गा० ५९] जीवों के कर्म अनादि काल से हैं। उस जीव ने कर्म नये आरम्भ नहीं किये। उन कर्मों ने यह जीव उत्पन्न नहीं किया। जीव व कर्म अनादि से है।

[गा० ६०-६१] निश्चय नय से तो यह जीव वीतराग चिदानन्द स्वभाव है, पर व्यवहार नय से यह जीव कर्मरूप कारण को पाकर अनेक विकल्प रूप परिणमता है और इसी से पुण्य व पाप रूप होता है और अपने सम्क्त्वादि आठ गुण रूप स्वभाव को नहीं पाता।

[गा० ६२] विषय कषायों से रागी, मोही जीवों के, जीव के प्रदेशों में जो परमाणु बंधते हैं, उन परमाणुओं के स्कंधों को भगवान कर्म कहते हैं।

[गा० ६३-६४] पांचों ही इन्द्रियों के विषय, मन, रागादि विभाव भाव, चारों गतियों के दुख, ये सब जीव के कर्मों के निमित्त से उपजे हैं, पर जीव से भिन्न है। जीव तो केवल ज्ञाता दृष्टा रूप है।

[गा० ६५] जीव के कर्म ही बंध मोक्ष को करते हैं, ऐसा व्यवहार से ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथन है, निश्चय नय से आत्मा कुछ भी नहीं करता, केवल ज्ञाता दृष्टा रूप है।

[गा० ६६] ऐसा कोई प्रदेश नहीं जहां यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता न भटका हो, जिसका कारण जिन वचन की प्रीति न होना है।

[गा० ६७] जैसे बंदी को चौकीदार जहाँ चाहता लाता, ले जाता है, ऐसे हो यह जीव कर्मों के द्वारा ही, तीन लोको में घूमता है, स्वयं कहीं नहीं जाता।

[गा० ६८-६९] आत्मा ही निजवस्तु है, देहादि पदार्थ पर हैं, आत्मा कभी पर द्रव्य रूप नहीं होता और पर द्रव्य कभी आत्मा रूप नहीं होता। यह जीव न उत्पन्न होता है, नमरता है और न बंध मोक्ष को करता है।

[गा० ७०-७१] इस आत्मा का जन्म नहीं, मरण नहीं, बुढ़ापा नहीं, रोग नहीं, वर्ण नहीं, लिंग नहीं, कोई संज्ञा नहीं, ऐसा निश्चय जान। ये सब अवस्थायें तो शरीर की होती है, जीव की नहीं।

[गा० ७३] इस शरीर की कुछ भी दशा होती रहे, तू डर मंत, खेद मत-कर केवल, भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नौकर्म रहित, अपनी आत्मा का ही ध्यान कर, उसी परमात्मा के ध्यान से ही तू संसार सागर से पार होगा।

[गा० ७५] हे शिष्य तू ज्ञान-दर्शन मई आत्मा को छोड़कर, अन्य जो भाव है, उनका चिंतवन न कर, केवल शुद्धात्मा स्वभाव का ही ध्यान कर।

[गा० ७७] अपने को अपने से जानता हुवा, यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है। और सम्यग्दृष्टि होता हुवा जल्दी ही कर्मों से छूट जाता है।

[गा० ७८] शरीरादि पर्यायों में जो लीन होता है, वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव है, और फिर वह अनेक प्रकार के कर्म बांधकर संसार भ्रमण करता है।

[गा० ८०] यह जीव तत्त्वों के स्वरूप को नहीं जानता हुवा, कुछ को कुछ समझता हुवा, यथार्थ न जानता हुवा, इसी कारण संसार भ्रमण करता है।

[गा० ८१ से ८५] अपनी संसारी दशा को ही, अपने को मानता हुवा, और संसारी पर पदार्थों को अपना मानता हुवा, पांच इन्द्रियों के विषयों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुख के कारण मानता हुवा सब पापों को करता हुवा, संसार भ्रमण करता है।

[गा० ८६ से ९३] जब काल पाकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर, अपने स्व-रूप को जानता है और संसार अवस्था को अपनी नहीं समझता, तब मोक्ष अवस्था को पाता है।

[गा० ९४] निज गुण पर्याय का धारक ज्ञान स्वरूप चिदानन्द ही संयम है शील है, तप है। आत्मा ही दर्शन-ज्ञान है और अपने को जानते हुवे, अनु-भवते हुवे, आत्मा ही अविनाशी सुख का स्थान मोक्ष का मार्ग है।

[गा० ९५] इसलिये हे जीव, आत्मा को छोड़कर दूसरा कोई भी दर्शन नहीं हैं, अन्य कोई ज्ञान नहीं है, अन्य कोई चारित्र नहीं है, ऐसा तू जान।

[गा० ९६] हे जीव ! तू दूसरे तीर्थ को मत जावें, दूसरे गुरु को मत सेवें, अन्य देव को मत ध्यावै, केवल एक आत्मा की ही सेवा व ध्यान कर। अर्थात निश्चय से अपना आत्मा ही तीर्थ है, गुरु है और देव है, और सब व्यवहार से है।

[गा० ९७] निश्चय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्चारित्र है और सब तो व्यवहार से है। हे योगी ! एक अपना आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, वही तीन लोक का सार है और कोई नहीं।

[गा० ९९] जिसके मन में निश्चय से अपना निर्मल आत्मा नहीं रहता, उसके शास्त्र, पुराण का ज्ञान व तप, पूजा आदि मोक्ष नहीं दे सकते।

[गा० १०२] जैसे आकाश में सूर्य का प्रकाश अपने को और पर को प्रका-शित करता है, उसी तरह आत्मा अपने को व पर पदार्थों को केवल ज्ञान के द्वारा प्रकाशित करता है, इसका ऐसा ही स्वभाव है, इसमें भ्रम मत कर।

[गा० १०४] जिस आत्मा के जानने से सब पदार्थ जाने जाते हैं, वह आत्मा अपने आत्म ज्ञान के बल से ही जाना जाता है।

[गा० १०७] हे शिष्य ! आत्मा से जुदे भो भाव है, वे भी ज्ञान नहीं है, वे तो जड़ रूप, ज्ञान से रहित हैं. उन धर्म, अर्थ, काम रूप, तीनों भावों को छोड़कर, तू केवल निश्चय से आत्मा का ही अनुभव कर।

[गा० १०८-१०९] हे प्रभाकर भट्ट ! निज आत्मा नियम से अपने ज्ञान के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोचर है। क्योंकि ज्ञान ही आत्मा को जान सकता है इसलिये तू अपने ही ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा का अनुभव कर और किसी ओर अपना उपयोग मत ले जा। जब तक तू अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करता, अज्ञानी ही है।

[गा० ११३] हे जीव ! जहां तेरी बुद्धि है, वहीं तेरी गति है जिसे तू मरकर पावेगा इस लिये तू परम ब्रह्म अपनी निर्मल आत्मा को छोड़कर, किसी भी पर द्रव्य में बुद्धि को मत ले जो।

[गा० ११५-११६] जो आधे निमिष मात्र भी परमात्मा में प्रीति करेगा. तो वह प्रीति सब पापों को नाश कर डालेगी। इसलिये हे जीव, समस्त चिंताओं को छोड़कर, निश्चित होकर, तू अपने मन को परमपद में धारण कर और अपने आत्म देव पर दृष्टि लगा।

[गा० ११७] जो आनन्द सुख तुझे, निज शुद्धात्मा, के अनुभव में मिलेगा वह सुख तीनों लोकों में भी अन्य कहीं नही मिल सकता।

[गा० १२०] जैसे बादल सहित आकाश में सूर्य नहीं दीखता और बादल रहित में चमकता है वैसे ही रागादि रहित निर्मल मन में ही आत्मा का अनुभव हो सकता है, मोह राग द्वेष के साथ नहीं।

[गा० १२४] वह आत्म देव, मंदिर में नहीं है, पाषाण की प्रतिमा में नहीं है, लेप में नहीं है, चित्राम में नहीं है, वह तो समभाव से रहे साधुओं के मन में विराजता है, अन्य जगह नहीं।

[गा० १२६] जो जीव विषय कषायों में जाते मन को, वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से, निज शुद्धात्मा में लगाता है, वही मोक्ष पाता है।

[गा० १२८-१२९-१३०] शिष्य के मोक्ष और मोक्ष के फल तथा मोक्ष का कारण, पूछने पर गुरु बताते हैं कि हे शिष्य ! धर्म, अर्थ, काम, इन पुरुषार्थों से मोक्ष ही उत्तम है और ज्ञानी पुरुष अन्य पुरुषार्थ अर्थात धर्म, अर्थ, काम में परमसुख नहीं मानता, मोक्ष में ही मानता है। यदि ऐसा न होता तो श्री जिनवर देव, धर्म, अर्थ और काम को छोड़कर मोक्ष में क्यों जाते।

[गा० १३५-१३६-१३७] इसलिये तीनों लोकों में जीवों को मोक्ष के सिवाय कोई भी वस्तु सुख का कारण नहीं है. इसलिये हे शिष्य, तू मोक्ष ही का चितवन कर। कर्मरुपी कलंक रहित होने पर जो परमात्म की प्राप्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है. वही तो मोक्ष है, और वह रत्नत्रय के योग से प्राप्त होता है। और केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य, की प्राप्ति और वह निश्चय से हमेंशा रहने वाला, मोक्ष का फल है।

[गा० १३६] जो जीव, अपने से, अपने को, देखता, जानता है, अनुभव करता है, वही विवेकी दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणमता जीव, मोक्ष का कारण है।

[गा० १४०] तू दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप व्यवहार नय को भी जान, क्योंकि उसके जानने से तू पवित्र होगा, वह निश्चय मोक्ष मार्ग का साधक है।

[गा० १४१] जो सव द्रव्यों को जैसा उनका स्वरूप है, वैसा जानें, वैसा ही श्रद्धान करें, वही आत्मा का दोष रहित निश्चल भाव है, वही आत्मा भाव सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का निज स्वभाव है।

[गा० १४६] इन छः द्रव्यों मे जीव पुदगल दो द्रव्य तो क्रियावंत है गमनागमन करते हैं और बाकि चार द्रव्य, धर्म, अधर्म आकाश और काल, हलन चलन क्रिया से रहित है, क्रियावान नहीं है।

[गा० १५१] ये सब द्रव्य लोकाकाश में स्थित है, ये सब एक क्षेत्र में मिले जुले रहते हैं, एक क्षेत्रावगाही है तो भी निश्चय नय कर अपने-२ गुणों में हो निवास करते हैं, पर द्रव्य से मिलते नहीं है।

[गा० १५६] सम्यग्ज्ञान से अपने को और पर को जानकर और सम्यग्दर्शन से अपनी व पर की प्रतीति करके, जो जीव, परभाव को छोड़ता है, उसी ज्ञानी को आत्मा का निज शुद्धभाव रुपी चारित्र होता है।

[गा०. १५७] जो रत्नत्रय का साधक है, वह जीव, अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य का ध्यान नहीं करता, क्योंकि यही ध्यान करने योग्य है।

[गा० १५६] जो परम मुनि भाव कर्म, द्रव्य कर्म नौकर्म मल रहित अपनी निर्मल आत्मा का निरन्तर ध्यान करता है, वही निश्चय कर निर्वाण पाता है।

[गा० १६०-१६१] सब पदार्थों को ज्ञान से पहले सामान्य रूप से देखना दर्शन है और फिर विशेष रूप से जानना ज्ञान है। जो दर्शन के बाद होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १६२-१६३] जो जीव, वीतराग स्वसंवेदन रूप होता हुवा आत्म ध्यान में लीन होता है, दुख सुख में समभाव रखता है, वही शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करता है। वाह्य आभ्यंतर तप भी निर्जरा का कारण है। और उसको ही पुण्य-पाह इन दोनों का संवर होता है।

[गा० १६६] निश्चय से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उसी साधक के होते हैं जिसके समभाव होते हैं। अन्य के तो इन तीनों में एक भी नहीं होता।

[गा० १६८] जिन वस्तुओं से मन में मोह राग द्वेष आदि कषाय उत्पन्न हों, तू उन वस्तुओं का त्याग कर तभी कषाय रहित होता हुवा नियम से वीतराग भाव को प्राप्त होगा जो मोक्ष का कारण है।

[गा० १७३] जो ध्यानी मुनि हैं, (अन्तरात्मा हैं) वे आत्मस्वरूप में रहते हैं, संसारी प्रपचों में नहीं पडते, और जो वहिरात्मा हैं उनको आत्म स्वरूप गम्य नहीं, वे तो संसारी प्रपचों में ही लगे रहते हैं।

[गा० १७५] ज्ञानी अन्तरात्मा जीव, न किसी का शिष्य बनता है और न गुरु, न किसी की निन्दा करता है, न स्तूति, वह तो मोक्ष के कारण एक समता भाव के साथ निर्विकल्प ध्यान को ही निश्चय से करता है।

[गा० १७९] उस अन्तरात्मा महा मुनि ने प्रबृत्ति और निवृत्ति रूप राग द्वेष के स्वभाव को कर्म बंध का कारण जान लिया है, अतः इससे दूर रहता है।

[गा० १८०] विभाव रूप होना बंध का कारण है और स्वभावरूप होना मोक्ष का कारण है जो ऐसा नहीं जानता, वही अज्ञानी मोही जीव पुण्य-पाप को कर्त्ता है।

[गा० १८२] जो जीव, पुण्य और पाप, दोनों को समान संसार का कारण नहीं मानता, वह ही मोहादि से मोहित हुवा संसार भ्रमण करता है।

[गा० १८४] वे पुण्य भी किस काम के जो जीव को पहले राज देते हैं और फिर उसी जीव को नरकादि के दुख देते हैं।

[गा० १८५] सम्यग्दर्शन के साथ मरण भी अच्छा, परन्तु सम्यग्दर्शन से विमुख होकर बड़े से वड़ा पुण्य भी प्राप्त हो, वह अच्छा नहीं।

[गा० १८७] पुण्य से वैभव मिलता है, वैभव से अभिमान होता है, अभि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धिभ्रष्ट होने से पाप होता है, अतः ऐसा पुण्य न होवे।

[गा० १८८] देव शास्त्र गुरु की भक्ति से पुण्य तो होता है, कर्मों का क्षय तुरन्त नहीं होता और द्वेष करने से पाप होता है। जिससे संसार भ्रमण होता है। इस प्रकार देव शास्त्र गुरु की भक्ति परम्परा से मोक्ष कारण है।

[गा० १९०] पाप के उदय से नरक गति और तिर्यंच गति मिलती है, पुण्य से देव लोक मिलता है, पाप-पुण्य से मनुष्य गति मिलती है। पाप-पुण्य दोनों के नाश होने पर ही मोक्ष मिलता है।

[गा० १९१-१९२] पंचपरमेष्ठी की बंदना, अपने अशुभ कार्य की निन्दा, और प्रतिक्रमण आदि सब पुण्य के कारण है, मोक्ष के कारण नहीं। इसलिये ज्ञानी इनको करता है, कराता है अनुमोदना करता है, तो भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में, वह ज्ञानी एक भी नहीं करता है, न कराता है। उसको तो एक ज्ञानमय शुद्धभाव ही करना योग्य है।

[गा० १९५] मिथ्यात्व रागादि से रहित जो शुद्ध परिणाम है, वही अपना है और अशुद्ध परिणाम अपने नहीं है, अतः शुद्धभाव को ही अंगीकार करो।

[गा० १९६] हे शिष्य, तू चाहे जितने क्रियाकाँड कर, लेकिन जब तक मन की शुद्धि नहीं होगी, तब तक किसी प्रकार भी मोक्ष नहीं हो सकता।

[गा० १९८] दान-पूजादि शुभ परिणामों से पुण्य रूप व्यवहार धर्म होता है, विषय कषायादि अशुभ परिणामों से पाप होता है। इन दोनों से रहित, शुद्ध परिणामों से पुण्य-पाप रहित मोक्ष मिलता है।

[गा० २००] वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन रूप निश्चय रत्नत्रय से ही मोक्ष है। जो साधक इससे रहित है वह चिरकाल तक संसार ही में भटकता है।

[गा० २०४-२०५] ज्ञानियों को आत्मा को छोड़कर अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, इसलिये उनका मन विषयों में नहीं लगता। जिसने मरकत-मणि जान लिया उसे कांच से क्या प्रयोजन ?

[गा० २०६] जो जीव कर्म-फल को भोगते हुवे, उनमें इष्ट-अनिष्ठ बुद्धि करता है वह केवल नये कर्मों को बाँधता है, और कोई लाभ नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २०७] और पहले बाँधे हुवे कर्मों को भोगता हुवा जो जीव उनमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं करता, वह नये कर्मो को नहीं बांधता ।

[गा० २०६] यह जीव चाहे जितने शास्त्रों का ज्ञान करे, तपस्या करे लेकिन जब तक वह अपने निर्मल आत्मा का अनुभव नहीं करता तब तक कर्मों से नहीं छूट सकता मोक्ष का कारण केवल आत्मज्ञान ही है ।

[गा० २११] शास्त्रों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही पढ़ा जाता है । यदि उसकी प्राप्ति नहीं हुई तो शास्त्रों को पढ़ना तो केवल मूर्खता ही हुई ।

[गा० २१४-२१५] ज्ञानी और अज्ञानी का यही अन्तर है कि अज्ञानी तो तप करके भी ससांरी भोगों की इच्छा करता है, अपने संघ से कमण्डल पिच्छी आदि से मोह करता है और ज्ञानी केवल कर्मों के क्षय के लिये तप करता है और वाह्य पदार्थों को कर्म बंध का कारण मानता है ।

[गा० २१७] जिसने मुनि लिंग धारण करके भी परिग्रह का त्याग नहीं किया तो, उसने केवल अपने आत्मा को ही ठगा ।

[गा० २२१-२२२] जो जीव परमार्थ पर लगा है, उसके लिये कोई भी जीव छोटा बडा नहीं, उसे सभी दूसरे जीव परम ब्रह्म स्वरूप भासते हैं । अर्थात उन सब में उसी निर्मल आत्मा, परमात्मा को देखता है ।

[गा० २२५] हे शिष्य ! यदि तेरे मन में सम्यग्ज्ञान रुपी सूर्य का उदय हो गया है तो तू दूसरे जीवों में भेद मतकर क्योंकि सभी जीवों में परमार्थ से दर्शन-ज्ञान कहा है, भेद कहा है ।

[गा० २२७] जो राग द्वेष दूर करके सब जीवों को द्रव्य से एक समान ही जानता है, वे ही साधू समता भाव में विराजमान, मोक्ष का लाभ पाते हैं । अर्थात समता भाव, वीतराग भाव मोक्ष मार्ग है ।

[गा० २२६] जी जीव, दूसरे जीवों में शरीर के भेदों से उनमें भेद करता है और उन सबकी निर्मल आत्मा के दर्शन-ज्ञान-लक्षण को नहीं देखता, तो उसे तो गुणों की पहचान ही नहीं है ।

[गा० २३२-२३३] जो सभी जीवों में निश्चयनय से एक स्वभाव (दर्शन-ज्ञान) नहीं देखता और जानता; उस अज्ञानी के समता भाव कैसे हो सकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है ? क्योंकि शारीरिक भेद तो कर्मों के निमित्त है, और कर्म जीव से भिन्न है और काल पाकर यह जीव, कर्मों से अलग हो ही जाता है।

[गा० २३४] इसलिये हे शिष्य ! तू सब जीवों को जाति की अपेक्षा एक जान उनमें भेद मतकर, राग-द्वेष को छोड़, समता भाव रख क्योंकि अभेद नय से शुद्ध आत्मा के समान, तीन लोक के जीव एक से ही हैं।

[गा० २३५] परम मुनि, आत्म द्रव्य से, द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नौ कर्म के सम्बन्ध को नहीं देखते, क्योंकि ये सब पर द्रव्य हैं और पर द्रव्य के सम्बन्ध से परमपद का ध्यान नहीं हो सकता।

[गा० २३८] हे शिष्य ! तू यह देखकर कि जगत के सभी जीव मोह के कारण दुखी हो रहे हैं, उस मोह को छोड़, तभी काम बनेगा।

[गा० २४०] हे योगी ! यदि तू बारह प्रकार के तप का फल मोक्ष चाहता है तो मन-बच-काय से भोजन की लोलुपता को छोड दे।

[गा० २४८] हे जीव ! तीर्थंकरों ने तो सब राज्य वैभव होते हुवे, उसे भी छोड़कर मोक्ष का साधन किया, पर तू निर्धन व कंगाल होते भी मोक्ष साधन नहीं करता, यह बड़ा आश्चर्य है।

[गा० २५०] हे जीव ! जब तेरे बस का थोड़ा भी दुख सहना नहीं है तो ऐसे अशुभ कर्म क्यों करता है। जिससे नरक गति आदि मिले।

[गा० २५३-२५४] हे शिष्य ! तू घर, परिवार, शरीर, और मित्रादिकों को अपने मत जान क्योंकि ये तो कर्मों के अधीन है और विनाशीक हैं। जब तक तू इन पर पदार्थों की चिंता करता रहेगा तब तक मोक्ष नहीं पा सकता, संसार में ही रुलता रहेगा।

[गा० २५५] हे जीव ! जो अनेक प्रकार के पाप तू अपने परिवार के सदस्यों के वास्ते करता है, उसके फल को तू अकेला ही भोगेगा।

[गा० २५६] हे जीव ! तू जितना भी दूसरे जीवों को सतायेगा और दुख देगा, उसका कई गुना दुख तू अवश्य पावेगा। अतः कुछ सोच।

[गा० २५७] यदि तू दूसरों जीवों को सतायेगा तो नियम से नरकादि के दुख सहेगा। यदि सब जीवों को अभयदान देगा तो स्वर्ग में जायगा। दोनों मार्ग तेरे लिये खुले हैं। जिसमें तेरी रुचि हो चुन ले।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २६०-२६१] जिनालय, जिन प्रतिमा, शास्त्र, गुरु, तीर्थ स्थान, वेद व काव्य आदि जो जो वस्तुयें देखने में आती हैं, वे सब तो विनाशीक है, उनकी ओर मत भाग। केवल एक शुद्ध आत्म द्रव्य रूप वह्म अविनाशी है, उसी की ओर देख।

[गा० २६३] जिसने इस नाशवान शरीर को पाकर युवावस्था में धर्म और तप नहीं किया तो इस शरीर को बुढापा रुपी दीमक खा जायगी और फिर मरण कर तुझे नरक में गिरना पड़ेगा। इसलिये जाग।

[गा० २६८] ध्यानी वही है जो पंचेन्द्रियों के विषयों से अलग होकर, निज परमात्मा का ध्यान करता हुवा, रत्नत्रय को पालता है।

[गा० २७१] जैसे जड़ के नाश हो जाने से पूरा वृक्ष ही नाश को प्राप्त हो जाता है ऐसे ही तू इस मन को वश में कर जिससे पाँचों इन्द्रियां वश में हो जायेंगी।

[गा० २७३] हे शिष्य ! तू अपने निज आत्मभाव में लीन होकर अपना कल्याण कर, और कुछ मत विचार, नहीं तो सभी दुःख ही सहता रहेगा।

[गा० २७५-२७६] हे शिष्य ! तू इस घर को ग्रहवास मत जान, यह तो पाप का निवास है जो यमराजने अज्ञानी जीवों के लिये बंदी खाना बनाया है। जब यहां यह अपना शरीर भी नहीं तो पुत्र, स्त्री वस्त्र, आभूषण आदि उपकरण तेरे कैसे हो सकते हैं। उनमें ममत्व मतकर। मोक्षमार्ग में लग।

[गा० २७९-२८०-२८१] जैसे दुर्जनों का उपकार करना व्यर्थ है वैसे ही इस शरीर की सेवा करना पोषण करना व्यर्थ है। यह अपना कभी नहीं हो सकता। यह शरीर मलमूत्रादि से भरा व नाशवान होने से अपवित्र है। तीन लोक में जितने दुख हैं, पाप है, अशुचि वस्तुयें हैं, उन सबको लेकर विधाता ने इस शरीर का निर्माण किया है।

[गा० २८५] हे शिष्य ! इन्द्रियां आधीन जो नाशवान सुखाभास है, उसके चिंतन से चित्त का दाह नहीं मिटेगा। पर द्रव्य से रहित जो अपनी आत्माधीन सुख है, उसी में संतोषकर, उससे दाह मिटेगा।

[गा० २८७] जिसका मन रुपी जल विषय कषाय रूप प्रचंड पवन से चलाय मान नहीं होता, उसी भव्य जीव का आत्मा निर्मल होता है और उसे ही आत्मा का दर्शन होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २८८] जिसने मन को वश में करके आत्मा को परमात्मा में मिला दिया, वही योगी है।

[गा० ३०२] हे योगी ! तू संसार के कारण रूप व्यवहार में ही फंसा है अतः तेरी बुद्धी खोटी हो गई है। अब तू इन पाखंड़ों से दूर होकर तेरा जो शुद्धात्मा है, उसका निर्विकल्प होकर ध्यान कर।

[गा० ३०४] यह आत्मा जिस रूप ध्याया जाता है उसी रूप परिणमता है। अशुभ उपयोग का ध्यान करें तो पाप रूप, शुभोपयोग में पुण्य रूप, और शुद्धोपयोग में परमशुद्ध रूप परिणमन करता है। ये तीन परिणमन है।

[गा० ३०५] व्यवहार नय से यह आत्मा अनादि से कर्म से बंधा है और पराधीन हुवा पर का ही ध्यान करता है परन्तु जिस समय यह वीतराग रूप निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से अपने निर्मल स्वभाव को ध्याता है, उस समय यह आत्मा ही परमात्मा देव है। ऐसा निश्चय जान।

[गा० ३०६] हे शिष्य ! तू ये भावना भा कि जो परमात्मा ज्ञान स्वरूप है, वही मैं हूं। मैं ही देवस्वरूप हूँ, मैं ही उत्कृष्ट परमात्मा हूं।

[गा० ३०७-३०८-३०९-३१०-३११-३१२] जैसे निर्मल स्फटिक मणि से सब डंक भिन्न है, उसी तरह आत्मस्वभाव से सब शुभाशुभ कर्म व उनका फल भिन्न है। जैसे स्फटिक मणि स्वभाव से निर्मल है, डंक के निमित्त से मलिन दिखाई देती है, वास्तव में मलिन नहीं है, इसी प्रकार यह तेरी आत्मा, ज्ञान-दर्शन रूप निर्मल है, मलिन कर्मो के फल के कारण दिखाई देती है, निश्चय से मलिन नहीं है।

[गा० ३१५] हे शिष्य ! जब भी तेरे ऊपर कोई उपसर्ग हो और तू उसे न सह सके तो कषाय दूर करने के लिये, परमानन्द स्वरूप इस देह में विराजमान परमब्रह्म का मन से शीघ्र ध्यान करना। इससे तेरे मन का विकार शीघ्र ही विलय हो जायेगा।

[गा० ३१७] अज्ञानी जीव पर के दोषों व कमी पर ही दृष्टि देते हैं और प्रसन्न होते हैं। हे शिष्य ! तू उन पर क्रोध न कर इस प्रकार तू उन जीवों के, बिना कुछ खर्च किये, प्रसन्नता का कारण हुवा, यह क्या कम है।

[गा० ३१९] हे शिष्य ! तू इस लोक की किसी प्रकार की भी चिन्ता न कर। यहाँ तक कि मोक्ष की भी चिन्ता न कर क्योंकि मोक्ष चिन्ता करने से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं, मिलता किन्तू चिन्ता व वाँछा के त्याग से मिलता है।

[गा० ३२०] हे शिष्य ! शुद्धात्म परिणाम रूप जो जलरुपी प्रवाह है, वह तेरे सव द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नौ कर्म रुपी मैल को बहा देगा।

[गा० ३२१-३२२] निर्विकल्प परमात्मस्वरूप से विपरीत समस्त विकल्पों का न होना परमसमाधि है, जिससे सव शुभाशुभ भाव छूट जाते हैं। जो मुनि सव तपों को करता हुवा भी, सव शास्त्रों का ज्ञान रखता हुवा भी, इस परम समाधि को प्राप्त नहीं होता है, वह शुद्धात्मा नहीं देख सकता।

[गा० ३२६] ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से और क्षुधादि सव अठारह दोषों से रहित जो जिनेश्वर देव है, वही परमात्म प्रकाश तू निश्चय से मान।

[गा० ३३५] जो मुनि इस परमात्म प्रकाश शास्त्र का शुद्ध भावों से चिंतवन करता है इसी का अभ्यास करता है, वह समस्त मोह को जीतकर, परमतत्त्व को जानता है।

[गा० ३३७] जो भव्य जीव, व्यवहारनय से परमात्मा का प्रकाश करने वाले इस ग्रंथका तथा निश्चय नय से केवल ज्ञानादि अनन्त गुण सहित परमात्म पदार्थ का स्मरण करते हैं, उनका मोह शीघ्र नष्ट होगा।

[गा० ३३८] जो जीव चतुर्गति के दुखों से डर गये हैं और इनमें आगे भ्रमण करना नहीं चाहते और मोक्ष चाहते हैं। वे ही महापुरुष इस परमात्म प्रकाश ग्रंथ का अभ्यास करने योग्य है।

[गा० ३४१] यदि यह परमात्मा प्रकाश, शुद्ध भावों से भाया जायगा तो निश्चय से चारों गतियों का दुख नाश होगा। यह मैने प्रभाकर भट्ट को संवोधने को वनाया है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. ज्ञानार्णव

सर्ग—१

[गा० ७] सर्वज्ञ का शासन, व्याकरण, न्याय, छन्द, अलंकार, साहित्य यन्त्र मंत्र, तन्त्र, ज्योतिषि, वैधक, निमित्त और मोक्ष मार्ग आदि विद्याओं के वसने का कुल ग्रह है, भव्य जीवों को एक मात्र शरण है, प्रशान्त है तथा समस्त आकुलता ओर क्षोभ को मिटाने वाला, तथा अति गंभीर है।

[गा० ९] वही शास्त्र का सुनना है, वही भेद विज्ञान है, वही ध्यान व तप है, जिसको प्राप्त कर यह आत्मा अपने स्वरूप में लवलीन हो जाता है।

[गा० १०] संसार का यथा-स्वरूप जानकर, जो दुखकर है, पापों का घर है, ठग कर निगोद का वास कराने वाला है, ज्ञानी पुरुष को अपना हित भूलना उचित नहीं अर्थात वह अपना जीवन अपने कल्याण में लगावे।

[गा० ३५] जो दुष्ट और अज्ञानी है वे निर्दोष को भी दोष लगाते हैं जैसे चकवा निर्मल शीतल चन्द्रमा को, कि इसने ही हमारा विछोह कराया।

[गा० ३८] जो बुद्धिमान है, उन्होंने इस संसार को इन्द्रिय रुपी राक्षसों से व्याप्त, तथा काम रुपी सिंह से चर्वित, और दुख रुपी समुद्र में डूबा हुवा जानकर छोड़ दिया और मूर्ख अज्ञानी इससे लिपटा हुवा है।

[गा० ४५] प्राणी का हित कर्मों से छूटकर मोक्ष पाने में है जो संसार का विपक्षी है।

[गा० ४८] हे भव्य जीवों, यह मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है और इसका वार-२ मिलना कठिन है, इसलिय सब चिन्ताओं को छोड़कर, इस जीवन का एक-एक क्षण अपने कल्याण में लगाओ।

सर्ग—२ (बारह भावनायें)

[गा० ६-७] मुनि लगातार बारह भावनाओं का चिंतन करते हैं क्योंकि वे भावनायें, मोक्ष रुपी महल में चढ़ने की अति उत्तम पैंडियों के समान है।

(अनित्य भावना-१)

[गा० १०] हे आत्मन्। इस शरीर को तू रोगों से घिरा हुवा, यौवन को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुढापे से घिरा हुवा, ऐश्वर्य को विनाशीक और जीवन मरणान्त जान।

[गा० १६-२२] हे आत्मन्। जो पूर्व भव में तेरे शत्रु थे, वे ही इस जन्म में तेरे अति स्नेही बन्धु हो गये हैं। ये तेरे बन्धु नहीं, पूर्वजन्मके शत्रु है। क्योंकि वे तुझे संसार चक्र में डाल रहे हैं। तेरे बन्धु तो मुनिगण है जो तुझे हित का उपदेश देते हैं, स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग बताते हैं।

[गा० २७] हे आत्मन ! जिन कुटुम्वादिक के लिये तूने पाप किये व कर रहा है वे सब धोखा देकर अपनी २ गति में चले जायगे और पाप का फल तू भोगेगा।

[गा० ३२] जिस घर में प्रातः माँगलिक गीत गा जा रहे थे, मध्याह्न में वही विलापों के स्वर सुने जा रहे हैं। संसार की ऐसी ही विचित्रता है।

[गा० ४१] योगी जन, जीवों के कुल कुटुम्ब, बल, राज्य अलंकार, धनादि को मेघ पटलों के समूह के समान देखते-२ विलुप्त हो जाने वाले कहते हैं। तू मूढ़ प्राणी उनमें नित्यता की बुद्धि व्यर्थं ही करता है।

[गा० ४७] तेरी सुन्दर स्त्रियों का संगम, तेरा यौवन, बादलो के पटल के समान है, तेरे स्वजन परिवार वाले व शरीरादि बिजली के समान चंचल हैं।

(अशरण भावना-२)

[गा० ५] अपने कुटुम्वी जन के मरने पर तो मूर्ख जन शोक करते हैं पर स्वयं यमराज की दाढ़ में बैठा है, यह नहीं देखते, अपनी चिन्ता नहीं करते।

[गा० ११] यह काल, जगत के सभी प्रकार के जीवों को समान भाव से ग्रसता है। किसी में भी हीनाधिक विचार नहीं करता इसीलिये वह सम-वर्ती है।

[गा० १६] तेरा यह समझना कि कोई तो शक्ति तुझे मृत्यु से बचाने वाली इस जगत में होगी, मूर्खता है, मिथ्या है। ऐसी शक्ति न हुई और न होगी।

(संसार भावना-३)

[गा० ७] इस संसार का कैसा आश्चर्य है कि स्वर्ग का देव तो रोता हुवा स्वर्ग से नीचे गिरता है, और कुत्ता स्वर्ग में जाकर देव होता है। ब्राह्मण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरकर कुत्ता, कीड़ा अथवा चंडाल वन जाता है और तिर्यंच राजा वन जाता है।

[गा० ९-१०] यह जीव इस संसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव के भेद से पाँच प्रकार के भव परिवर्तन करता हुवा, दुख भोगता रहता है।

[गा० १६] इस संसार में माता मरकर तो पुत्री हो जाती है, बहन मरकर स्त्री हो जाती है, पिता मरकर पुत्र हो जाता है, वही मरकर पोता हो जाता है, कैसा आश्चर्य है ?

(एकत्व भावना-४)

[गा० ४-५-६] संयोग-वियोग में, जन्ममरण में, दुख सुख भोगने में, इस जीव का कोई साथी नहीं। कुटुम्ब के कारण जो पाप करता है, उसका फल नरकादि में अकेला भोगता है। जो धन, भले वुरे कार्य कर के कमाता है, उसे भोगने वाले तो अनेक हैं, पर उन कर्मो का फल अकेला भोगता है।

[गा० १०] जब यह जीव ऐसा सोचता है कि वह तो अकेला है, वह किसी का, और कोई उसका नहीं, तो मोह नष्ट होने से उसका संसार मिट जाता है।

(अन्यत्व भावना-५)

[गा० २-३] जैसे स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण व कालिमा भिन्न-भिन्न है वैसे ही जीव व पुदगल शरीरादि भिन्न भिन्न है। यह जीव, इस जड़ शरार को मुरदे जैसे लिये घूमता रहता है। स्वभाव से दोनों भिन्न-२ है।

[गा० ७] जब शरीर से ही इस जीव को भिन्नता है, तब वहिरंग कुटुम्बादिक है, उनसे एकता का तो प्रश्न ही नहीं उठता, वे तो प्रत्यक्ष ही भिन्न है।

[गा० १२] इस लोक में समस्त द्रव्य भिन्न-२ है, कोई किसो से नहीं मिलता। निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध से यह जीव अहंकार ममकार करता है।

(अशुचि भावना-६)

[गा० २-४] यह शरीर पूरा ही दुर्गंध मय है. कौन से स्थान को प्रशंसा करें, सर्वत्र निन्दनीय ही है। यह लट कीड़ों से भरा, रोगों के समूह से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पीडित, तथा वृद्धावस्था से जर्जरित है। ज्ञान जन इसमें रति कैसे कर सकते हैं ?

[गा० ६] यदि इस शरीर को समुद्रों के जल से पवित्र करने का प्रयत्न करें तो भी अपवित्र ही रहेगा, और वह समुद्र जल भी मैला हो जायगा।

[गा० ६] इस शरीर का लाभ तो संसार से विरक्त होकर अपना कल्याण करने वाले महापुरुषों ने ही, पुण्यकर्मों से इसे क्षीण करके लिया है।

[गा० १२] यह शरीर स्वयं तो मैला (अपवित्र) है ही, इसके संसर्ग में जो भी उत्तमोत्तम वस्तु आती है, यह उन्हें भी मलिन व दुर्गंधमय कर देता है।

(आस्रव भावना-७)

[गा० २-३] जैसे समुद्र के जहाज में छिद्र हो जाने से जल का प्रवेश होता है, ऐसे ही जीव अपने शुभाशुभ भावों से कर्मों को ग्रहण करता है। यम, प्रशम, निर्वेद, तत्वों का चितवन आदि से अथवा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावों से, शुभास्रव होता है।

[गा० ६] मिथ्यात्व रूप परिणाम, क्रोधादि कषाय, पंचेन्द्रिय के विषय, प्रमाद मन-वचन-काय-योग, अविरत रूप परिणाम और अशुभ ध्यान, ये सब अशुभ आस्रव के कारण हैं।

(संवर भावना-८)

[गा० ६-१०] क्रोध कषाय क्षमा से, मान कषाय मार्दव से, माया आर्जव से, और लोभ कषाय परिग्रह त्याग से दूर होती है। जैसे चतुर द्वारपाल असभ्य जनों को घर में प्रवेश नहीं करने देता, उसी प्रकार विवेक शील बुद्धि, पाप बुद्धि को हृदय में नहीं फटकने देती।

(निर्जरा भावना-६)

[गा० २-३] निर्जरा, सकाम और अकाम दो प्रकार की है। सकाम निर्जरा मुनियों के होती है और अकाम निर्जरा समस्त जीवों के होती हैं। जैसे फलों का पकना एक तो स्वयं होता है और दूसरा पाल से, इसी प्रकार एक तो कर्मों की निर्जरा स्थिति पूर्ण होने पर स्वयं होती है और एक सम्यग्दर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहित तपश्चरणादि द्वारा होती है।

[गा० ५-६] सकाम निर्जरा तप द्वारा होती है जो वाह्य-आभ्यन्तर दो प्रकार है। इसमें अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त- शय्यासन और काय क्लेश वाह्य तप है। प्रायश्चित, विनय, वैया वृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, आभ्यन्तर तप है। इस प्रकार १२ तप है।

(धर्म भावना-१०)

[गा० २०-२१] क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, सत्य. तप, त्याग, ब्रह्मचर्य और आँकिचन रूप दश प्रकार धर्म है। जो जो क्रियायें अपने को बुरी लगती है, उन्हें अन्य के लिये मन वच काय से स्वप्न में भी न करो।

[गा० २३] धर्म से ही समस्त प्रकार के अनिष्ठ, नष्ट होकर, समस्त प्रकार के इष्ट की प्राप्ति होती है। अतः हर क्षण धर्म भावना कर।

(लोक भावना-११)

[गा० ३-४] यह लोक किसी के द्वारा बनाया नहीं गया अर्थात अनादि निधन है। आकाश में वातवलय के आधार स्वमेव स्थित है। इसका कोई कर्त्ता नहीं. स्वयं सिद्ध है.

[गा० ६] इस लोक में सब प्राणी नानागतियों में संस्थित अपने अपने कर्म-रूपी फांसी के वशीभूत होकर मरते तथा उपजते रहते हैं।

(बोधि दुर्लभ भावना-१२)

[गा० २ से ६] प्रथम तो इस जीव का नित्य निगोद से निकलना दुर्लभ है, फिर स्थावर में पैदा होना और वहां से त्रस पर्याय में आना दुर्लभ है। त्रस में भी प्रर्याप्त पाना, उसमें भी संज्ञी होना, फिर मनुष्य जन्म पाना, उसमें भी गुण सहित होना, अच्छा कुल होना, उत्तम देश, जाति, में होना, उत्त-रोत्तर २ दुर्लभ है। उसके बाद दीर्घायु, स्वस्थ शरीर इन्द्रियों का मिलना, विशिष्ट बुद्धि, मंदकषाय, दुर्लभ है। इस पर भी विषयों से विरक्ती व शुद्धभावों का होना और तत्त्व निर्णय होना दुर्लभ है।

[गा० १२] पुण्य के प्रताप से सब कुछ होते हुवे. सम्यग्दर्श-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का मिलना महादुर्लभ है, अतः ऐसी उच्च स्थिति को पाकर जो अति दुर्लभ है हे जीव, तू अपना कल्याण कर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(उपसंहार)

[गा० २] इन बारह भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करने से हृदय में कषायरुपी अग्नि बुझ जाती है और पर-द्रव्यों के प्रतिराग गल जाता है और अज्ञान रूप अंधकार का विलय होकर ज्ञान रुपी दीपक का प्रकाश होता है।

सर्ग-३ (ध्यान का स्वरूप)

[गा० २] हे आत्मन ! तूने यह मनुष्यपना काकतालीय न्याय से पाया है, अतः अपने स्वरूप का निश्चय करके अपना कल्याण करके इस जन्म को सफल कर, अन्य किसी जन्म में अपने स्वरूप का निश्चय करने का अवसर नहीं मिलेगा।

[गा० ४] वह कल्याण पुरुषार्थ चार प्रकार है, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष।
[गा० ५] इन चारो पुरुषार्थों में पहले के तीन नाश सहित है, संसार के रोगों से दूषित है, अतः चौथे पुरुषार्थ मोक्ष के साधन में लग, वह अविनाशी है।

[गा० ८-११] जिसमें अतीन्द्रिय, विषयों से अतीत, उपमारहित, और स्वाभाविक, विच्छेद रहित, पारमार्थिक सुख है, वही मोक्ष है। उस मोक्ष का कारण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप अवस्था है।

[गा० १३] वह मोक्ष कर्मों के क्षय से होता है, कर्मों का क्षय सम्यग्चारित्र से होता है, वह सम्यग्चारित्र ध्यान से होता है. ध्यान से ज्ञान की एकाग्रता होती है, अतः ध्यान ही आत्मा का हित है।

[गा० १४] जब तक चित्त की स्थिरता रहे, तब तक मुनि को ध्यान ही करना चाहिये, जब चित्त की स्थिरता न रहे तो शास्त्रादि स्वाध्याय अन्य क्रिया करें।

[गा० १६] परिग्रह का ममत्व रहने से ध्यान में चित्त नहीं लगता। अतः पहले तत्त्वों को जानकर बाह्य व अभ्यान्तर परिग्रह की मूर्छा नष्ट कर।

[गा० २०-२१] जब तक प्रमाद और इन्द्रियों के विषयों में चित्त की प्रवृत्ति रहती है तब तक ध्यान नहीं हो पाता। अतः मोह-राग-द्वेषादिक भाव क्षीण कर।

[गा० २३] जब तक भोगों की इच्छा है, शरीर में अनुराग है उसके रोगी। व नाश होने का भय है तब तक ध्यान कैसे होगा ? अतः पहले ध्यान करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का पात्र बन।

[गा० २८] आत्मा के उपयोग की प्रवृत्ति, शुभ, अशुभ, और शुद्ध, तीन प्रकार होती है।

[गा० २९ से ३१] पुण्य रूप आश्रय हो, शुद्ध लेश्या का आश्रय हो, रागादिक की क्षीणता हो, अंतरंग प्रसन्न हो, तब प्रशस्त ध्यान होता है।

[गा० ३५] शुभ ध्यान से पुण्य बंध, अशुभ ध्यान से पाप बंध और शुद्ध ध्यान से पाप पुण्य रूप बन्ध का नाश होकर, मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सर्ग-४ (ध्यान का वर्णन)

[गा० २] द्वादशांग में जो ध्यान का वर्णन कहा गया है उसका शंताश भी आज कोई वर्णन नहीं कर सकता।

[गा० ३] ध्यान के चार भेद हैं, आर्त्त, रौद्र धर्म और शुक्ल।

[गा० ४] ध्याता, ध्यान, ध्यान के अंग; ध्येय, ध्येय के गुण दोष, ध्यान के नाम, ध्यान का समय और ध्यान का फल, ये सब जानने का है।

[गा० ५] ध्याता का लक्षण:— मुमुक्ष हो, संसार से विरक्त हो, क्षोभ रहित हो, मन वश में हो, आसन स्थिरता में दृढ़ हो, जितेन्द्रिय हो, संवरयुक्त हो, धीर-वीर हो, ऐसे ध्याता के आठ गुण होतो ध्यान की सिद्धि होती है।

[गा० ९-१०[ग्रहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती, एकान्त स्थान में होती है।

[गा० १४] जैसे रेशम का कीड़ा, अपने मुख से निकाले तारों से ही अपने को ढ़क लेता है, ऐसे ही ग्रहस्थी अपने अनेक आरम्भों व पापोपार्जन से अपने ही पाप जाल में फंसा रहता है, वह ध्यान कैसे कर सकता है ?

[गा० १६-१७] स्त्रियों के संसर्ग में तो ध्यान का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। आकाश के पुष्प और गधे के सींग चाहे हो जाय, पर ग्रहस्थी में रहते ध्यान नहीं हो सकता।

[गा० १९] मिथ्यादृष्टि मुनि के भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।

[गा० २५] जो मुनि कीर्ति, प्रतिष्ठा, अभिमान, लौकिक जनों में फंसे हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने अपने ज्ञान नेत्र को नष्ट कर दिया है, उनमें ध्यान की योग्यता नहीं हो सकती।

[गा० ४१] जिसके हृदय में, कान्दर्पी, (काम चेष्टा), कैल्विषी (क्लेश कारिणी), आभियोगिकी (युद्ध भावना), आसुरी (सर्व भक्षणी), और समोहिनी (कुटुम्बमोहनी), इस प्रकार की पांच भावनायें मौजूद हैं, उसको ध्यान नहीं हो सकता। ध्याता इनका त्याग अवश्य करे।

[गा० ४२] जो मनि पहले तो दीक्षा ले, फिर भ्रष्ट हो जावे, उसके ध्यान नहीं होगा।

[गा० ५५] जो, ज्योतिष के ज्ञान का, वैधक विद्या साधन का, मंत्र साधना का, शस्त्रादिक साधना का, सर्पादिक साधना, विक्रिया रूप साधना आदि का प्रयोग दुष्ट चेष्टा आदि करता है, उसको ध्यान नहीं हो सकता।

[गा० ६२] इस प्रकार, ग्रहस्थ, मिथ्याद्दष्टि, अन्यमति, भेषी, पाखंड़ी, ऐसे जैन साधु जो आचार से भृष्द हैं, उनमें ध्यान करने की योग्यता नहीं हो सकती।

सर्ग-५ (ध्याता के और लक्षण)

[गा० २१] जिनके पर्वत ही नगर हैं, गुफाये व सतिका हैं, शिला शय्या है, चन्द्रमा की किरण दीपक है, मृग सहचारी है, सर्वमैत्री रुपी स्त्री है, भेद-विज्ञान पीने का जल है, तप उत्तमभोजन है, वे ही मुनि ध्यान योग्य हैं।

[गा० २८] पहले अपने को स्वाधीन कर, इन्द्रियों के विषय से विरक्त कर, तत्त्व चित्तन में मग्न कर, साँसरिक व्यापार से रहित कर, अपने हित में लग, आनन्द से परिपूर्ण हो, ज्ञानारुढ़ हो, शम-दम-यम, व तप को अंगीकार करे, तव ध्यान कर, तो मोक्ष की प्राप्ति होगी।

सर्ग-६ (सम्यग्दर्शन वर्णन)

[गा० ३ से ५] दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता पूर्वक ही ध्यान होता है।

[गा० ८] तीन मूढता, आठ मद, छ अनायतन, और शंकादि आठ दोष, इस प्रकार पच्चीस दोष रहित होने पर व निशंकित आदि आठ गुणों के होने से सम्यग्दर्शन होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १८] यह जीव सामान्य चैतन्यरूप एक प्रकार है, त्रस स्थावर रूप दो प्रकार, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय भेद से तीन प्रकार, एकेन्द्रिय, संज्ञी असंज्ञी भेद से चार प्रकार, व पांच छः, सात, आठ, नौ, व दश प्रकार भी है।

[गा० २५] संसारी जीवों को चौदह जीव समास, चौदह मार्गणा, चौदह गुण स्थान को जान करके, सम्यग्दृष्टि को श्रद्धान करना चाहिये।

[गा० ४०] छः द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल में तो केवल अर्थ पर्याय होती है और जीव, पुदगल में व्यंजन पर्याय भी होती है।

[गा० ४१] भाव पांच हैं। औदायिक, ओपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, परिणामिक। जीव के पांचों भाव होते हैं। पुदगल केवल क्षयोपशमिक और परिणामिक भाव होते हैं और शेप चार द्रव्यों में केवल परिणामिक भाव होते हैं।

[गा० ४५] व्यंजन पर्याय मूर्तिक है, वचन के गोचर है, अनश्वर है, स्थिर है और अर्थ पर्याय सूक्ष्म है तथा क्षणविध्वंसी है।

[गा० ४७] मिथ्यात्व, अविरत, योग, कषाय और प्रमाद, ये पाँच बंध के हेतु है। अतत्त्व श्रद्धान को मिथ्यात्व, अत्याग रूप परिणामों को अविरति, निश्चय व्यवहार चारित्र में असावधानरूप होना प्रमाद, क्रोध-मान-माया-लोभ रूप परिणाम कषाय, और मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मा के चंचल होने को योग कहते हैं।

[गा० ५४] सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, यम, प्रशम, स्वाध्याय, सब शम-दम, बोध-तपादि है, वे सब मोक्ष नहीं देंगे।

सर्ग-७ (सम्यग्ज्ञान का वर्णन)

[गा० १] जिसमें तीन काल के गोचर अनन्त पर्याय संयुक्त पदार्थ, अतिशयतता के साथ प्रतिभासित होते हैं, उसे ज्ञान कहा है। यह सामान्यता से पूर्ण ज्ञान का स्वरूप है। सब द्रव्यों को युगपत जानने वाला पूर्ण ज्ञान आत्मा का निश्चय स्वभाव है। कर्म के निमित्त से उनके भेद हो गये हैं।

[गा० ३] कर्म के भेद से यह ज्ञान, मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय व केवल, पांच भेद रूप हो गया है। निश्चय से ज्ञान मात्र में कोई भेद नहीं है। केवल प्रत्यक्ष और परोक्षता का भेद मात्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४-५-६-७-८] मतिज्ञान ३६ प्रकार है। श्रुतज्ञान-ग्यारह अंग चौदह पूर्व और चौदह प्रकीर्णन, इनसे वहुत प्रकार से विस्तृत, स्यात् शब्द से चिन्हित अनेक प्रकार है। अवधि ज्ञान दो प्रकार है। मन पर्यय: ज्ञान दो प्रकार है और केवल ज्ञान एक प्रकार है।

[गा० १०] मति, श्रुत, अवधि और मनपर्यय, कर्मों के क्षयोपशम से होता है और केवल ज्ञान, घातिया कर्मों के सर्वथाक्षय से होता है।

[गा० १७-१८] अज्ञानी अपने आपको अपने कर्म रुपी बंधन से बांध लेता है और ज्ञानी किसी काल में सावधान होकर अपने को कर्मों से छुड़ा लेता है जिन पापों को अज्ञानी करोड़ों जन्मों में तप करके छुड़ा पाता है, ज्ञानी उन्हें क्षण भर में नष्ट कर डालता है। ऐसी सम्यग्ज्ञान की महिमा है।

सर्ग-८ (सम्यग्चारित्र का वर्णन)

[गा० २] यह चारित्र (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहार विशुद्धि (४) सूक्ष्म सोम्पराय (५) यथाख्यात, इस प्रकार पाँच प्रकार है।

(अहिंसा महाव्रत)

[गा० ३] वह चारित्र-५ महाव्रत, ५ समोति ३ गुप्ति इस प्रकार १३ भेद है। इसमें महाव्रत मूल है, समिति शाखायें है और गुप्ति उसके फल है।

[गा० ६] प्रमादी पुरुषों द्वारा जीव मरे या न मरे, उन्हें निरन्तर हिंसा का पाप वन्ध होता है। जो अप्रमादी है, उसे जीवों की हिंसा होते हुवे भी हिंसा रूप पाप बन्ध नहीं होता।

[गा० १०] हिंसा के ४३२ भेद हैं। संरंभ, समारंभ, आरम्भ ये तीन, मन मन बचन काय की तीन प्रवृत्ति, क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार कषाय, कृत कारित, अनुमोदना यं तीन से १०८ भेद होते हैं और अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संजवलन से ४३२ भेद हैं।

[गा० ३४] यदि कुलाचल पर्वतों सहित, सात पृथ्वी भी दान करदी जावे तो भी एक्र प्राणी के प्रमाद सहित मारने का पाप दूर नहीं हो सकता।

गा० ३५] कोई भी जीव मरना नहीं चाहता। सब को अपना अपना जीवन प्यारा है। इसलिये एक जीव को वचाने में जो पुण्य है, वह समस्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृथ्वी के दान से भी बड़ा है।

[गा० ४०] यह बड़ा आश्चर्य है कि सभी जीव अपने पुत्र पौत्रादि का तो बड़े यत्न से पालन करते हैं, परन्तु दूसरों की सन्तान का घात करते हैं। यह सब महामोह (अज्ञान) का ही माहात्म्य है। और क्या कहें ?

[गा० ४२] तप, श्रुत (शास्त्र ज्ञान), यम, ज्ञान, ध्यान, दान और सत्यशील आदि जितने उत्तम कार्य हैं, उन सबकी माता अहिंसा है।

[गा० ४८] जो मनुष्य अपने शरीर में एक तिनका भी चुभ जाने पर दुख मानता है, वह निर्दय होकर दूसरे के शरीर पर शस्त्र कैसे चलाता है, यह बडा अनर्थ और आश्चर्य है।

[गा० ५४] जिस महापुरुष नें जीवों को प्रीति का आश्रय देकर अभय दान दिया, उस महात्मा ने कौन सा तप नहीं किया, कौन दान नहीं दिये।

[गा० ५६] सब शील, संयम, व्रत, शमभाव, यम (महाव्रत) और तपों में अहिंसा को ही प्रधान मानो। निश्चय से रागादि रूप हिंसा है और व्यवहार से परजीवों की हिंसा, हिंसा है।

सर्ग-९ (सत्य महाव्रत)

[गा० ३] जो वचन जीवों का हित करने वाला हो, वह असत्य होते भी सत्य है। जो वचन पाप सहित हिंसा रूप कार्य को पुष्ट करता है, वह सत्य होते भी असत्य है और निंदनीय है।

[गा० ६] पुरुषों को प्रथम तो समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला निरंतर मौन ही रहना चाहिये। यदि बोलना ही पड़े तो ऐसा बोलो जो सबको प्यारा हो, सत्य हो, मित हो और हितकारी हो।

[गा० १३] मर्म का छेदने वाला, मन में शल्य उपजाने वाले, स्थिरता रहित (चंचलरूप), विरोध उपजाने वाला तथा दया रहित वचन, कण्ठगत प्राण होने पर भी नहीं बोलने चाहिये। करुणा रूप वचनों को सुनकर दुखी जीव भी सुखी हो जाते हैं।

[गा० २०] जीवों को जितना मधुर वाणी सुख पहुंचाती है, उतना चन्दन, चन्द्रमा, चन्द्रमणि, मोती, मालती की माला आदि शीतल पदार्थ भी नहीं कर सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २१] दावानल से दग्ध हुआ वन तो हरा हो जाता है, पर जिह्वा रुपी अग्नि (कटोर मर्मच्छेदी वचन) से पीडित, बहुत काल तक प्रसन्न नहीं होता।

[गा० २२] यह बडा आश्चर्य है कि सर्व लोक प्रिय, सत्य, सुख देने वाले वचन (शब्द) होते हुवे, नीच, कठोर, बचन कैसे बोल दिये जाते हैं ?

[गा० ३१] जो तपस्वी हो, जटाधारी हो मस्तक मुंडाये हो अथवा नग्न दिगम्बर हो या वस्त्रधारी हो, यदि कठोर वअसत्य बचन बोलता है तो चंडाल से बुरा, गिरा हुवा और अतिशय निंदनीय है।

[गा० ३२] यदि असत्य व कठोर वचन से अपने बा कुटुम्ब का कितना ही लाभ हो, तो भी शीलवन्त को उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

[गा० ३५] चाण्डाल, उल्लू, बिलाव, भेडिया, कुत्ता और दूसरे निंदित प्राणियों को तो अनेक लोग अंगीकार कर लेते हैं, पाल लेते हैं परन्तु असत्य व कठोर बचन बोलने वाले वाले को कोई नहीं करता।

[गा० ४०] पुत्र, स्वजन, स्त्री, धन, मित्र और अपने भी प्राण जाने पर भी असत्य व कठोर वचन नहीं बोलने चाहिये।

सर्ग-१० (अस्तेय महाव्रत) चौरी

[गा० ३] धन को शास्त्रों में वाह्य प्राण कहा है, अतः लोभ वश किसी का भी धन का हरण किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये। यह हिंसा है।

[गा० १०] चोरी करने वाले का, हर समय चित्त अस्थिर व भयवान रहता है।

[गा० १८] धन की तो वात ही छोड़ो, बुद्धिमानों को तो विना दिया हुवा दांत साफ करने का तिनका भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

सर्ग-११ (ब्रह्मचर्य महाव्रत)

[गा० १] इस व्रत को, जिसका आवलबन लेकर योगी गण, परमात्मा पर ब्रह्म को जानते हैं, और अनुभव करते हैं, धीर, वीर पुरुष ही अंगीकार कर सकते हैं, सामान्य पुरुष नहीं कर सकते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ७-६-८] (१) शरीर का शृंगार करना (२) पुष्ट रस का सेवन (३) गीत-नृत्य आदि का देखना सुनना (४) स्त्री संसर्ग (५) स्त्री का विचार (६) स्त्री के अंग देखना (७) उसके देखने का संस्कार (८) पूर्व के भोगों का स्मरण (६) आगामी भोग की वांछा (१०) शुक्र का क्षय, ये मैथुन के १० भेद हैं।

[गा० २२] बडा आश्चर्य है कामी पुरुष काम रूप अग्नि के ताप से संतप्त होने पर, स्त्री रुपी कीचड़ में प्रवेश करके शीतल होना चाहते हैं।

[गा० २८-२६-३०-३१] सर्व के काट हुवे के तो ७ ही वेग होते हैं, परन्तु होते हैं जो बड़े भयानक हैं।

[गा० ३३] काम की ज्वाला के सामने किसी का स्वाभिमान नहीं रहता यह काम, कामी से नीच से नीच काम कराकर, उसके स्वाभिमान को मिटा देता है।

[गा० ३७] कामी पुरुष अपने धन, चारित्र, वलका नाश होने तथा कुल पर पर कलंक लगने का कुछ हिताहित का विचार नहीं कर सकता।

[गा० ४०-४१] काम से ठगा मनुष्य, चतुर से मूर्ख क्षमावान से क्रोधी. शूर से कायर. गुरु से लघु, उद्यमी से आलसी, और जितेन्द्रिय से भ्रष्ट हो जाता है। वह ऐसे २ कार्य कर जाता है, जिन्हें सोचा भी नहीं जा सकता।

सर्ग-१२ (स्त्री स्वरूप वर्णन)

[गा० २] जो वाणी में तो अमृत को और हृदय में विष को धारण करती है, ऐसी इस स्त्री को किसने वनाया, यह हम नहीं जानते।

[गा० ३] यह स्त्री वज्रपात जनित अग्निज्वाला, सांप की डाढ के समान भय व कष्ट उपजाने वाली व संताप देने वाली है।

[गा० ५] क्रोध से फुफकारती सर्पिणी का आलींगन तो श्रेष्ठ हो सकता है किन्तु स्त्री का आलीगंन श्रेष्ठ नहीं। क्योंकि सर्पिणी से तो एक बार ही मरण होगा परन्तु स्त्री बार-२ मरण करके नरक ले जायगी।

[गा० ६] स्त्रियों में निर्दयता, अपवित्रता, मूर्खता, अतिचपलता, वंचकता, और कुशीलता, इतने दोष तो विना सिखाये स्वभाव से ही होते हैं।

[गा० १५] एक निरकुंश स्त्री, नर के वास्ते वह वह कष्टमय काम कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकती है जो क्रोधित सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहीं कर सकते।

[गा० १६] आचार्य गुरुदेव कहते हैं कि जिस स्त्री के संसर्ग से तुझे नरकादि के दुख सहने पड़ेगें, उसके आलींगन की तो क्या बात, उसकी तो तुझे चर्चा करना भी प्रशंसनीय नहीं।

[गा० १७] आगे आचार्य उपदेश देते हैं कि हे आत्मन्। तू हमेशा किसी ऐसे देव या मंत्र का जाप करता रह या ऐसा साहस कर कि स्त्री रुपी पिशाचिनी तुझे भक्षण करने तेरे निकट न आवे।

[गा० २०] विधाता ने यमराज की जीभ, अग्नि ज्वाला, विजली तथा विष, इन सवका संग्रह करके, यह स्त्री वनाई है, इससे बच।

[गा० २४] जो महा विद्वान, देव, दैत्य, नाग, हस्ती, गृह, चन्द्रमा और सूर्य इन सव की गति व चेष्ठा को जानते हैं, वे भी स्त्रियों के मन की गति व चेष्ठा को नहीं जान सकते, यह बड़ी टेढी है।

[गा० २६] जगत में ऐसा कोई मणि, मंत्र, तंत्र, औषध, अंजन अथवा विद्या नहीं जिससे स्त्रियां कुटिलता रहित हो जाये।

[गा० ३६] विष में कदाचित् अमृत का झरना, पर्वतों पर धान्य पेदा होना, सम्भव हो जाय पर स्त्रिचित्त कभी निष्पाय नहीं होता।

[गा० ४४] ये स्त्रियां विधाता ने, मनुष्यों को वेधने के वास्ते शूलि, काटने के लिये तलवार, कतरने के वास्ते करौत और पेलने के वास्ते कोल्हू यंत्र वनाया है। अत: इससे वचो, दूर रहो।

[गा० ४६] यह स्त्री दुखों को देने वाली अगाध खान, कलह तथा भय की जड़ है, पाप का वीज है, और चिन्ताओं की मूल है तथा नरक पहुंचाने वाली सीढी है।

सर्ग-१३ (मैथुन त्यागोपदेश)

[गा० १] जो पुरुष कामरुपी अग्नि से पीडित है और मैथुन से उसे शान्त करना चाहता है, वह दुर्बुद्धि घृत से अग्नि शान्त करना चाहता है।

[गा० ८] जैसे इन्द्रायण का फल देखने में सुन्दर व सुगंधित और खाने में मीठा, पर पेट में जाकर विषका काम करता है, वैसे ही स्त्री जनित सुख,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवन में रमणीक है पर उस पाप से नरकादि दुर्गतियों के दुख सहने पड़ते हैं, ऐसा निश्चय जानो।

सर्ग-१४ (स्त्री संसर्ग निषेध)

[गा० १] जो पुरुष समस्त परिग्रहों से विरक्त होकर भी क्रोधित सर्प से दूर ही रहता है, वैसे ही स्त्रियों से भी दूर रहता है, तभी वह मुक्ति रुपी लक्ष्मी को वरता है, अथवा नहीं।

[गा० ३-४] जो मुनि, तपस्वी, व्रती, मौनी, सवर स्वरूप हो तथा जिनेन्द्रिय होकर स्त्री का संसर्ग करता है, वह अपने संयम को कलेक लगाता है। क्योंकि जो मुनि महीने महीने का उपवास करके केवल जल ग्रहण करता है वह भी स्त्री संगति पर मोहित हो जाता है।

[गा० ८] पुरुषों का मन मक्खन के समान है, वह स्त्री रुपी अग्निका संयोग होने पर, सत्पुरुषों का चित्त भी चलायमान हो जाता है।

[गा० ९-१०] मन में सोया सत्पुरुषों का काम भी स्त्री के संसर्ग से जाग जाता है। जिन पुरुषों ने शास्त्राध्ययन, प्रशमभाव और संयम से अपने मन को पवित्र व वशीभूत कर लिया है वे भी स्त्रियों के संसर्ग से नष्ट हो गये हैं, अर्थात मलिन हो गये।

[गा० १४-१५] आचार्य महाराज कहते हैं कि हमने पूरे जीवन को महा-पुरुषों में बिताकर, यह भली भाँति अनुभव कर लिया है कि, स्त्री के मूखावलोकन मात्र से जीवों का संयम नष्ट होता है। साक्षात स्त्री को देखकर तो क्या कहें, स्त्री की मिट्टी की मूर्त्ति अथवा चित्र को देखकर भी पुरुष को मोह होता है।

[गा० ३०] व्याघ्र, सर्प, तथा पिशाचों के साथ एकत्र रहना श्रेष्ठ है परन्तु स्त्रियों के साथ निमेषमात्र भी रहना श्रेष्ठ नहीं।

[गा० ३२] और की तो बात ही छोड़ो, मुनिगण भी अपने चारित्र रुपी हार को, स्त्री रुपी डाकू के ललकारने पर फैंक देते हैं।

[गा० ४०-४१] साधुओं को व त्यागियों को स्त्री संसर्ग सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्ग-१५ (वृद्ध सेवा की प्रशंसा)

[गा० १] दोनों लोकों की सिद्धि के लिये, भावों की शुद्धता के लिये, तथा विद्या-विनय की वृद्धि के लिये, वृद्ध गुरुजनों की सेवा की प्रशंसा की गई है।

[गा० ४-५] जिनके आत्मतत्त्वरूप भेद विज्ञान रूप कसौटी से बढाया ज्ञान रुपी नेत्र है, वही वृद्ध है, केवल अवस्था से ही वृद्ध नहीं होते। जो तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य्य, ध्यान, विवेक (भेद-ज्ञान), यम, संयमादि से वढ़े हुवे हैं, वे ही वृद्ध कहे जाते हैं। केश सफेद होने से वृद्ध नहीं होते।

[गा० ३१] कर्मों के उदय से यदि परिणाम विगडने लग जाँय तो महापुरुषों वृद्धों की संगति में रहने से, भय लज्जा व अभिमान से ही मार्ग से च्युत नहीं होता। इसी कारण सत्पुरुषों की संगति व उनकी सेवा अतिशय श्रेष्ठ हैं।

[गा० ३४] तपस्वी गुरु जनों के निकट सीखे विना, जो क्रिया की जाय, वह यथावत नहीं होती। इसलिये बड़े योगीश्वरादि महापुरुषो की संगति में रहकर ही उनकी आज्ञानुसार वर्तना चाहिये।

[गा० ४३] अपने आत्मा को भजना, उसी में लीन रहना, इसी को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

सर्ग-१६ (परिग्रह त्याग महाव्रत)

[गा० १] जिस प्रकार नाव में पाषाणादि का बोझ बढ़ने से रस्सी से बंधी नाव भी डूब जाती है, उसी प्रकार संयमी मुनि यदि गुणवान भी है, तो भी परिग्रह के भार से संसार सागर में डूब जाता है।

[गा० २] यह परिग्रह वाह्य और अंतरंग भेद से दो प्रकार है। वाह्य परिग्रह तो चेतन, अचेतन, दो रूप है और अंतरंग केवल चेतन रूप, एक रूप है।

[गा० ३-४ व ६] वाह्य परिग्रह दश प्रकार है और अंतरंग १४ प्रकार है। वाह्य परिग्रह घर, खेत, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान कुप्य और भांड ये दश है। और अंतरंग परिग्रह, मिथ्यात्व, ९ नो कषाय और ४ कषाय ये चौदह भेद हैं।

[गा० ९] परिग्रह होने से, इस जीव में गुण तो अणुमात्र भी नहीं होते और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोष सुमेरु पर्वत के समान हो जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

[गा० १०] जैसे पक्षी एक ही पंख के आलम्बन से आकाश में नहीं उड़ सकता, दोनों ही पंखो का होना जरुरी है, इसी प्रकार दोनों प्रकार के परिग्रह रहित होने पर ही मुनि निर्मल हो सकता है।

[गा० १२] परिग्रह से काम (इच्छा) वढ़ती है, इच्छा से क्रोध बढ़ता है, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप, पाप से नरकगति, नरकगति से घोर दुःख होता है। इस प्रकार परिग्रह घोर दुख का कारण है।

[गा० १६] परिग्रही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होना असंभव है। जितना-२ परिग्रह अधिक अधिक होगा, उतना ही वह मोक्ष से दूर-२ रहेगा।

[गा० २६] कदाचित सूर्य तो अपना प्रकाश छोड दे और सुमेरु स्थिरता छोड दे, यह तो संभव है परन्तु परिग्रह सहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता।

[गा० २७] जो पुरुष वाह्य परिग्रह छोडने में भी असमर्थ है वह कायर आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा ?

[गा० ३१] जो धनवान होते हैं वे पुत्र, स्वजन, राजा, दुष्ट, चोर, वैरी, वन्धु, स्त्री, मित्र व परचक्र से निरन्तर शंकित रहते हैं।

[गा० ३३] परिग्रहों से रहित और इन्द्रियों के संवर सहित हो, तभी ध्यान की सिद्धि हो सकती है, वरना कभी नहीं हो सकती।

[गा० ३७] जैसे जिस पक्षी के पास मांस का पिंड होता है, उसे ही अन्य पक्षी पीड़ित करते हैं। उसी प्रकार परिग्रहसहित पुरुष ही दुखी रहता है।

[गा० ४१] इस धन के उपार्जन में, रक्षण में और फिर उसे व्यय करने में दुख रुपी अग्नि से कौन नहीं जला। अतः धनादि परिग्रह के पीछे मत पड़।

[गा० ४२] हे आत्मन्! धन की आशा में मन रुक जाने पर तू ऐसा विचारता रहता है कि पहले मैं धनवान कैसे बनूंगा, फिर उसकी रक्षा कैसे करुंगा, फिर उस धन को कैसे बढ़ाऊंगा, और फिर उसे कैसे भोगूंगा, लेकिन यमराज के पंजों को नहीं विचारता तू यह तेरा अज्ञान ही तो है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्ग-१७ (आशा की निन्दा)

[गा० १] जो सत्पुरुष प्रथम ही परिग्रह की आशा को छोड़ देते हैं, उसी को परिग्रह का त्याग हो सकता है अन्यथा नहीं।

[गा० ६] जो जीव आशा को क्षण भर के लिये भी नहीं छोड़ सकता उसका मोक्ष की सिद्धि के लिये परिश्रम करना व्यर्थ है।

[गा० ८] जिन पुरुषों ने आशा रुपी राक्षसी को नष्ट किया है, वे ही पुरुष धीर, वीर, और सुखी है और इस आपदा व दुख भरे संसार से पार हुवे हैं।

[गा० १२] हे आत्मन्! जब तक तेरे हृदय में आशा रुपी अग्नि जल रही है, तब तक तेरे महा दुख रुपी दाह की शान्ति नहीं हो सकती।

[गा० १५] इन्द्र भी आशा रुपी अग्नि से जलता हुवा सुखी नहीं है और मुनि आशा को सर्वथा छोड़कर सुखी हो जाता है।

सर्ग-१८ (पंच समिति आदि का वर्णन)

[गा० ३] ईर्य्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग, ये पांच समिति है।

[गा० ४] मन-वचन-काय से उत्पन्न, अनेक पाप सहित प्रवृत्तियों का प्रतिषेध करने वाला प्रवर्त्तन, अर्थात तीनों योगों को रोकना तीन गुप्तियां है।

[गा० ५-६-७] जो मुनि गमन करते, दिन में सूर्य की किरणों से स्पष्ट दीखने वाले, बहुत से लोग जिसमें पहले गमन कर चुके हो, ऐसे मार्ग से दया धारण करता हुवा, जीवों की रक्षा का ध्यान रखता हुआ, चलने से पहले चार हाथ मार्ग को देखता, प्रमाद रहित हो, उसे ईर्य्या समिति है।

[गा० ८-९] कर्कश, पुरुष, कटु, निष्ठुर पर कोपी, छेद्यांकुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयकारी, और हिंसक, ऐसी भाषा को छोड़कर, जो मुनि हितकारी, मर्यादा सहित, असंदिग्ध, भाषा बोले, उसे भाषा समिति है।

[गा० १०-११] जो मुनि १६ उदगम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० एषणा दोष, और धुंवा, अंगार, प्रमाण व संयोजन, ये चार मिलाकर ४६ दोष रहित तथा मांसादिक १४ मलदोष रहित, व अंतराय रहित, शुद्धकाल का भोजन, बिना उद्देश्य याचना रहित हो, उसे एषणा समिति है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १२-१३] जो मुनि शय्या, आसन, उपधान, शास्त्र, और उपकरण आदि पहले भले प्रकार देखकर, फिर उठावे, रक्खे, उसे आदान निक्षेपण समिति है।

[गा० १४] जीव रहित पृथ्वी पर मल, मूत्र, श्लेमादिक को वड़े यत्न से (परमाद रहित होकर) जो मुनि क्षेपक्ष करे, उसे उत्सर्ग समिति है।

[गा० १५-१६] राग-द्वेष से रंजित समस्त सकल्पों को छोड़कर, समता भाव में स्थिर रहता है, तथा निरन्तर सिद्धान्त सूत्र को विचारता है, उस मुनि को मनो गुप्ति है।

[गा० १७] जिसने भले प्रकार वचनों की प्रवृत्ति वश में करली है, तथा विकल्प का त्याग कर, मौन धारण किया है, उसे मुनि को वचन गुप्ति है।

[गा० १८] जिसने अपने शरीर को स्थिर कर लिया है। जिससे परीषह के आ जाने पर डिगे नहीं, उस मुनि को काय गुप्ति कही गई है।

[गा० २५] दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तीनों को एक आतमा ही कहा है क्योंकि परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो शरीरी आतमा उन तीनों में तन्मय है।

[गा० ३५] हे आतमन् ! तू अपने को आतमा में ही टिका देख और विचार कि मैं नित्य आनन्द मय हूं, शुद्ध हूं, चैतन्य स्वरूप हूं, सनातन हूं, अविनश्वर हूं, परमज्योति प्रकाश रूप हूं, अद्वितीय हूं और पूर्व पर्याय के व्यय सहित हूं।

—क्रोध— सर्ग-१९ (कषाय की निन्दा)

[गा० १] जीवों के यम, नियम, प्रशम (शांत भाव) आदि उत्कृष्ट संयम भाव रुपी उपवन को क्रोधाग्नि क्षण भर में भस्म कर देती है।

[गा० ४] चारित्र, और विशिष्ठ ज्ञान से बढ़ाया तप, स्वाध्याय और संयम का आधार धर्म, क्रोध रुपी अग्नि से शीघ्र भस्म हो जाता है।

[गा० ६] यह क्रोध, निश्चय से अपने को तो जला ही देता है, अन्य को जलावे या नहीं।

[गा० १२] क्रोध रुपी अग्नि को शान्त करने के लिये क्षमा रुपी जल ही अद्वितीय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १४] मेरा दोष वताने वाला मेरा शत्रु नहीं, मित्र है क्योंकि उसके बताने पर मैं दोष छोड़ दूंगा और उससे मुक्त हो जाऊंगा, ऐसा सोचने पर क्रोध नहीं होता।

[गा० १५] जैसे कोई अपनाधन व्यय करके भी दूसरे का उपकार करता है, वैसे ही निन्दा करने वाला, अपने पुण्य रुपी परिणामों को बिगाड़ कर मेरा दोष दूर कर रहा है, कर्म नष्ट कर रहा है, अतः उस पर क्रोध कैसा ?

[गा० १७] जो मोक्षभिलाषी हैं, उन्हें तो बड़े बड़े विघ्न होने संभव है, यदि मुझे भी विघ्न है तो इसमें क्या आश्चर्य ? अत: समता धार, राग-द्वेष न कर।

[गा० १६] जो भले बुरे कर्म मैंने किये है, वे मुझे ही तो भोगने हैं, उनसे कैसे बचा जा सकता है, अतः मुझे दुख देने वाला तो केवल वाह्य निमित्त है, मैं उस पर क्रोध, करके आगे अपना बुरा क्यों करु ।

[गा० २३] जैले शत्रु घर में अग्नि लगाकर संपदा लूटता है वैसे ही मेरे कर्म, मुझमें क्रोधाग्नि लगाकर मेरी, समता रुपी सम्पदा लूटना चाहते हैं।

[गा० २५] दुर्वचन कहने वाले ने मुझे वचन रुपी कांटो से वींधा है, यदि में भी वैसा ही वदले में करुंगा तो मेरे में क्या विशेषता रही ? मैं भी उसी के समान हो जाऊंगा, इस कारण क्षमा के साथ समता धारण कर।

[गा० २६] जो मुझे पीडा पहुंचा रहा है और इस प्रकार मेरे कर्मों को नष्ट कर रहा है, वह तो मेरा हितकारी वैद्य है, उस पर क्रोध कैसा ?

[गा० २९] ये दुर्वचन कहने वाले अथवा घात करने वाले शत्रु जो आये हैं, वे तो मेरी परीक्षा लेने आये हैं कि देखें इसने कितना भेद विज्ञान करने शम-भाव का अभ्यास किया है। इसलिये क्या मैं क्रोध करके परीक्षा में फेल हो जाऊं। पास क्यों न होऊं ?

[गा० ३३] किसी ने मुझे मारा अथवा दुर्वचन कहे तो उसने पाप का वन्ध किया अर्थात अपना बुरा किया, और उसे समता से सहन करने से मेरे कर्मों की निर्जरा हो गई अर्थात मेरा लाभ हुवा, तो इसमें क्रोध कैसा ?

[गा० ३७] मुनि ने चिरकाल से अभ्यास किये हुवे शमभाव और ग्रहस्थी ने चिरकाल से अभ्यास किये, शास्त्र का समय पर उपयोग नहीं किया तो वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूर्ख-अज्ञानी ही कहलावेगा। अभ्यास व्यर्थ हुवा।

[गा० ३९] चन्दन को कुल्हाड़े से काटा जावे, तो वह कुल्हाडे को भी सुगन्धित करता है, ऐसे ही ज्ञानी लोग बुरा करने वाले का भी भला ही चाहते हैं और करते हैं।

—मान—

[गा० ४८] जो जीव, कुल, जाति, ऐश्वर्य, रूप, वल, विद्या और धनादि का मान करते हैं, वे तुरंत नीच गति का संचय करते हैं, ऊंचे नहीं होते।

[गा० ५५] जिस मान के वशीभूत होकर, नीच कार्य छोड़कर उच्च कार्यों में प्रवृत्त हो वह तो प्रशंसनोय प्रशस्तमान है और जिस मान से नीच कार्यों की प्रवृत्ति हो, बह अप्रशस्त मान है।

[गा० ५७] जिस संसार में राजा भी मर कर तुरन्त विष्ठा का कीड़ा बन जाता है, जो राजा आप गद्दी पर है वही कल राजरहित हो जाता है। तो संसार में मान नाम का पदार्थ है हीं क्या? अर्थात कुछ भी नहीं।

—माया—

[गा० ५९] यह माया, मोक्ष रोकने का अर्गला है, नरक में प्रवेश करने का द्वार है, शील रूपी वृक्ष को दग्ध करने को अग्नि है।

[गा० ६३] व्रती तो निशल्य होता है। शल्य व्रत का घातक है। माया साक्षात शल्य है।

[गा० ६५] मायाचार से निन्द कार्य किया कभी न कभी प्रगट होता ही है, इसलिये उसका भय सदा बना रहता है। प्रकट होने पर दुःख देता है।

—लोभ—

[गा० ७०-७१] लाभ कषाय से पीड़ित हुवा पुरुष, अपने मालिक, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, वालक, क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीन सभी को मारकर धन ग्रहण करता है अर्थात लोभ अनर्थ का मूल है। लोभ पाप का मूल है।

सर्ग-२० (इन्द्रियों को वश करने की प्रशंसा)

[गा० १] विना इन्द्रियों को जीते कषायों को नहीं जीता जा सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २] जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों की आशा से पीडित हैं, वे ही पुरुष आशा पूरी न होने पर अथवा विरोध होने पर कषायी होते हैं अर्थात राग-द्वेष करते हैं।

[गा० ५] इन्द्रियों के विषय सेवन जो सुख समझा जाता है, वह दुःख ही है।

[गा० ७] परमेष्ठी मन्त्र के जाप से इन्द्रियों के विषय पर काबू पाया जा सकता है।

[गा० ८] जिस मुनि ने इन्द्रिय रूपी बंदरों को ज्ञान रूपी फांसी से बांध कर वैराग्य रूपी पींजड़े में बन्द कर दिया वह ही मुनियों में मुनीश्वर है।

[गा० १२] जिस प्रकार जीवों का चित्र इन्द्रियों के विषयों में तल्लीन रहता है यदि वैसा आत्म तत्त्व में हो जाय, तो मोक्ष मिल जाय।

[गा० १३] जितना २, इन्द्रियों के विषय का सेवन किया जाता है, उतनी २ ही योग लालसा और बढ़ती है जो आगे २ और दुखदायी होती है।

[गा० १८] जो जीव इन्द्रियों के विषयों में मग्न हो जाता है, उसकी विषयेच्छा और बढ़ती है, संतोष नष्ट होता है, विवेकविलीन हो जाता है।

[गा० १९] महापुरुषों (संतों ने) विष को सरसों के दाने के समान कहा है और इन्द्रियों के विषयों को मेरू पर्वत कहा है।

[गा० २२] जो इन्द्रिय और मन को वश में किये विना तथा ज्ञान वैराग्य की प्राप्ति के बिना मोक्ष का अभ्यास करते हैं, वे मूर्ख अपने दोनों भव विगाड़ते हैं।

[गा० २६] यह इन्द्रियरुपी चोरों की सेना, मन रूपी किले के आश्रय रहती है जो पुरुषों के विवेक रुपी रत्न को हरती है, और रोकी भी नहीं रूकती।

[गा० २८] इस जगत में समुद्र नदियों के जल से तृप्त नहीं होता, अग्नि, इंधन से तृप्त नहीं होती। दैवयोग से ये दोनों तृप्त हो जाय परन्तु यह जीव अनादि काल से इन्द्रिय भोग भोगते रहने पर भी कभी तृप्त नहीं होता।

[गा० ३५] रसना, स्पर्श, नेम, नासिका और श्रोत्र, इन्द्रियों में एक-एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्री के ही वशीभूत हो मछली, हाथी, पतंगा, भ्रमर और हिरण, नाश को प्राप्त होते हैं, तो जो प्राणी इन पांचों इन्द्रियों के वश रहता है, वह कैसे सुखी हो सकता है।

[गा० ३७] जैसे जब कछुवा अपने अंगों को अन्दर कर लेता है तो पक्षी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाते उसी प्रकार जो मुनि संयम द्वारा इन्द्रियों को वश कर लेता है, वही दोष रुपी कीचड़ से नहीं लिपटता।

सर्ग-२१ (त्रितत्त्व वर्णन)

[गा० ९] अन्य मति जो शिव तत्त्व, गरुड तत्त्व और काम तत्त्व की ध्यान के लिये स्थापना करते हैं, वह भी आत्मा की ही चेष्ठा है अतः आत्मा से भिन्न कुछ नहीं।

[गा० ३] जो सुख वीतराग मुनि के प्रशम रुप (मंद कषाय रुप) विशुद्धतापूर्वक है, उसका अनन्तवायाम भी इन्द्र को प्राप्त नहीं होता।

सर्ग-२२ (मन के व्यापार को रोकने का वर्णन)

[गा० १-६] अन्य मतियों ने, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ अंग योग के स्थान कहा है। ये तो केवल स्वरुप में लीन होने के लिये कहे गये हैं। वास्तव में जिसने अपने वश में नहीं किया, वहां अन्य इन्द्रियों को रोकना भी व्यर्थ है।

[गा० ७] क्योंकि जब मन राग द्वेष रुप नहीं प्रवर्तता, तब ही अपने स्वरुप में लीन होता है, यही स्वार्थ की सिद्धि होती है।

गा० ९] हे भव्यात्मन् ! यदि तू कर्म वेड़ी को काटकर मोक्ष चाहता है तो पहले मन को ही समस्त विकल्पों से रोककर, अपने वश में कर।

[गा० १४-१६] मन की शुद्धि से ही जीवों के शुद्धता होती है। विना मन की शुद्धि के केवल काय को क्षीणकर वृथा है। क्योंकि जिस मुनि का मन स्थिर हो आत्मा रुप में लीन हो गया, उसी का बेडा पार है।

[गा० २४] जो मन को तो वश में कर नहीं पाया, और ध्यान की बात करता है वह वड़ा निर्लज्ज है। बिना मन वश किये, ध्यान नहीं हो सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २८] जिस मुनि ने मन को वश में नहीं किया, उसका तप, शास्त्राध्ययन, व्रत धारण, ज्ञान, काय क्लेष इत्यादि सब व्यर्थ है।

[गा० ३२] बिना मन को जीते, आत्मा का अनुभव ही नहीं हो सकता।
[गा० ३३] जब मन को अन्य विकल्प व विकारों से रहित करें, तब आत्मानुभव से मोक्ष होता है।

सर्ग-२३ (राग द्वेष रोकने का वर्णन)

[गा० १-२] आत्मस्वरुप से सन्मुख हुवा स्वस्थ मन भी राग द्वेष से विकार को प्राप्त हो जाता है।

[गा० ४] अत: मुनियों का कर्त्तव्य है कि पहले प्रमाद रहित हो राग-द्वेष पहले दूर करें।

[गा० ८] रागादिक का संस्कार ऐसा प्रबल है कि एकाग्रमन करे तो भी चलायमान हो जाता है।

[गा० १०] चित्त में से राग, द्वेष और मोह नष्ट होने से, मन संवर को प्राप्त होता है।

[गा० १६] जब तक मन में राग द्वेष रहता है, तब तक परमात्मा स्वरुप नहीं भासता।

[गा० २०] निर्मल ज्ञान और स्वाभाविक सुख, ये दोनों वीतराग के ही होते हैं। क्योंकि रागी कर्मों को बांधता है और वीतरागी कर्मों से छुटता है। अत: राग द्वेष छुटे बिना, मन कैसे वश में हो सकता है।

[गा० २७] जिस प्रकार पंख कटा पक्षी उड़ने में असमर्थ होता है, वैसे ही राग-द्वेष रहित मन, विकल्प रुप भ्रमण नहीं कर सकता।

[गा० २९] यह जीव मोह के कारण ही राग-द्वेष करता है। इस प्रकार यह मोह ही राग-द्वेष रुपी विष वन का बीज है। समस्त दोषों का राजा है।

[गा० ३८] अभिप्राय यह है कि अन्य मत यम-नियमादि साधनों से मन को वश करने की बात कहते हैं, तथापि उनके मन में राग-द्वेप मोह कायथार्थ स्वरुप तथा उनके जीतने का वर्णन सत्यार्थ नहीं है। इन रागादिक के जीते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिना, मोक्ष के कारण भूत ध्यान की सिद्धि नहीं। इसलिये इनका वर्णन जैन शास्त्रों में है। उसी रीति से ही साधन करके ध्यान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं।

सर्ग-२४ (साम्यभाव का वर्णन)

[गा० २] जिस पुरुष का मन, चित व अचित, इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के द्वारा मोह को प्राप्त नहीं होता, उसी के साम्यभाव की स्थिति होती है।

[गा० ६] भेद विज्ञानी पुरुष ही, समताभाव का आवलंबन लेकर तथा अपने में ही अपने आत्मा का निश्चय करके, मिले हुवे जीव और कर्म को भिन्न करता है।

[गा० ९] यह राग-द्वेष भयानक वन है, मोह रुपी सिंह द्वारा रक्षित है, उस वन को मुनि रुपी महासुभटों ने समभाव रुपी अग्नि से भस्म कर दिया है।

[गा० १३] जितने भी शास्त्र है, वे साम्यभाव को ही दृढ़ करते हैं।

[गा० १४] रागादिक से ही दुख है, उसके बिना तो सुख ही सुख है। समताभाव में, केवल ज्ञान जैसा ही सुख माना जाता है।

[गा० १६] जिस समय यह आत्मा अपने को, औदारिक, तैजस, और कार्माण शरीर से तथा राग-द्वेष-मोह से रहित जानता है, तभी समताभाव होता है।

[गा० १७] जिस समय यह जीव, अपने का समस्त पर द्रव्यों की पर्यांय से व पर-द्रव्यों से भिन्न निश्चय करता है, तभी साम्यभाव उत्पन्न होता है।

[गा० २०] साम्यभाव का ऐसा महात्म्य है कि मुनि तो साम्यभाव में होते ही है पर उनके साम्यभाव से प्रभावित हो, हिंसक जन्तु भी वैर छोड, समता को प्राप्त हो जाते हैं।

[गा० २२] जैसे दावानल से जलता बन, मेघ बरसने से स्वमेव शान्त हो जाता है। उसी प्रकार वीतराग मुनियों के संसर्ग से क्रूर जीव, बिना प्रेरणा के समताभाव को प्राप्त होते हैं।

[गा० २६] वीतरागी संतों के आश्रय से सिंहनी तो गाय के बच्चे को,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाय सिंह के बच्चे को, मयूरनी सर्प के बच्चे को और मार्जिरी हंस के बच्चे को कषाय रहित होकर प्यार करने लगती है। यह साम्यभाव का प्रभाव है।

[गा० २८] जो मुनि नगर, वन, पर्वत में कोई अन्तर नहीं अनुभव करता, शत्रु-मित्र, कांचन-कांच में, रस्सी-सर्प में, पुष्पमाला व पाषाण में राग-द्वेष नहीं करता, वही मुनि साम्यभाव युक्त है।

[गा० ३१] साम्यभाव में स्थित मुनि को यह जगत, उन्मत्त, विभ्रम रुप व दिशा भूला लगता है।

[गा० ३२] मोक्ष का साधन तो साम्यभाव सहित ध्यान ही है।

सर्ग-२५ (आर्त्तध्यान का वर्णन)

[गा० १६] एक ही ज्ञेय में ठहरा हुवा तो ध्यान कहलाता है जो अधिक से अधिक उत्तम संहनन वालों के एक अन्तर्मूहूर्त पर्यन्त ही रहता है, इससे भिन्न भावना कहलाता है।

[गा० २०] अप्रशस्त ध्यान आर्त-रोद्र रुप से दो भेद वाला है और प्रशस्त ध्यान धर्म व शुक्ल भेद से दो भेद वाला है।

[गा० १८-१९] जिस ध्यान में मुनि राग रहित हो जाय, वस्तु स्वरुप का चिन्तन हो वह प्रशस्त ध्यान है। जिसमें राग-द्वेष-मोह से पीडित हो वह अप्रशस्त ध्यान है।

[गा० २३] आर्त्त ध्यान चार प्रकार से उत्पन्न होता है (१) अनिष्ठ संयोग (२) इष्ट-वियोग (३) रोग पीडा (४) आगामी भोग वांछा (निदान)।

[गा० ३८] यह आर्त्त ध्यान प्रथम क्षण में रमणीक है पर अन्त में अपथ्य है। यह छठे गुण स्थान तक होता है। पांचवें गुण स्थान तक तो चारों प्रकार का होता है पर छठे में (निदान रहित) तीन प्रकार का होता है।

सर्ग—२६ (रौद्र ध्यान का स्वरुप)

[गा० २] क्रूर आशय वाले प्राणी को रुद्र कहा है। उस रुद्र प्राणी के कार्य अथवा भाव को रौद्र भाव कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ३] हिंसा में आनन्द मानने में, असत्य कहने में आनन्द मानने में, चोरी करने में, आनन्द मानने में और विषयों की रक्षा करने में आनन्द मानने में, इस प्रकार (यह, हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द व संरक्षणानंद ४ प्रकार हैं।

[गा० ४३] ये आर्त्त व रौद्र ध्यान-दुर्ध्यान है और संसारी जीवों के अनादि काल के संस्कार से विना यत्न के ही स्वमेव निरन्तर होते रहते हैं।

सर्ग—२७ (धर्म ध्यान का वर्णन)

[गा० ३] धर्म ध्यान का करने वाला ध्याता, यथार्थ वस्तु स्वरुप जानने वाला हो, संसार से वैराग्य सहित हो, उसके इन्द्रिया व मन वश में हो, स्थिर चित्त हो, मुक्ति का इच्छुक हो, आलस रहित उद्यमी हो और शान्त परिणामी हो, तथा धैर्यवान हो, उसी को धर्म ध्यान होता है।

[गा० ७ से १५] उस ध्याता को सब जीवों के प्रति मैत्री भावना, करूणा भावना, प्रमोद भावना, अध्यस्थ भावना हो। जो इन भावनाओं से युक्त होगा उसके कषाय रुप परिणाम नहीं होते। ये भावनायें मोक्ष पद को आलौकित करने वाली है।

[गा० २०] ध्यान की सिद्धि के लिये, मुनि के लिये एकान्त स्थान ही चाहिये।

[गा० २१ से २९] मुनि ध्यान के लिये ये स्थान न चुने—मलेच्छो के रहने का स्थान, दुष्ट राजा का स्थान, पाखंडी वेषियों से घिरा स्थान, महा-मिथ्यात्व का स्थान, रुद्र आदि नीच देवताओं का स्थान, व्यभिचारिणी स्त्रियों का स्थान, कुचारित्रो पाखंडियों का मन्दिर, जहां कुशास्त्रों का अभ्यास होता हो, जहां जुआरी, शराबी, व्यभिचारी रहते हो, पापी प्राणियों से घिरा हो, जहां शिकारियों ने वध किया हो, जहां मोची, लुहार, ठठेरे आदि, शिल्पी काम करते हो, शत्रु की सेना हो, जहां रजस्वला स्त्री, नपुंसक रहते हों। इनसे बचकर स्थान देखें।

सर्ग—२८ (ध्यान के स्थान व आसन वर्णन)

[गा० १ से ७] सिद्ध क्षेत्र, तीर्थंकरों ने आश्रय लिया हो, तीर्थंकरों के कल्याणक स्थान हो, समुद्र का किनारा, बन, पर्वत शिखर, नदी का किनारा, शाल वृक्षों का समूह, नदियों का संगम, जल के बीच द्वीप हो,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्मशान में, पर्वतों की गुफा, जहां कोलाहल न हो, सूनाधर, वर्षा, शीत, वर्फ, आतप या प्रचंड पवन से वर्जित स्थान, मुनि को ध्यान करने योग्य है।

[गा० ६] ध्यान के लिये लकड़ी का तख्ता, शिला, भूमि अथवा रेत उत्तम है।

[गा० १०-११] पर्यंक आसन, अर्द्ध पर्यंक, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन, कायोत्सर्ग ये आसन ध्यान के योग्य हैं। जिस आसन से मुनि अपने मन को सुख पूर्वक निश्चल कर सकें, वही सुन्दर आसन है।

[गा० १२] क्योंकि इस काल में शक्ति की कमी है अतः आचार्यों ने पर्यंकासन (पद्मासन) और कायोत्सर्ग, ये ही प्रशस्त कहे हैं।

[गा० २०] स्थान और आसन ध्यान सिद्धि का कारण है।

[गा० २२-२३] जिस काल में, जिस क्षेत्र में जिस आसन से, मुनि का चित ध्यान में स्थिर हो, वही योग्य है। यदि ध्यान पूर्व दिशा में या उत्तर दिशा में किया जाय तो ज्यादा अच्छा है।

[गा० २५] ध्यान के यथा योग्य अधिकारी मुख्य से प्रमत्त गुण स्थानी और उपचार से अप्रमत्तगुण स्थानी मुनि होते हैं।

[गा० २८] कितने ही आचार्यों ने धर्म ध्यान के स्वामी चौथे, पाँचवे को भी कहा है।

[गा० ३२] जो योगी आसन को जीत लेता है, वह पवन, आतप, तुषार, शीतादि से तथा जीवों से पीडित हुवा भी खेद को प्राप्त नहीं होता।

[गा० ३७] ध्यान के समय शरीर को सीधा व लम्मा रक्खे जैसे दीवार का चित्र।

सर्ग-२९ (प्राणायाम वर्णन)

[गा० १] ध्यान की सिद्धि से आत्म स्वरुप में लीनता होती है, और आत्मलीनता से मुक्ति होती है, इस प्रयोजन से, ध्यान की सिद्धि के लिये तथा मन की एकाग्रता के लिये प्राणायाम प्रशंसनीय है।

[गा० २] प्राणायाम से जब पवन वशीभूत हो जाता है तो मन भी वश में हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ३ से ६] वह प्राणायाम लक्षण भेद से, पूरक, कुम्भक, रेचक तीन रुप है।

[गा० ६] जिस समय पवन को तालुरन्ध्र ले खेंचकर शरीर में थामे वह पूरक है. नाभि के मध्य स्थिर करके रोके वह कुम्भक है, पवन को वड़े यत्न से वाहर निकाले, वह रेचक है।

[गा० ११] हृदय कमल की कणिका में पवन के साथ चित्त को स्थिर करने पर मन में विकल्प नहीं उठते. विषयों की आशा नष्ट हो जाती है तथा अंतरंग में विशेष ज्ञान का प्रकाश होता है और मन वश में होता है।

[गा० १२] इस प्रकार मन को वश में करने पर अविद्या तो क्षण भर में क्षय हो जाती है, इन्द्रिय मद रहित हो जाती है, साथ-२ कषाय भी क्षीण होती है, यही पवन को साधने का प्रयोजन है।

[गा० १६ से ६५] पृथ्वी मंडल, अपमंडल, तेजोमंडल और वायुमंडल को लक्षण भेद से पवन की रीति को समझाया गया है।

[गा० ६६-१००] उपरोक्त पवन की रीति को जो योगी जान लेता है और अभ्यास कर लेता है, वह सूक्ष्म जीवों में, पक्षियों में, पशुओं के शरीर में इच्छानुसार प्रवेश कर जाता है। पर इस सबका पारमार्थिक फल कुछ भी नहीं है, कौतुक मात्र ही है। पर इसमें प्रयास वहुत करना होता है।

[गा० १०२] जिसने इस पवन साधन रूप प्राणायाम से इन्द्रियां जीत ली है, ऐसे धीर वीर यति, सैकड़ों जन्मों के संचित पाप दो घड़ी में क्षय कर देते हैं। इसलिये इस प्रयोजन से इसे करना योग्य भी है।

सर्ग-३० (प्रत्याहार-धारणा वर्णन)

[गा० १] जो प्रशान्त बुद्धि, विशुद्धता युक्त मुनि अपनी इन्द्रियां और मन को, इन्द्रियों के विषयों से खींचकर, जहां अपनी इच्छा हो, तहाँ धारण कर ले, उसे प्रत्याहार कहते हैं।

[गा० ४] पीछे वताई (सर्ग २६) पवन के साधने से विक्षिप्त हुवा मन स्वास्थ्य को प्राप्त नहीं होता, इसलिये भले प्रकार समाधि को सिद्धि के लिये प्रत्याहार करना प्रशस्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ५] प्रत्याहार से ठहरा हुवा मन समस्त उपाधि अर्थात रागादिक रूप विकल्पों से रहित समभाव को प्राप्त होकर आत्मा में लीन हो सकता है।

[गा० ८] जो मुनि संसार देह भोगों से विरक्त है, कषाय जिसकी मन्द है, है, विशुद्ध भाव युक्त है, वीतराग है, जितेन्द्रिय है, ऐसे योगी को प्राणायाम (पवन साधना) बेकार है क्योंकि उसका लक्ष्य तो मुक्ति है।

[गा० १३] ध्यान के लिये शरीर के ललाट भाग के अलावा, नेत्रयुगल, दोनों कान, नासिका, अग्रभाग, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु, दोनों भौहों के मध्यभाग, इन दश स्थानों में से किसी एक स्थान, अपने मन को विकल्प रहित करके ठहराया जा सकता है।

सर्ग-३१ (सवीर्य ध्यान का वर्णन)

[गा० १ से १३] ध्याता पहले ऐसा विचार करे मेरी शक्ति अनन्त है, फिर भी कर्मों ने मुझे ठग लिया, मैं अपनी ही मूर्खता से रागादिक के कारण संसार में घूमा, अब मेरा राग कम हो गया और मोह दूर हो गया, मैं अब आत्मा का ही अवलोकन करुंगा, ध्यान रुपी बज्र से पापों का क्षय करूंगा, मेरी आत्मा तो केवल ज्ञानी है जिसे मैंने नहीं जाना, मेरी आत्मा तो परमात्मा रुप है, पर मैंने इसे नहीं जाना, मेरी शक्ति तो अरहंत सिद्ध रुप है, पर मैं वह प्रकट नहीं कर सका, मैं निश्चय से पर्याय रुप नहीं हूँ। ये तो सब कर्मों का खेल है, मैं तो अनन्त वीर्य, विज्ञान दर्शन, आनन्द रुप हूं। इनके प्रति पक्षी कर्म है, इसलिये अब इन कर्मरुपी विष वृक्षों को उखाड़ूंगा।

[गा० १७] ध्येय करने योग्य वस्तु चेतन अचेतन दो प्रकार हैं। चेतन तो जीव है और अचेतन धर्मादिक पांच द्रव्य हैं।

[गा० १८] धर्म ध्यान में बुद्धिमान पुरुष इन चेतन-अचेतन द्रव्यों के यथार्थ स्वरुप का ध्यान करें।

[गा० २१] संसार अवस्था में भी आत्मा का सिद्ध समान ही ध्यान करें।

[गा० ३७-३८-३९] ध्याता मुनि, अन्य सबका शरण छोडकर उस परमात्म स्वरुप में ऐसा लीन होता है कि ध्याता और ध्यान, इन दोनों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेद का अभाव होकर, ध्येय स्वरुप से एकता को प्राप्त हो जाता है। अर्थात ध्याता, ध्यान, ध्येय का भेद नहीं रहता। इसी समरसी भावना से आत्मा परमात्मा हो जाता है। इस प्रकार परमात्मा के ध्यान से आत्मा परमात्मा होता है।

सर्ग-३२ (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा का वर्णन)

[गा० १] जिस साधक ने पहले अपने ही आत्मा के स्वरुप को नहीं जाना, वह परमात्मा को कैसे जान सकता है। अतः पहले अपने आत्मा का निश्चय करें।

[गा० ३] शरीर और आत्मा के भेद विज्ञान बिना, परमात्मा का लाभ नहीं होता।

[गा० ५] यह आत्मा समस्त देह धारियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार व्यवस्थित हैं।

[गा० ६] जिस जीव के शरीरादि पर पदार्थों में आत्म बुद्धि हो कि यही मैं हूं, वह बहिरात्मा है। जिस जीव आत्मा में ही आत्मा का निश्चय हो, वह अन्तरात्मा है। जो आत्मा पूर्णता शुद्ध हो गई, वह परमात्मा है।

[गा० १०] योगी मुनि बहिरात्मा को छोड़कर, भले प्रकार स्थिर अन्त-रात्मा होकर, अत्यन्त विशुद्ध, अविनाशी परमात्मा का ही ध्यान करे।

[गा० १५] अज्ञानी बहिरात्मा, जिस प्रकार अपने अचेतन शरीर को अपनी आत्मा मानता है, वैसे ही दूसरे जीवों के अचेतन शरीर को अपनी देखकर उसे पर का आत्मा मानता है।

[गा० ३४-३५] बहिरात्मा को छोडकर अन्तरात्मा होने पर जीव को ऐसा विचार होता है कि अबसे पहले अर्थात तत्त्व स्वरुप जानने से पहले उसने जो सर्व प्रकार की चेष्ठा की, वे तो उसे अब स्वप्नवत व इन्द्रजाल वत प्रतिभासित होती है। और वह अपने को आत्म रुप ही नहीं, परमात्म-स्वरुप भी देखता है।

[गा० ४१] यह आत्मा, आत्मा में ही, आत्मा के द्वारा स्वमेव अनुभव किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४३] अज्ञानी जिन वस्तुओं से प्रीति करता है, अन्तरात्मा ज्ञानी को वे विपदा रुप लगती हैं, अज्ञानी जिन तपादि से भय खाता है, ज्ञानी उनमें आनन्द का निवास देखता है।

[गा० ४४] परम शुद्ध नय के द्वारा क्षण मात्र भी अनुभव करने पर जो शुद्धात्मा का स्वरूप प्रतिभासता है, वही परमेष्ठी अरहंत सिद्ध का स्वरुप है।

[गा० ४५-४६] वह अन्तरात्मा ऐसी अद्वैत भावना करे कि जो सिद्ध का स्वरुप है, वही परमात्मा, परमेश्यर रुप मैं हूं। मेरे मुझ से अन्य कोई उपासना करने योग्य नहीं है तथा मुझसे अन्य करके मैं उपासना करने योग्य नहीं हूँ। फिर इस प्रकार भावना करे कि मैं अपनी आत्मा को इन्द्रियों के विषय रुपी व्याघ्र के मुख से निकालकर, आत्मा के द्वारा ही, मैं चिदानन्दमय अपने आत्मा में स्थिर हुवा हूं। इस प्रकार चैतन्य और आनन्द रुप बिषै में लीन हो।

[गा० ४८] भेद विज्ञानी हुवा मुनि आत्मा और पर के भेद आनन्द रुप होता हुवा और तप करता हुवा भी शरीर से उत्पन्न खेद क्लेशादि से खिन्न नहीं होता।

[गा० ५७] भेद विज्ञान रहित वहिरात्मा, द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म इन तीनों लिंगों से चिन्हित शरीर को ही आत्मा जानता है, और अन्तरात्मा आत्म तत्त्व को इन तीनों लिंगों की संगति से रहित जानता है।

[गा० ६०] अज्ञानी वाह्य त्याग ग्रहण करता है और ज्ञानी अंतरंग त्याग ग्रहण करता है और शुद्धात्मा वाह्य और अंतरंग दोनों त्याग करता है।

[गा० ६१] ज्ञानी आत्मा को वचन व काय से भिन्न करके मन से अभ्यास करे तथा अन्य कार्यों को वचन-काय से करे चित्त से नहीं, चित्त से तो आत्मानुभव का ही अभ्यास करे।

[गा० ६५] साधक को आरम्भ में जब तक अभ्यास नहीं होता, कुछ पीड़ा होती है, पर जब अभ्यास सिद्ध हो जाता है, तब दूसरों को तो दुःख दीखता है पर वह अंतरंग में सुखी होता है।

[गा० ७८] लोक के संसर्ग से वचन व चित्त चलायमान होता है और मन को भ्रम होता है, इस कारण साधक लोक के संसर्ग को छोड़े।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ८०] अज्ञानी तो पर्वत-ग्राम आदि में अपना निवास मानता है और ज्ञानी समस्त अवस्थाओं में अपने आत्मा में ही निवास करता है।

[गा० ८१] यह आत्मा अपने ही द्वारा अपने लिये संसार को करता है और अपने द्वारा ही अपने लिये मोक्ष करता है। इस कारण आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपना गुरु है, वाह्य पर तो निमित्तमात्र है।

[गा० ८४] अन्तरात्मा को जब ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय तो यह जगत उसे बावला सा दीखता है, पीछे जब ज्ञानाभ्यास दृढ़ हो जाता है तब वस्तु स्वरुप विचार से इष्ट-अनिष्ठ भाव नहीं होता।

[गा० ८७] व्रत-अव्रत, शुभ-अशुभ, दोनों ही बंध के कारण हैं। मोक्ष तो व्रत-अव्रत तथा शुभ-अशुभ दोनों के त्याग से ही होता है। अतः साधक इनके करने, न करने का अभिमान नहीं करता।

[गा० ९३] वहिरात्मा, शास्त्रों का अध्ययन करता, पूजा करता, व्रत करता भी कर्मों से नहीं छूटता जब कि अन्तरात्मा भेद विज्ञान के बल से सोता हुआ अथवा उन्मत्त रहता भी कर्म से मुक्त होता है।

[गा० १००] शास्त्र ज्ञान तो आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये है। यदि शास्त्राध्ययन से आत्मज्ञान नहीं हुवा तो वह व्यर्थ ही जैसा है।

[गा० १०२] तीव्र तपादि करते रहने से, अन्तरात्मा ज्ञानी जीव परीषह आदि आ जाने पर डिगता नहीं और ज्ञानाभ्यास को नहीं छोडता अतः तपादि का अभ्यास करते रहना प्रशंसनीय है।

सर्ग-३३ (आज्ञाविचय धर्म ध्यान का स्वरुप)

[गा० ५] विचय नाम विचार करने का है। धर्म ध्यान में आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का विचार क्रम से करें।

[गा० ६] सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा समझकर, जैन सिद्धान्त के प्रसिद्ध वस्तु स्वरुप का चितवन करना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है।

[गा० ९] केवली का कहा द्वादशांग रुप जो श्रुत ज्ञान उसका चिन्तन करे सो आज्ञा विचय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्ग–३४ (अपायविचय धर्म ध्यान का स्वरुप)

[गा० १] अपाय का अर्थ नाश होना है। जिस ध्यान से कर्मो का नाश हो उन उपायों का चिन्तवन करना, अपाय विचय धर्म ध्यान है।

[गा० २-३] कर्मों के नाश का उपाय रत्नत्रय है, उसका चिन्तवन करो।

[गा० ४ से १६] फिर यह चिन्तन करे कि इस संसार रुपी वन में भ्रमण करता आज मैं समग्ज्ञान रुपी तट पा गया। अब मैं वैराग्य और भेद ज्ञान को नहीं छोड़ूंगा। मिथ्यात्व और अव्रत के कारण ये कर्म किस प्रकार छुटेगें। जैसे अग्नि द्वारा स्वर्ग पाषाण से स्वर्ण शुद्ध कर लिया जाता है ऐसे ही ध्यान रुपी अग्नि के द्वारा कर्मो को नष्ट करके आत्मा को शुद्ध करूंगा। मैं कौन हूं, आस्रव क्या है, बंध कैसे होता है, निर्जरा कैसे होती है और मुक्ति क्या वस्तु है। आत्मा का एक ज्ञान स्वभाव ही है ऐसा समस्त भाव प्रतिविम्बित होते हैं अतः ज्ञान ही आत्मा है। इस प्रकार कर्मों के अपाय का तथा उपाय का आत्मा की सिद्धि के लिये करें।

सर्ग–३५ (विपाक विचय धर्म ध्यान का स्वरुप)

[गा० १] अपने कर्मो के फल का जो उदय होता है वह विपाक है। उन कर्मो का उदय प्रतिक्षण हो रहा है जो अनेक रुप है, उनका विचार करना, विपाक विचय धर्म ध्यान है।

[गा० २ से ८] द्रव्य, क्षेत्र, काल से जो कर्मो के कारण सुख दुख होते हैं, वह ध्यान करें।

[गा० ९ से ३०] सव कर्मो के कारण, उनका उपशम, उदीरणा आदि पर विचार करें।

सर्ग–३६ (संस्थान विचय धर्म ध्यान का स्वरुप)

[गा० १] इस संस्थान विचय धर्म ध्यान में लोक का स्वरुप विचारा जाता है। सव ओर अनन्तानन्त आकाश अपने आधार से है उसके मध्य में लोक है। जिसका वर्णन सर्वज्ञदेव ने किया है, इस कारण प्रमाण भूत है।

[गा० २ से १०] लोक का वर्णन किया गया है।

[गा० ११ से ८१] अधोलोक का वर्णन है जिसमें नारकियों का हाल है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ८२ से ८७] मध्य लोक का वर्णन है।

[गा० ८८ से १७४] देव लोक का वर्णन है।

[गा० १७५] मद्य, वादित्र, गृह, ज्योति, भूषण, भोजन, माला, दीपक, वस्त्र, पात्र, इन दश प्रकार के भोगों को देने वाले दश प्रकार के कल्प वृक्ष स्वर्गों में होते हैं इस प्रकार वे देव दशांग भोग भोगते हैं।

[गा० १७६ से १८२] इसमें भी स्वर्गों का वर्णन है।

[गा० १८२ से १८३] सिद्ध शिला का वर्णन है।

[गा० १८६] सातवें गुण स्थान में यह यह धर्म ध्यान उत्कृष्ट होता है। उससे फिर क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करने पर अन्तर्मुहूर्त्त में केवल ज्ञान हो जाता है।

सर्ग-३७ (पिंडस्थ ध्यान का वर्णन)

[गा० १] योगियों को पिंडस्थ, पदस्थ रुपस्थ और रुपातीत, चार प्रकार का संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान होता है।

[गा० २-३] पिंडस्थ ध्यान में पांच धारणायें होती हैं जो कर्म का क्षय करती हैं। ये धारणाओं के नाम, पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरुपवती, इस क्रम से ये पांच हैं।

[गा० ४ से ९] पार्थिवी धारणा का वर्णन है।

[गा० १० से १९] आग्नेयी धारणा का वर्णन है।

[गा० २० से २३] स्वसना अथवा वारुणी धारणा का वर्णन है।

[गा० २४ से २७] वारुणी धारणा का वर्णन है।

[गा० २८ से ३०] तत्त्व रुपवती धारणा का वर्णन है।

सर्ग-३८ (पदस्थ ध्यान का वर्णन)

[गा० १] जिस ध्यान को योगी, पवित्र मंत्रों के अक्षर स्वरुप पदों का अवलंबन करके चिंतवन करते हैं, उसको पदस्थ ध्यान कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २ से ११२] पदस्थ ध्यान में भिन्न २ मंत्रों द्वारा ध्यान का वर्णन है।

[गा० ११४] जो मुनि वीतराग है, उसके ही ध्यान की सिद्धि होती है और जो राग से पीडित है, उसके ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

[गा० ११५] जो योगी मोक्ष चाहते हैं वे शुक्ल ध्यान में पहुंचने को इन मंत्र रुप ध्यान का अभ्यास करें।

[गा० ११६] इन मंत्र पदों के अभ्यास से विशुद्धता बढ़ती है और चित्त एकाग्र होकर, शुद्ध स्वरुप निर्मल प्रतिभास होता है और उस स्वरुप में उपयोग स्थिरता को प्राप्त होता है, जिससे संवर और कर्म निर्जरा होती है।

सर्ग-३९ (रुपस्थ ध्यान का वर्णन)

[गा० १ से ८] इस रुपस्थ ध्यान में अरहन्त भगवान की विभूति और गुणों का ध्यान किया जाता है।

[गा० ९ से ३१] अरिहंत भगवान के गुणों का, जिनका ध्यान करना है, वर्णन है।

[गा० ३२] उपर्यूक्त गुणों सहित जो सर्वज्ञ देव का ध्यान करने वाला जो उन गुणों में ही संलग्न हो जाता है, तन्मयता को पाकर उसी स्वरुप हो जाता है।

[गा० ४२] जव अभ्यास से मुनि के उस सर्वज्ञ के स्वरुप से तन्मयता हो जाती है तो वह मुनि अपने असर्वज्ञ आत्मा को सर्वज्ञ स्वरुप देखता है।

[गा० ४३] ऐसा देखता हुवा, ऐसा ही मानता है कि वह भी वही सर्वज्ञ देव है, वही तत्त्वरुपता को प्राप्त हुवा है सर्व को देखने वाला है, अन्य नहीं।

[गा० ४५] इस आत्मा की अचिन्त्य महिमा व सामर्थ्य है, जो आप सर्वज्ञ के ध्यान में तन्मय हो जाने पर, स्वयं सर्वज्ञ हो जाता है और ऐसे समय यदि क्रोध रुप हो जाय तो चौदह भुवन को भस्म कर दें।

सर्ग-४० रुपातीत ध्यान का वर्णन)

[गा० १६] जिस ध्यान में ध्याता मुनि, चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमाक्षू रुप आत्मा को आत्मा से ही ध्यावे, सो रुपातीत ध्यान है।

[गा० २२ से २६] इन गाथाओं में सिद्ध परमात्मा की दशा का वर्णन किया है जिस दशा का ध्यान ध्याता रुपातीत ध्यान में करता है।

[गा० २७] इस प्रकार जिसके निरन्तर अभ्यास से सिद्ध का स्वरुप निश्चय हो गया है, वह स्वप्न अवस्था में भी परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है।

[गा० २८-२९] जब इस प्रकार परमात्मा का निश्चय हो जाय तो ध्याता ऐसा विचार करे कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूं, मैं ही सर्वज्ञ हूं, सर्व व्यापक हूं, सिद्ध हूँ. मैं ही निरंजन हूं। उस समय अपना स्वरुप निश्चल, अमूर्त्त, निष्कलंक, जगत का गुरु, चैतन्य मात्र, और ध्यान व ध्याता के भेद रहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान होता है।

[गा० ३०] उस समय ध्याता और ध्येय में द्वैत भाव नहीं रहता।

[गा० ३१] आचार्य कहते हैं कि शुद्ध भावों से ऐसे परम पुरुष परमात्मा का ध्यान कर।

सर्ग-४१ (धर्म ध्यान का फल वर्णन)

[गा० १] हे साधक ! यदि तू ध्यान करना चाहता है तो प्रथम ही अपने मन को वश में कर और शान्तभाव धारण कर।

[गा० २] तदि साधक अपने मन को वश में न कर सके तो उसे राग-द्वेष तो परिणत न होने दे।

[गा० ३] यदि साधक का चित्त स्थिर न होता हो तो वह बारह भावनाओं का चिन्तन करे। ये भावनाये धर्म ध्यान में कारण है।

[गा० ४] कर्म के नाश के लिये ध्यान करना ही चाहिये।

[गा० १०] इस काल में संहनन व वैराग्यभाव की कमी के कारण शुक्ल ध्यान संभव नहीं है। इसलिये धर्म ध्यान का ही वर्णन करते हैं।

[गा० ११] धर्म ध्यान करने वाला, शरीरादि परिग्रहों को छोड़कर आत्मा में ठहरता हुवा, एकाग्रता को धारण कर, इन्द्रियों और मन का संयोग न करता हुवा, मन को केवल स्वरुप में ही स्थिर करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १४] इस धर्म ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है और लेश्या सदा शुक्ल.ही रहती है।

[गा० १६] जो पुरुष इस पर्याय के अन्त समय में, समस्त परिग्रहों को छोड़ कर, धर्म ध्यान से शरीर छोडता है, वह ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानों में तथा सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होता है।

सर्ग-४२ (शुक्ल ध्यान का स्वरुप)

[गा० ३-४] धर्म ध्यान से निकल कर ही शुक्ल ध्यान होता है। यह ध्यान क्रिया रहित है, इन्द्रियातीत है, ध्यान की धारणा से रहित है, चित्त स्वरुप के सन्मुख ही रहता है। ऐसा यह शुक्ल ध्यान है।

[गा० ५] जिसके प्रथम तो वज्र वृषभनाराच संहनन हो, ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का जानने वाला हो, शुद्ध चारित्र हो, वही मुनि चारों प्रकार के शुक्ल ध्यान के योग्य होता है।

[गा० ७] शुक्ल ध्यान के, पृथकत्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति, व्युपरतक्रिया निवृत्ति, ऐसे चार भेद हैं। उसमें पहले के दो तो छद्मस्थ अर्थात बारहवे गुण स्थान पर्यन्त होते हैं और अन्त के दो शुक्ल ध्यान, केवल ज्ञानियों के होते हैं।

[गा० ८] प्रथम के दो शुक्ल ध्यान जो छद्मस्थ के होते हैं उनमें श्रुतज्ञान पूर्वक पदार्थ का आवलंवन होता है और अन्त के दो शुक्ल ध्यान जो जिनेन्द्र देव के होते हैं, समस्त आवलंवन रहित होते हैं।

[गा० ९] पहला शुक्ल ध्यान वितर्क और विचार सहित है पर पृथक्त है।

[गा० १०] दूसरा शुक्ल ध्यान वितर्क सहित है पर विचार रहित है और एकत्व पद से सहित है।

[गा० ११] तीसरा शुक्ल ध्यान में उपयोग की क्रिया नहीं है परन्तु काय की क्रिया विद्यमान है, यह काय की क्रिया घटते-२ जब सूक्ष्म रह जाती है तब यह ध्यान होता है।

चौथे शुक्ल ध्यान में काय की क्रिया भी मिट जाती है।

[गा० १२] पहले शुक्ल ध्यान में मन-बच-काय तीनो योग होते हैं, वे पलटते रहते हैं। दूसरें में कोई एक योग होता है, वही रहता है, तीसरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल काय योग वाले के ही होता है जो केवली के होती है, चौथा अयोग केवली के होता है क्योंकि उसके योगों की क्रिया का सर्वथा अभाव है।

[गा० १५] श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं और अर्थ व्यंजन, और योगों के संक्रमण का नाम वीचार है।

[गा० ४१] केवल की जब अन्तर्मुहुर्त आयु शेष रह जाती है तब तीसरा शुक्ल ध्यान होता है।

[गा० ४२] जो जिन देव अधिक से अधिक छः माह की आयु शेष रहते केवली हुवे हैं उन्हें नियम से समुद्धात होता है। अधिक आयु वालों के समुद्धात हो या न हो।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. सिद्धान्त सार संग्रह

परिच्छेद-१ (सम्यग्दर्शन स्वरुप)

[गा० १] केवली में औदायिकभाव, क्षायिकभाव और पारिमाणिक भाव होते हैं।

[गा० ६-१०] इस संसार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र रुप रत्नत्रय ही आत्मा का हित करता है। जिसने इसे प्राप्त किया उसी का मनुष्य जन्म सफल व सार्थक हुवा।

[गा० १६ से १६] बुद्धिमान लोग परीक्षा करके ही धर्म को ग्रहण करते है और अधर्म को छोडते हैं।

[गा० २१-२४] कुल परम्परा से मिला अधर्म भी कुष्ठ रोग के समान त्यागने योग्य ही है।

[गा० ३०-३१] जो विना सद्‌गुरु के इस संसार को तैरने की इच्छा रखता है वे मूढ जीव हैं।

[गा० ३८] छः अनायतन, तीन मूढता, शंकादि आठ दोष और आठ मद, ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के दोष हैं।

[गा० ५१] सम्यग्दर्शन, ओपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक, तीन प्रकार होते हैं।

[गा० ५५-५६] औपशमिक और क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शक, साधन भूत हैं क्षायिक के।

[गा० ५६] सम्यग्दर्शन होने पर ही, ज्ञान व चारित्र में समीचीनपना आता है।

[गा० ६१] सम्यग्दर्शन से ही आत्मानुभूति होती है, तप से नहीं। तप से सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है।

[गा० ६५] विना सम्यग्दर्शन के कितना ही घोर चारित्र पालो, वह मुक्त नहीं हो सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ६७] सम्यग्दर्शन रहित, ज्ञान अज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है। संसार वर्धक ही है।

परिच्छेद-२ (सम्यग्ज्ञान स्वरुप)

[गा० १।२] सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह स्व और पर का स्वरुप जानता है।

[गा० ८] इन्द्रियों और मन में जो जानने की सामर्थ्य आई वे आत्मा के ज्ञान गुण से आई।

[गा० ९] सम्यग्ज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं रहते। इस ज्ञान के मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञ न, मन पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान भेद हैं।

[गा० ११] मति ज्ञान इन्द्रियों और मन में उत्पन्न होता है। मन से भी मति ज्ञान होता है।

[गा०४५-४६] श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसके अंग व अंग वाह्य दो भेद हैं। अंग ज्ञान के वारह भेद हैं। दृष्टिवाद अंग के पांच भेद हैं। पूर्व के चौदह भेद हैं।

[गा० १३०-१३३] अंग वाह्य श्रुत के चौदह प्रकीर्णाक कहे हैं।

[गा० १५०] श्रुत ज्ञान के बीस भेद भी कहे है वे पर्याय, पर्याय समास आदि हैं।

[गा० १५४-१५५] अपर्याप्त नित्य निगोद का जो जन्म का प्रथम क्षण, उसमें जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे पर्याय श्रुत कहते हैं। वह ज्ञान सबसे जघन्य है, पर हमेशा प्रकाशयुक्त प्रकट होता है कभी आवरण नहीं आता।

[गा० १६७] अवधिज्ञान के असंख्य प्रकार हैं। यह ज्ञान इन्द्रिय व मन से नहीं होता, परन्तु आत्मा से उत्पन्न होता है। इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान है।

[गा० १६८] संज्ञी-पर्याप्तक पशु व मनुष्यों को अवधि ज्ञान हो जाता है। देव नारकी जीवों को भव प्रत्यय ही हो जाता है।

[गा० १८०] अन्य व्यक्ति के मन में स्थित पदार्थ को जानने से यह मन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्यय है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह केवल मनुष्यों में होता है, पशु देव नारकी में नहीं।

[गा० १९५] विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय, इनकी अपेक्षा से अवधि-ज्ञान से मन पर्यय: ज्ञान विशिष्ठ माना गया है।

[गा० १९६] सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से, लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाला उत्तम केवल ज्ञान होता है। यह अकेला ही रहता है। इसके रहते पहले चारों ज्ञान नहीं रहते।

[गा० १९९-२०१] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञान, जव मिथ्या दर्शन के साथ होते हैं तो, तब अज्ञान अथवा कुज्ञान होते हैं।

[गा० २०३] यह सम्यग्ज्ञान की ही महिमा है कि इसके द्वारा मुनि इस ज्ञान को वढाकर मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं।

३-तृतीय परिच्छेद-(चारित्र स्वरुप)

[गा० १-२] चारित्र मोह कर्म के क्षयोपशम से, अथवा उपशम से, या क्षय से जो आचरा जाता है, उसे चारित्र कहते हैं। यह चारित्र बढ़ते बढ़ते जब शून्य होता है तो यथाख्यात चारित्र कहलाता है और तब मोक्ष हो जाता है। यह चारित्र पांच प्रकार है—सामायिक, छेदोपस्थाना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात।

[गा० ५] मैं इस प्रकार से यह काम करूंगा, ऐसा जो मन का संकल्प वह व्रत है।

[गा० ६] प्रयत्त योग से प्राणियों की हिंसा होती है, वह जीवों को संसार के दुख देती है इन्द्रियों की क्रियाओं में जो सावधानी नहीं वरतता, उसे प्रमत्त कहते हैं।

[गा० ७] हिंसा के १०८ भेद हैं। संरंभ, क्षमारंभ, आरम्भ को मन-वचन काय से गुणा करके क्रि कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करे, फिर चार कषायों क्रोध-मान-माया-लोभ से गुणा करे तो १०८ भेद हैं जो वड़े दुःखदायी हैं।

[गा० १२] जो हिंसा करता है, उसे छयासठ हजार छः सौ छत्तीस वाल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरण होते हैं। मिथ्यात्व से प्राप्त होने वाले मरण को बालमरण कहते हैं।

[गा० ४४-४५] हितकर, मित, अल्प, सदाचार प्रयुक्त, सब प्राणियों का सुख देने वाला, मधुर और प्रेम युक्त, ऐसा भाषण, सत्य कहलाता है। क्रोध पूर्ण, गर्व पूर्ण, निंदायुक्त, संकट उत्पन्न करने वाला, वैरजनक, अप्रिय, दुखदायी वचन असत्य वचन हैं।

[गा० ५४-५५] धन भी बहिरंग प्राण है। बिना दिये किसी वस्तु का ग्रहण चोरी है।

[गा० ६८ से ७२] मुनि नौ प्रकार मैथुन का त्याग करते हैं। स्त्री, रात्रि व नदी के समान है।

[गा० ९१-९२] आत्मा में जो अभिलाषा, वांछा, वही मुख्यता से परिग्रह है। धनादि बाह्य परिग्रह तो गौणता से हैं।

[गा० ९३ से ९५] बाह्य परिग्रह १० है और अंतरंग परिग्रह १४ हैं।

[गा० ९६-९९] जिससे प्रमाद योग उत्पन्न होकर ममत्व से पदार्थों का ग्रहण होता है, ऐसे संकल्प को परिग्रह कहते हैं।

[गा० १००-१०१] परिग्रह, हिंसा, झूठ चोरी आदि महापाप निरन्तर होते ही रहते हैं।

[गा० १०२-१०३] राग-द्वेष संसार के मूल कारण हैं। जो इष्ट वस्तुयें प्रीति होती हैं वह राग है। अनिष्ठ वस्तुओं में जो अप्रीति होती है, वह द्वेष है।

[गा० ११०-१११] सज्जन लोग, आपत्ति में विषाद और सम्पत्ति में हर्ष नहीं करते।

अध्याय-४ (अणुव्रत और महाव्रत वर्णन)

[गा० २-३] संसारी जीवों के अहिंसादिव्रत एक देश से पालने पर अणु व्रत कहलाते हैं और सम्पूर्ण रुप से पालने पर महाव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत के धारण करने वाले ग्रहस्थ होते है, और महाव्रत के धारण करने वाले मुनि होते हैं। परन्तु ये दोनों व्रती निःशल्य ही होते हैं।

[गा० ४] जो प्राणी को पीडा देता है वह शल्य है। माया, मिथ्यात्व और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निदान तीन शल्य हैं।

[गा० १६ से २४४] मिथ्या दृष्टि सम्प्रदायों का खंडन किया गया है। मिथ्यात्व ही अनादिकाल से संसार भ्रमण करा रहा है। मुक्ति सम्यग्दर्शन से होगी। चरित्र से रहित ज्ञान, ज्ञान से रहित चारित्र, सम्यग्दर्शन रहित चारित्र, यह सब मिथ्यात्व है। यह शल्य महा दुःख देने वाला है।

[गा० २४६] निदान शल्य, प्रशस्त और अप्रशस्त दो भेद रुप हैं।

[गा० २४७] प्रशस्त निदान, संसार का भी कारण है, उसे संसार निमित्तक प्रशस्त निदान और प्रशस्त निदान मोक्ष का भी कारण है, उसे मोक्ष-निमित्तक प्रशस्त निदान कहते है।

[गा० २४८-२५०-२५१] पहला प्रशस्त निदान किंचित दुख भी देने वाला है क्योंकि वह शुभ भाव रुप है। दूसरा प्रशस्त निदान मोक्ष का देने वाला है क्योंकि वह शुद्ध भाव रुप है।

[गा० २५२ से २५४] अप्रशस्त निदान भी दो भेद रुप हैं। पहला भोग हेतू से होता है और दूसरा मान हेतु से होता है। दोनों निन्दनीय व संसार के कारण हैं।

[गा० २६१] चतुर पुरुष इन तीनों प्रकार के शल्यों का त्याग करते हैं।

[गा० २६३] जो निःशल्य होकर व्रतों का पालन करता है, वही सुखी होता है।

अध्याय-५ (तत्त्वों का स्वरुप)

[गा० ३] जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, सात तत्त्व हैं।

[गा० ४-६] शुद्धनय से जो चैतन्य प्राण से सर्वदा जीता है इसलिये उसे जीव कहते हैं और व्यवहार नय से, जो इन्द्रिय, वल, आयु और श्वासोच्छ-वास, चारो प्राणों संसार भ्रमण करता जीता है इसलिये उसे जीव कहा है।

[गा० ७८] यह जीव उपयोग से तन्मय है। वह दर्शनोपयोग और ज्ञानो-पयोग दो रुप है। ये दोनों उपयोग आत्मा के लक्षण होने से सर्वदा आत्मा में रहते हैं।

[गा० ६] वह उपयोग वाह्य कारणों से और अंतरंग कारणों से होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाह्य कारण दो प्रकार है (१) आत्म भूत और (२) अनात्मभूत। आंख कान आदि इन्द्रियां आत्मभूत वाह्य कारण है और दीपक आदि अनात्मभूत वाह्य कारण हैं। अंतरंग कारण भी, आत्मभूत और अनात्मभूत दो प्रकार हैं। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा व कायवर्गणा अंतरंग अनात्मभूत कारण हैं और वीर्यान्तिराय कर्म ज्ञानावरण कर्म,दर्शनावरण कर्म का क्षायोपशम अथवा क्षय, वह आत्मभूत अंतरंग कारण हैं। जब उपयोग पदार्थों को जानने के लिये प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं। ज्ञानोपयोग साकार है और दर्शनोपयोग निराकारा ज्ञानोपयोग आठ प्रकार हैं मति, श्रुतादि और दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवल दर्शन चार प्रकार हैं।

[गा० १०] जीव मूर्त्तिक व अमूर्त्तिक दोनों है। शुद्ध नय की अपेक्षा अमूर्त्तिक है। अशुद्ध नय से तथा कर्मों से बद्ध होने के कारण मूर्त्तिक है। विजली, मेघगर्जना, वज्रपात आदि से आत्मा में भय उत्पन्न होता है, और मद्यादिक सेवन से आत्मा शक्ति विकल होता है, अतः मूर्तिक है।

[गा० ११ से १९] आत्मा कर्म रहित भी है और कर्त्ता भी है, व्यापक है और देह प्रमाण भी है, निरुपाधित्व भी है और सोपाधित्व भी है. अनन्त सुख युक्त भी है और दुख-सुख युक्त भी है, संसारी भी है, मुक्त भी है, सिद्ध भी है और असिद्ध भी है, उर्ध्वगति रुप भी है और संसार भ्रमण रुप भी है।

[गा० २० से ३१] दूसरे धर्मो में आत्मा के स्वरूप का माना जाने का खंडन।

[गा० ३४-३५] संसारी जीव को चतुर्गति के भ्रमण को परिवर्तन कहते हैं। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरुप से पांच प्रकार है।

[गा० ३६ से ४२] द्रव्य परिवर्तन के दो भेद हैं। नोकर्म परिवर्तन ओर कर्म परिवर्तन।

[गा० ६१] जो पुदगल, जीव के नो कर्म रुप और कर्म रुप परिवर्तन होते हैं, उसको पुद्गल परिवर्तन कहते हैं। जब दोनों में से कोई एक पूर्ण होता है तो उसे अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन कहते हैं, और जब दोनों पूर्ण होते हैं तो पुद्गल परिवर्तन कहते हैं।

[गा० ४४-४६] यह जीव तीन लोक के सब क्षेत्रों में मरकर उत्पन्न हुवा है। जब क्षेत्र परिवर्तन पूर्ण हो जाता है तो क्षेत्र परिवर्तन कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्र परिवर्तन के भी दो भेद हैं:—(१) स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन।

[गा० ४६] यह जीव काल परिवर्तन रुप दुख सहता है, विराम नहीं लेता।

[गा० ५०] जिन कर्मों से आवृत्त होकर जीव, तिर्यंच, नारकी, देव और मनुष्य पर्यायों को धारण करके संसार में घूमता है, उसे भव परिवर्तन कहते हैं।

[गा० ५१] सम्पूर्ण कर्मों के जो मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग प्रत्ययों के भेदों से जो असंख्य प्रकार आत्मा के परिणाम, वह भाव परिवर्तन है ।

[गा० ५२-५३] इस प्रकार आनादि काल से पांच प्रकार के संसार समुद्र में यह जीव आपदा सहित घूम रहा है। इससे ताने का उपाय केवल रत्नत्रय रुप जहाज है।

[गा० ६०-६३] स्थावर के तीन भेद होते हैं जैसे पृथ्वी. पृथ्वी काय, पृथ्वी कायिका जिससे पृथ्वी नाम कर्म का उदय हुवा है, परन्तु जिसने अभी पृथ्वी को शरीर रुप धारण नहीं किया, वह पृथ्वी है। जिसने पृथ्वी शरीर को धारण कर लिया वह पृथ्वी कायिका है। पृथ्वी कायिका जीव ने जो शरीर छोड दिया, वह शरीर पृथ्वी काय है ऐसे दूसरे स्थावर समझे।

[गा० ६८ से ७२] एक इन्द्रिय जीव के चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रिय के छः प्राण होते हैं क्योंकि रसना के साथ वचन भी बढ़ जाता है। त्रीन्द्रियों के सात प्राण, चौइन्द्रय के आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के नौ प्राण और संज्ञी पंचेन्द्रिय के दश प्राण होते हैं।

[गा० ७३] इन्द्रियों का क्रम-स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रौत्र है।

[गा० ७४-७५] द्रव्येन्द्रिय उपकरण और निवृत्ति दो रूप होती है।

[गा० ८१ से ८३] भावेन्द्रिय लब्धि रूप और उपयोग रूप, दो अवस्था रूप है।

[गा० ९२] जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकार की जाति जानी जाय, उन धर्मों को अनेक पदार्थों का संग्रह करने वाले होने से जीव समास कहा है। जीव समास १४ प्रकार है। एकन्द्रिय के चार द्वीन्द्रिय के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छः जीव समास और पंचेन्द्रिय के चार जीव समास है।

[गा० ९३] हित का ग्रहण, अहित का त्याग जिसके द्वारा क्रिया जाय, उसे शिक्षा कहते हैं। इच्छा पूर्वक हाथ पैर चलाने को क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा वताये कर्त्तव्य को उपदेश कहते हैं और श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं। जो जीव शिक्षा, उपदेश और आलाप के द्वारा, यह कार्य करने योग्य है, यह कार्य करने योग्य नहीं है, इससे हित होगा, इससे नहीं होगा ऐसा विचार कर प्रवृत्ति-निवृत्ति करते हैं, वे संज्ञी हैं।

[गा० ९४-९५] जो जीव उपरोक्त रुप नहीं है, वे अतिशय पाप बोझ से असंज्ञी हैं।

[गा० ९६-९७] पर्याप्ति छः है:—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन ।

[गा० ९८] पर्याप्त, निर्वृ त्य पर्याप्त, और लब्ध पर्याप्त, जीव के तीन भेद हैं। जिस जीव को पर्याप्ति हो गई, वह पर्याप्त कहलाता है। ऐसे पर्याप्ति जीव को जव तब तक पर्याप्ति नहीं होती तव तक निर्वृ त्य पर्याप्त कहते हैं। जिस जीव की पर्याप्ति कभी पूरी नहीं होगी वह लब्ध पर्याप्त है एक इन्द्रिय जीव को पहली चार, द्वीन्द्रिय से असंज्ञी तक, पहली पांच, और संज्ञी को पूरी छः पर्याप्तियां होती है।

[गा० ९९] जिस भाव को द्रव्य का निज स्वरुप ही कारण है, वह पारिणामिक भाव है।

[गा० १०८] पूर्व शरीर को छोडकर जब आत्मा उत्तर शरीर ग्रहण करने के लिये प्रवृत्ति करता है, तब उसको भवान्तर के लिये गति करने में कारण कार्माण शरीर होता है। यह शरीर औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस तथा कार्माण शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण है। यह सब शरीरों में पहला है। इसके न होने पर दूसरे शरीर की उत्पत्ति नहीं होगी। इसके होने पर ही और शरीरों की उत्पत्ति हो सकती है।

[गा० १०९] मन-वचन-काय की जो हलन चलन होती है, उसे योग कहते हैं।

[गा० ११०-१११] लोकाकाश में रहने वाले जीव व पुदगलों की गति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुश्रेणी होती है। जीव जब भाते हैं तब भवान्तर में जाते समय, उनकी अनुश्रेणी गति होती है, अर्थात अद्योलोक से उर्ध्वलोक को, ऊपर से सीधे नीचे, पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व, उत्तर से दक्षिण, आदि। इसे अनुश्रेणी गति कहते हैं मुक्त जीवों की गति अनुश्रेणी गति ही उर्ध्व होती है। मरणकाल के अलावा भिन्न काल में वह अनेक प्रकार की होती है।

[गा० १२० से १३२] जीवों की चौरासी लाख योनियों का वर्णन है।

[गा० १३३ से १३८] इनमें जीवों की कुलो की संख्या दी गई है। कुल संख्या एक सौ साठ निन्यावें लक्ष कोटि है। इसमें निगादिया जीव संख्या नहीं है। संसारी जीवों की भिन्न २ जाति की संख्या बराबर रहती है। जितने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने ही निगोद से निकलते रहते हैं।

[गा० १५२-१५३] जीव जिनमें छेदे जाते हैं, अथवा उनका वर्गीकरण किया जाता है, उसे मार्गणा कहते हैं। ये मार्गणा १४ हैं। काय, गति, इन्द्रिय, ज्ञान, कषाय, आहार, संयम, वेद भव्यत्व, सम्यक्त्व, लेश्या, दर्शन, योग और संज्ञी। ये मार्गणायें अनेक क्रम से युक्त है।

[गा० १५५ से १५७] औदारिक, वैंक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण पांच शरीर है जो उत्तरोत्तर क्रम से सूक्ष्म सूक्ष्म हैं।

[गा० १६१] तैजस और कार्माण शरीरों का कहीं भी प्रतिबंध नहीं होता। इसलिये इनकी साथ रहा यह जीव, विग्रहगति में जाकर सुबूरवर्ती क्षेत्रों में उत्पन्न होता है। इस जीव का अनादि काल से इन दो शरीरों से सम्वन्ध है।

[गा० १७२-१७३] जीव में कर्मयोग से लेश्या होती है। कषाय के उदय से जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है, जिससे आत्मा के प्रदेशों में केप उत्पन्न होता है, वह लेश्या है। इस लेश्या के द्वारा यह जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करता है। इसके छः भेद हैं।

अध्याय-६ (चारों गतियों का वर्णन)

(नरक लोक का वर्णन)

[गा० २१-२२] पहली चित्रा पृथ्वी १६ हजार योजन मोटी है। इसका पहला १००० योजन मेदर पर्वत (सुमेरु) का आधार है। उसके नीचे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खलाभ है १५००० योजन है।

[गा० २३-२४] खर भाग के नीचे पंक भाग है जो ८४000 योजन है। उसके नीचे ८0000 योजन का अब्हुल भाग है। यह नारकियों का स्थान है।

[गा० २५] इस प्रकार पहली रत्न प्रभा पृथ्वी तीन भागों में, खर भाग, पंक भाग और अब्हुल भाग में विभक्त है।

[गा० २६-२७-२८] खर भाग (१५000 योजन) में भवन वासी और व्यन्तरवासी देव रहते हैं। पंक भाग में असुर और राक्षस जाति के देव रहते हैं। तीनों अब्हुल भाग में असुर और राक्षस जाति के देव रहते हैं। तीनों अब्हुल भाग में नारकियों के विल अर्थात स्थान है।

[गा० १ से ६४] इसमे पूरे नारकी जीवों व नरकों का वर्णन है।

अध्याय-७ मध्य लोक वर्णन

[गा० २५] लवण, कालोदधि, स्वयंभू रमण समुद्र में ही मछली आदि जीव है, शेष द्वीपों में जलचर जीव नहीं पाये जाते।

[गा० २६ से १४१] जम्वू द्वीप का वर्णन है।

[गा० १४२ से १५६] शेष में मध्य लोक वर्णन है।

[गा० १५७ से १६५] आर्य व मलेच्छ मनुष्यों का वर्णन ऋद्धि प्राप्त व अऋद्धि प्राप्त मनुष्यों का वर्णन।

[गा० १६६ से १८२] मलेच्छों और कुमानुषों का वर्णन।

[गा० १८३ से २३४] कर्म भूमि व उनमें रहने वाले मनुष्यों आदि का वर्णन और मिथ्याहष्टि व सम्यग्दृष्टि जीव कहां कहां जन्म लेते हैं, उसका वर्णन।

अध्याय-८ (देवलोक वर्णन)

[गा० १ से १३६] भिन्न भिन्न प्रकार के भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिषी, और कल्पवासी देवों का विस्तृत वर्णन।

[गा० १३७] सौधर्मेन्द्र और उसकी शची देवी, सौधर्मेन्द्र के लोकपाल देव,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुबेर, यम, वरूण, और इंशान ये देव, दक्षिण दिशा के इन्द्र तथा लोकान्तिक देव, ये स्वर्ग सेच्युत होकर मनुष्य भव धारण करते हैं और उसी भव से मोक्ष पाते हैं।

[गा० १३८] भवन वासी, व्यंतरवासी, ज्योतिष्क देव, अगले भव में शला का पुरुष नहीं होते अर्थात तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रति नारायण, और बल भद्र नहीं होते, परन्तु कोई कोई मोक्षगामी होते हैं।

अध्याय-९ (अजीव तत्त्व, आस्रव तत्व व बंध तत्व वर्णन)

[गा० १ से ७५] अजीव तत्त्व व पांच द्रव्य पुदगल, धर्म,अधर्म, आकाश और काल का वर्णन

[गा० ७६ से १८० तक] आस्रव तत्त्व का विस्तार पूर्वक वर्णन

[गा० १८१ से २१४] बंध तत्त्व का विस्तार पूर्वक वर्णन

[गा० २१५ से २१९] संवर तत्त्व का वर्णन

अध्याय-१० (निर्जरा तत्त्व वर्णन)

[गा० १] निर्जरा के दो भेद (१) सविपाक निर्जरा (२) अविपाक निर्जरा

[गा० ४] जिससे तप्तहोकरमनुष्य कर्मपुदगलों को छोड़ देता है वह तप है।

[गा० ५ से ७] तप के वाह्य आभ्यंतर दो भेद हैं। वाह्य तप के छः भेद वृत्ति संख्यान, अवमोदर्य, उपवास, रस त्याग, विविक्त शय्यासन और काय क्लेश।

[गा० १७] अंतरंग तप के छः भेदः—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय कायोत्सर्ग और ध्यान।

[गा० २३] प्रायश्चितों के नाम- गुहमास, भिन्न मास, लघुमास, पंच-कल्याण

[गा० ३२] मन-वचन-काय की एकाग्रता कर जो भव्य एक सौ आठ बार णमोकार मंत्र का जाप करता है उसे एक उपवास का (प्रोषध) का फल होता है, उतनी ही कर्मों की निर्जरा होती है।

[गा० ३३] प्रायश्चित देते समय छः वातें जानना आवश्यक हैः—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोष, काल, छेद-प्रायश्चित, भुक्ति और दोषी पुरुष।

[गा० ३४ से ९६] भिन्न-२ अवस्थाओं में प्रायश्चित देने की विधि बतलाई है।

[गा० ९७] प्रायश्चित के दश भेद हैं:— आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और पारंचिक।

[गा० ९८ से १४७] प्रायश्चित देने का विवरण है।

[गा० १४८] दिगम्बर दीक्षा धारण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यों के ही योग्य है।

[गा० १४९ से १५६] आर्यिकाओं की शुद्धि का विवरण

[गा० १५७] स्नान तीन प्रकार है- व्रत स्नान, मंत्र स्नान और जल स्नान ग्रहस्थ का स्नान तो जल से होता है, मुनियों का व्रत और मंत्र से होता है।

[गा० १५८] गुणों की अपेक्षा श्रावकों ११ प्रकार (प्रतिमा) है।

[गा० १५९-१६१] प्रतिमाओं का विशेष वर्णन।

[गा० १६२] ग्रहस्थियों को भी प्रायश्चित दिया जाता है। मुनियों के प्रायश्चित से आधा १०-११ वीं प्रतिमाधारी को, इससे आधा सातवी, आठवीं, नौवी प्रतिमाधारी को, इससे आधा पहली से छठीं तक प्रतिमाधारी को प्रायश्चित का विधान है।

[गा० १६४] प्रायश्चित शुद्धि के लिये किया जाता है, दण्ड की भावना से नहीं।

अध्याय-११ (निर्जरा-मोक्ष तत्त्व वर्णन)

[गा० १] अर्हंत आदि पूज्यों का और सम्यग्दर्शनादि गुणों वाले का आदर करना विनय तप है दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप चार भेद हैं।

[गा० ८ से १४] आचार्य, उपाध्याय व साधुवों के प्रकार का वर्णन।

[गा० १५] वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्म देशना, स्वाध्याय के पांच भेद हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २१-२२] स्वाध्याय से ज्ञान होता है, ज्ञान से तत्त्वों का पता चलता है, तत्त्व जानने से तत्त्वों का श्रद्धान होता है। सम्यग्ज्ञान होने से चारित्र होता है। अत: स्वाध्याय रत्नत्रय का मूल है।

[गा० २३ से ३२] स्वाध्याय से शुभ और शुद्ध परिणाम होते हैं, स्वाध्याय से संवेग (संसार से भय) होता है, जिससे मोह दूर होता है। जिससे संसार नष्ट होता है। स्वाध्याय से कर्मों का नाश होता है। जिस कर्म के खपाने को करोड़ों भव व्रत करने होते हैं, वह स्वाध्याय से तत्काल नष्ट हो जाता है। ज्ञान के बिना आत्मा की दूसरी शक्तियों या गुणों में स्वपर का विचार करने की शक्ति नहीं है। स्वाध्याय से तप में वृद्धि, चित्त व नेत्र का संयम होता है और मोक्ष होता है।

[गा० ३३-३४] जब ज्ञान एक ही विषय पर स्थिर होता है, तब उसे ध्यान कहते है। वह ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल चार भेद वाला है।

[गा० ३५ से ८४] ध्यान का वर्णन है। यह ध्यान तप के अन्तर्गत है।

[गा० ८६-८७] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति कर्म है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच बंध के कारण है, जब इनका नाश होता है तो आत्मा में आगे कर्म आने रुक जाते हैं और पिछलों की निर्जरा हो जाती है तो उस समय सब कर्मों का नाश हो जाने से उसे मोक्ष अवस्था कहते हैं।

अध्याय-१२ (सल्लेखना मरण वर्णन)

[गा० २ से ५] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, और तप, ये आराध्य हैं, और यह भव्य जीव उनका आराधक है और आराधना करने वाला है। तप आराधना रत्नत्रय आराधनाओं को प्रबल बनाने में सहायक हैं।

[गा० १२] भव्य जीव, बारह भावनाओं का चिन्तन करता, दश धर्म का पालन करता है, आस्रव तत्त्व को जानता है, बारह तप करता है, जिससे कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा वह आराधक है।

[गा० २६ से २७ व २६] देवपना, तिर्यंचपना नारकीपना और मनुष्यपना, इन पर्यायो का नाश, मरण कहलाता है। यह पांच प्रकार है:–पंडित-पडित, पंडित, बाल-पण्डित, बाल और बाल-बाल। केवलीमरण पहला, संयमी मुनि मरण दूसरा, प्रतिमाधारी श्रावक का तीसरा, अविरत सम्यग्दृष्टि का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौथा, और मिथ्यादृष्टि का पांचवा मरण होता है।

[गा० ३२-३३ व ३४] पंडित मरण के तीन भेद हैं— प्रायोपगमन, डेंगिनी और भक्त त्याग। डेगनीमरण वाला स्वयं अपनो वैयावृत्य करता है और भक्त त्याग वाला दूसरों से वैयावृत्य कराता है। प्रायोपगमन अथवा पादोपगमन मरण अपनी वैयावृत्य स्वयं भी नहीं करता।

[गा० ३८-३९] क्षण क्षण जो आयु का क्षय हो रहा है उसे आविचिमरण कहते हैं वर्तमान आयु जो भोगी जा रही है उसे भुज्यमान आयु कहते हैं। भुज्य मान आयु का जो मरण होता है उसे तद्भव मरण कहते हैं।

[गा० ४०-४१] जिस मरण से पूर्व भव में मरा था, यदि उसी मरण से इस भव में भी मरण करे तो उसे 'अवधि मरण' कहते हैं। और यदि इस भव में दूसरे मरण से मरण करे तो उसे 'आद्यन्तमरण' कहते हैं।

[गा० ४२ से ४७] माया, मिथ्या-निदान के साथ मरण को सशल्य मरण कहते हैं रत्नत्रय का त्याग होने पर मरण को समुत्सृष्ठ मरण कहते हैं हाथी आदि के पेट में घुसकर जो मरण होता उसे गृद्धपृष्ठ मरण कहते हैं। श्वास रोक दम घुटने से जो मरण होता है उसे विघ्रास मरण कहते हैं। संकलेश परिणाम सहित मरण को अप्रशस्त मरण है, मुनि भृष्ट होकर मरण को बलाका मरण कहते हैं।

[गा० ५० से ५७] मरण समय की ३६ क्रिया काण्डों का वर्णन है।

[गा० ५८ से ६४] जब किसी साधु के संयम समुदाय को नष्ट करने वाला रोग अथवा उपसर्ग आता है जिसमें जीने का आशा न रहे, तब साधु सल्लेखना लेता है। संक्लेश भावनाओं व दुर्जन का संग छोड़ने का वर्णन। दुर्जन का संग विष से अनन्त गुणा दुख देता है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३. गोम्मटसार (जीव काण्ड)

अधिकार-१ (गुण स्थान वर्णन)

[गा० १] निर्विघ्न समाप्ति, नास्तिकता परिहार, शिष्टाचार परिपालन और उपकार स्मरण, इन चार प्रयोजनों के लिये, इष्ट देव को प्रारम्भ में नमस्कार करते हैं। सिद्धान्त में बन्धक, बध्यमान, बन्ध स्वामी, बन्ध हेतु और बन्ध भेद, इस तरह पांच विषयों का वर्णन है, उनमें से यह ग्रन्थ केवल बन्धक जीव का प्रतिपादन करता है।

[गा० २] इस ग्रन्थ में गुण स्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, १४ मार्गणा और उपयोग, इन बीस प्ररुपणा का वर्णन है।

[गा० ३] गुण स्थान मोह और योग के निमित्त से संसारवस्था में होते हैं।

[गा० ४] जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग इन सब भेदों का मार्गणाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः गुण स्थान और मार्गणा ही माननी चाहिए।

[गा० ७] उपयोग दो प्रकार साकार और अनाकार रुप हैं। साकार को ज्ञान और अनाकार को दर्शन कहते हैं।

[गा० ८] दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम अवस्था होने पर, जिन परिणामों से जो जीव देखे जाते हैं, वह गुण स्थान है।

[गा० ९-१०] गुण स्थान मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरत, प्रमत विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त मोह, क्षीणमोह, सयोग केवलीजिन, अयोग केवली जिन, ये १४ गुण स्थान है। सिद्ध गुण स्थान रहित अवस्था है।

[गा० ११] प्रथम गुण स्थान में औदायिक, द्वितीय में पारिणामिक, तीसरे में क्षयोपशमिक, चौथे में ओपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, तीनों भाव होते हैं।

[गा० १२] प्रथम गुण स्थान में क्षयोपशमिक भाव भी होते हैं, परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन मोहनीय की अपेक्षा से देखा जाय तो औदयिक भाव ही होते हैं। इसी तरह सासादन दूसरे गुण स्थान में दर्शन मोहनीय की अपेक्षा ही नहीं है।

[गा० १५] मिथ्यात्व के पांच भेद-एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान हैं।

[गा० १६] बोद्धादि मत वाले एकान्त, याज्ञिक ब्राह्मण विपरीत, तापसादि विनय, श्वेताम्बर आदि संशय और गोशालादि अज्ञान मिथ्यादृष्टि के दृष्टांत हैं।

[गा० १७] मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव विपरीत श्रद्धान वाला हो जाता है।

[गा० १९] सम्यग्दृष्टि जीव को जब अनन्तानुबन्धी कषाय में से किसी एक का उदय हो जाता है, तो सम्यक्त्व की विराधना होने पर सासादन गुण-स्थान हो जाता है। उस समय वह जीव न मिथ्या दृष्टि होता है, न सम्यग्दृष्टि।

[गा० २२-२३] मिश्र तीसरे गुण स्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भाव मिले जुले रहते हैं इस गुण स्थान में जीव, सकल संयम अथवा देश संयम नहीं कर सकता और न उसका मरण ही होता है।

[गा० २५] एक देशघाति, सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने से जो आत्मा के परिणाम होते हैं, उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

[गा० २९] जो इन्द्रियो के विषय से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र देव के प्रवचन का श्रद्धान करता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। परन्तु वह बिना प्रयोजन। किसी हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता।

[गा० ३२] सकल संयम के साथ साथ संज्वलन और नो कषाय का उदय रहने के कारण, संयम में मल लगता रहता है, अत: प्रमाद रहता है। प्रमत्त विरत है।

[गा० ३४] चार विकथा—स्त्री, भुक्त, राष्ट्र, अविनापाल, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, एक निद्रा और एक स्नेह, ये पन्द्रह प्रमाद हैं। ये छठे गुण स्थान तक हो सकते हैं।

[गा० ४५] जब संज्वलन और नो कषाय का भेद उदय होता है तब सकल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है। अतः उसे अप्रमत्त संयम कहते हैं। इसके स्वस्थान प्रमत्त और सातिशया प्रमत्त दो भेद हैं।

[गा० ५० से ५६] करण का अर्थ परिणाम है। संसारवस्था में बंधने वाले कर्मो के समूह को समय प्रबद्ध कहते हैं। यह बंध चार प्रकार, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश है। अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा इन्हीं चारों में अपूर्व कार्य होते हैं। प्रदेशों की गुण श्रेणी निर्जरा, प्रकृति का गुण संक्रमण, स्थिति और अनुभाग का खण्डन। नौ वें गुण स्थान निवृत्ति करण में, बंधे कर्मों में अपूर्वता आती है और अनुभाग शक्ति प्रति समय अनन्त गुणी, हीन होती जाती है।

[गा० ६१] घद्म शब्द का अर्थ ज्ञानावरण, दर्शनाबरण है। जो जीव इनके उदय की अवस्था में होते हैं, वे सव छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ भी दो प्रकार के सराग और वीतराग होते हैं। ग्यारहवें, बारहवें गुण स्थान वाले वीतराग और इससे नीचे के सब सराग छद्मस्थ हैं।

[गा० ६३] जिसको नौ केवल लब्धियों (क्षायिक-सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपयोग, वीर्य) के प्रकट होने से परमात्मा रुप संज्ञा होने से, योग से युक्त होने से, सयोग केवली, जिन कहा है।

[गा० ६५] जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है, आस्रव सर्वथा बंद हो चुका है, सब कर्मो की निर्जरा होने के सम्मुख है वह अयोग केवली है तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इन्द्रिय दश जीव, दश धर्म इनका गुणा १८००० होते हैं।

[गा० ६८] जो सब कर्मो से रहित हो गये हैं, अनन्त सुख रुप हो गये हैं, सिद्ध निरंजन है, नित्य है। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सुक्ष्मत्व, अगुरूलघु ये आठ गुण जिनके प्रकट हो गये हैं, कृतकृत्य हो गये हैं, लोक के अग्रभाग में हो गये, वे सिद्ध हैं।

[गा० ६९] सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक, वैशैषिक कर्तृ वादी मण्डली, इन मतो का निराकरण के लिये ये विशेषण दिये हैं। इनका विस्तृत विवरण दिया गया है।

अधिकार-२ (जीव समास वर्णन)

[गा० ७०] जिसके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकार की जाति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानी जावे, उन धर्मों को अनेक पदार्थों का संग्रह करने वाले होने से जीव समास कहते हैं।

[गा० ७२] एकेन्द्रिय के वादर—सूक्ष्म, २ भेद, विकलत्रय के ३ पंचेन्द्रिय के संज्ञी असंज्ञी २. इस प्रकार इन सातों जीवों के पर्याप्त, अपर्याप्त भेद से कुल जीव समास के सामान्यतः १४ भेद होते हैं।

[गा० ७३] पृथ्वी, जल, तेज, वायु, नित्य निगोद, इतर निगोद, इन छः एकेन्द्रिय के सूक्ष्म वादर भेद से १२, प्रत्येक वनस्पति के प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित भेद से २, त्रस के ५, इस प्रकार सब मिलाकर १९ भेद हुवे। ये सभी भेद पर्याप्ति, निर्वृत्य पर्याप्त और लब्ध पयाप्ति के भेद से ५७ हो जाते है।

[गा० ७४ से ९२] इन्हीं जीवों का वर्णन। भोग भूमि में जलचर, सम्मूर्छन तथा असंज्ञो जीव नहीं होते। स्थान, योनि. शरीर की अवगाहना और कुलों के भेद से वर्णन किया गया है।

[गा० ९३] नारकियों को नपुंसक वेद, मनुष्य तिर्यंचों के तीनों वेद, सम्मूर्छन मनुष्य और तिर्यंच नपुंसक, देव और भोग भूमि के पुरुष व स्त्री वेद हो होता है।

[गा० ९४ से ११७] जीव समासों का ही वर्णन अवगाहना व कुल अपेक्षा है।

अधिकार-३ (पर्याप्ति का वर्णन)

[गा० ११८] पर्याप्त और अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से युक्त जीव पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार होते है। जो पूर्ण वह पर्याप्त और जो अपूर्ण वह अपर्याप्त।

[गा० ११९] आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा और मन छः पर्याप्ति हैं। इनमें एकेन्द्रिय जीव के आदि की चार पर्याप्ति, विकलेन्द्रिय व असंज्ञो पंचेन्द्रिय के मन छोडकर शेष पांच, और संज्ञो पंचेन्द्रिय के सभो छ. पर्याप्ति होती है।

अपयप्ति जीवों के दो भेद निर्वृत्य प्राप्त और लब्ध्यपयप्ति दो भेद हैं। जिसकी पर्याप्ति पूर्ण हो जायगी वह निर्वृत्य प्राप्त और जिसकी पर्याप्ति कभी पूर्ण नहीं होगी, वह लब्ध पर्याप्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १२०] सभी पर्याप्तियों का आरम्भ तो युगपत होता है किन्तु पूर्णता क्रम से होती है। इनका पूर्ण होने का काल यद्यपि उत्तरोत्तर उत्तरोत्तर कुछ अधिक है, तथापि सामान्य से सबका अर्न्तमुहुर्त है।

[गा० १२३] एक लब्ध्य पर्याप्त जीव एक अन्तर्मुहूर्त काल में यदि जन्म मरण करता रहे तो उसके ६६३३६ जन्म मरण हो सकते हैं। ३७७३ उच्छवासों का एक मुहुर्त होता है।

अधिकार-४ (प्राण प्ररूपणा)

[गा० १२९] पर्याप्ति करण प्राण कार्य है। गृहीत पुदगल स्कन्ध विशेषों को इन्द्रिय, वचन आदि रुप परिणामने की शक्ति को पूर्णता को पर्याप्ति और वचन व्यापार आदि की कारणभूत योग्यता शक्ति को, तथा वचन आदि रूप प्रवृत्ति को प्राण कहते हैं।

[गा० १३०] पांच इन्द्रिय, तीन बल, श्वासोच्छवास तथा आयु, दस प्राण है।

[गा० १३१] मनोबल और इन्द्रिय प्राण वीर्यान्तराय कर्म और मति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, कायबल प्राण शरीर नाम कर्म से, श्वासोच्छवास प्राण, श्वासोच्छवास और शरीर नाम कर्म से वचन बल प्राण, स्वर नाम कर्म और शरीर नाम कर्म से और आयुबल आयु नाम कर्म के उदय से होते हैं। यह कथन पर्याप्ति की अपेक्षा से है।

[गा० १३३] संज्ञी पंचेन्द्रिय के १० प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के ९ प्राण, चतुरन्द्रिय के ८, त्रीन्द्रिय के ७, द्विन्द्रिय के छः एकेन्द्रिय के रसना और वचन को छोडकर ४ प्राण होते हैं। यह कथन पर्याप्त अपेक्षा से है।

अधिकार-५ (संज्ञा प्ररूपणा)

[गा० १३४] जिनसे क्लेशित होकर इस लोक में और जिनके विषय सेवन, करने से अगले लोक में भी, यह जीव दारुण दुख को प्राप्त होता है, उनको संज्ञा कहते हैं। यह आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ४ हैं।

[गा० १३९] अप्रमत्त गुण स्थान में आहार संज्ञा नहीं होती। शेष तीन संज्ञायें भी वहाँ उपचार से ही कही हैं क्योंकि उन उन कर्मों का उदय वहां पाया जाता है पर कार्य नहीं हुवा करता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिकार-६ (मार्गणा अधिकार)

[गा० १४१] प्रवचन में जिस प्रकार से देखे हों, उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार-अन्वेषण किया जाय, उनको मार्गणा कहते हैं। उन मार्गणाओं के १४ भेद हैं। मार्गणा शब्द का अर्थ अन्वेषण है।

[गा० १४२] गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व सम्यक्त्व, संज्ञा, आहार १४ मार्गणा हैं।

[गा० १४३] इन उपरोक्त मार्गणाओं में अन्तर विच्छेद नही पड़ता, वे सब जीवों के पाई जाती है अतः इन्हें निरन्तर मार्गणा कहा है। जिन मार्गणाओं में समय के एक नियत प्रमाण तक विच्छेद पाया जाता है उन्हें सान्तर मार्गणा कहते है। वे सान्तर मार्गणायें वास्तव में निरन्तर मार्गणाओं से भिन्न नहीं हैं। निरन्तर मार्गणाओं के गति, योग, संयम और सम्यक्त्व के ही भेदों के अवान्तर विशेष भेद रूप हैं। वे उपशम सम्यक्त्व, सूक्ष्म सांपराय संयम आहारक काय योग, आहारक मिश्र काय योग, वैक्रियिक मिश्र काय योग पर्याप्त लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्यक्त्व, और मिश्र सम्यक्त्व, ये आठ भेद हैं।

गति-

[गा० १४६] गति नाम कर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय को अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण गति कहते हैं। वे गति ४ है नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देवगति।

[गा० १४७] जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को नहीं प्राप्त होते उनको नारकी कहते हैं और वह नरक गति है।

[गा० १४८] जो मन-वचन-काय की कुटिलता को प्राप्त हो अथवा जिनकी आहारादि विषयक संज्ञा दूसरे मनुष्यों को अच्छी तरह प्रगट हो जाय और जो निकृष्ट अज्ञानी हों तथा जिनमें अत्यन्त पाप का बाहुल्य हो, उन्हें तिर्यंच कहते हैं। वह तिर्यंच गति कहलाती है।

[गा० १४९] जो नित्य ही हेय उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म, आदि का विचार करें और मन के द्वारा गुण दोषादि का विचार, स्मरण आदि कर सकें, जो पूर्वोक्त मन के विषय में उत्कृष्ट हों, शिल्प-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कलादिमें भी कुशल हो तथा युग की आदि में जो मयुष्यों से उत्पन्न हों, उनको मनुष्य कहते हैं, वह मनुष्य गति है।

[गा० १५१] जो देव गति में होने वाले, या पाये जाने वाले परिणामों-परिणमनों से सदा सुखी रहते हैं. जो अणिमा, महिमा लघिमा गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य ईशित्व, वशित्व गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहत रुप से विहार करते हैं और जिन का रुप लावण्य यौवन आदि सदा प्रकाश-मान रहता है, उनको देव कहते हैं और वह देव गति हैं।

[गा० १५२] एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक, पांच प्रकार की जाति, बुढ़ापा, मरण, भय, अनिष्ठ संयोग, इष्ट वियोग इनसे होने वाले दुख, आहारादि विषयक संज्ञायें-वाच्छायें और रोग आदि की व्याधि इत्यादि विरुद्ध विषय, जिस गति में नहीं पाये जाते, गुणस्थान रहित, उसको सिद्ध गति कहते हैं।

इन्द्रिय–

[गा० १६४] इन्द्रिय इन्द्र के समान जो हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे सब इन्द्र देव अपने २ को स्वतन्त्र मानते हैं, दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, इसी प्रकार इन्द्रियां भी अपने २ विषयों मे दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखती इसलिये इन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

[गा० १६५] इन्द्रियों के दो भेद (१) भाव इन्द्रिय और (२) द्रव्य इन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद निवृत्ति और उपकरण हैं। इन्द्रियों के पांच भेद हैं।

काय–

[गा० १८१] जाति नाम कर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं। इसके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस छः भेद हैं। यहां पर काय से शरीर का ग्रहण करके कोई भ्रम में न पड़े क्योंकि जीव विपाकी कर्मों के उदय से जन्य जीव पर्याय रुप ही काय का लक्षण है।

[गा० १८३] जो शरीर दूसरों को रोकने वाला हो अथवा स्वयं दूसरे से रुके उसको वादर-स्थूल कहते हैं और जो दूसरों को न तो रोके न स्वयं दूसरे से रुके, उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १८४] स्थूल-बादर शरीर आधार की अपेक्षा रखता है जबकि सूक्ष्म शरीर बिना अन्तर व्यवधान के ही सब जगह अनन्तानन्त भरे हैं। उनको आधार की अपेक्षा नहीं। बादर सूक्ष्म भेद अवगाहना के अणुओं की अधिकता या अल्पता पर निर्भर नहीं है, किन्तु परिणमन की विशेपता पर निर्भर है।

[गा० १८५] स्थावर जीव शरीर पांच हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। वनस्पति के दो भेद हैं (१) प्रत्येक (२) साधारण। प्रत्येक के भी दो भेद हैं (१) प्रतिष्ठित (२) अप्रतिष्ठित। एक ही जीव एक ही पूरे शरीर का मालिक हो वह प्रत्येक वनस्पिति है। जिस एक ही शरीर में अनेक जीव समान रुप से रहें, उस शरीर को साधारण वनस्पति कहते है। प्रतिष्ठित प्रत्येक उसे कहते हैं। जिस एक ही जीव के उस विवक्षित शरीर में मुख्य रुप से व्यापक होकर रहने पर भी, उस शरीर के आश्रय, दूसरे अनेक निगोदिया जीव भी रहें। जहां ऐसा न हो अर्थात एक ही जीव के मुख्यता रहते उसके आश्रय और निगोदिया जीव न रहे, वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है।

[गा० १८६] वनस्पति अनेक प्रकार की होती है। कोई मूल से उत्पन्न होती है जैसे अदरक हल्दी आदि। कोई अग्र से पैदा होती है जैसे गुलाब आदि। कोई पर्व (मंगोली) से पैदा होती है, जैसे ईख आदि। कोई कन्द से पैदा होती है जैसे विडालू, आलू आदि कोई स्कन्ध से पैदा होती है जैसे पलाश, ढ़ाक आदि कोई अपने बीज से पैदा होती है जैसे गेहूँ चना आदि। कोई सम्मूर्द्धन केवल मिट्टी जल से ही पैदा होती है जैसे घास आदि। ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक, इस तरह दो प्रकार की होती है।

[गा० १८७-१८८] जिनकी शिरा, बहिस्नायु, सन्धि रेखा बन्ध और पर्व-गांठ प्रकट न हुवे हो और जिनका भंग करने पर समान भंग हो, और दोनों भंगों में परस्पर अन्तर्गत सूत्र न लगा हो तथा छेदन करने पर भी जिसकी पुनः वृद्धि हो जाय, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कही है। जिनमें ऐसा न हो, उन्हें अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते है।

[गा० १८९] जिस वनस्पति के कन्द-मूल, क्षुद्र शाखा या स्कन्ध की छाल मोटी हो उसको भी अनन्त जीव सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहा है। जिसकी पतली हो, वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १९१] जिन जीवों का शरीर साधारण नाम कर्म के उदय से निगोद रुप होता है, उन्हीं को सामान्य या साधारण कहते हैं। इसके दो भेद हैं (१) वादर और (२) सूक्ष्म। इस साधारण शरीर वनस्पति में एक ही जीव नहीं रहता, अनन्तानन्त जीव रहते हैं और समान रूप से रहते हैं।

[गा० १९२-१९३] इन साधारण जीवों का समान ही तो आहार होता है, एक साथ ही श्वासोच्छवास ग्रहण होता है। इन सब जीवों का एक साथ ही मरण होता है और एक साथ ही उत्पाद होता है। इसके अलावा ये सब जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक, मिश्रन ही होते। क्योंकि उनके समान कर्मोदय का नियम है।

[गा० १९७] ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं जिन्होने त्रस पर्याय अभी तक नहीं पाई और निगोद स्थान नहीं छोड़ा। इन्हें नित्य निगोद कहते हैं। जो त्रस पर्याय पाकर फिर निगोद में पहुंच गये, वे इतर निगोद हैं।

[गा० २००] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुकायिक जीवों का शरीर केवलियों का शरीर, आहारक शरीर, और देव नारकियों का शरीर, बादर-निगोदियां जीवों से रहित रहता है। शेष वनस्पति काय के जीवों का शरीर, दो इन्द्रिय से पांच इन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्य का शरीर निगोदिया जीव सहित रहता है।

योग—

[गा० २१६] पुदगल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की, जो कर्मों के ग्रहण करने में कारण भूत शक्ति हैं, उसको योग कहते हैं। वह भाव योग और द्रव्य योग दो रूप हैं।

[गा० २१७] सत्य, असत्य, उभय, अनुभय, इन चार प्रकार के पदार्थों में से जिस पदार्थ को जानने या कहने के लिये, जीव के मन वचन की प्रवृत्ति होती है, उस समय में मन और वचन का वही नाम होता है और उसके सम्वन्ध से उस प्रवृत्ति (योग) का भी वही नाम होता है।

[गा० २३० व २३१] औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काय योग समझाया है।

[गा० २३२ व २३४] वैक्रियिक काय योग और वैकियिक मिश्र काय योग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समझाया है। यह देव नारकियों के तो होता ही है।

[गा० २३३] वादर तेजस्कायिक, और वायुकायिक, तथा संज्ञी पर्याप्त, पंचेन्द्रिय तिर्यंच एवं मनुष्य तथा भोग भूमिज तिर्यंच मनुष्य भी अपने औदारिक शरीर के द्वारा, जिनके शरीर में यह योग्यता पाई जाती है, विक्रिया करते हैं। यद्यपि इन जीवों का शरीर औदारिक है, देव-नारकी के समान वैक्रियिक वर्गणाओं से निष्पन्न नहीं है, फिर भी इनमें वैक्रियिक की योग्यता पड़ी जाती है, परन्तु इनके अपृथक विक्रिय हुवा करतो है। भोगभूमिज तथा चक्रवर्ती पृथक विक्रिया किया करते हैं।

[गा० २३५ से २४०] असंयम का परिहार करने के लिये तथा संदेह को दूर करने के लिये, आहारक ऋद्धि के धारक, छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक शरीर नाम कर्म के उदय से आहारक शरीर होता है। यह शरीर रसादि धातु (रस. रक्त. मांस, मज्जा, भेद अस्थि तथा वीर्य) व सहननों से रहित होता है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि वज्रपटल को भी भेदकर जा सकता है। इसकी स्थिति अंतर्मुहुर्त है। इस शरीर के द्वारा होने वाले योग को आहारक काय योग कहते हैं। जब तक आहारक पर्याप्त नहीं होता तब तक आहारक मिश्र काय योग होता है।

[गा० २४१] ज्ञानावरणादिक अष्ठ कर्मों के समूह को कार्माणकाय कहते हैं, इसके द्वारा होने वाले योग को कार्माण काय भोग कहते हैं। यह केवल विग्रह गति और केवली समुद्धात में, तीन समय पर्यन्त ही होता है।

[गा० २४४] औदारिक, वैक्रियिक आहारक, तैजस, इन चार शरीरो को नो कर्म कहते हैं और कर्मों के समूह शरीर को कार्माण शरीर कहते हैं। तैजस शरीर योग में निमित्त नहीं माना जाता ये पांचों शरीर उत्तरोत्तर २ सूक्ष्म हैं।

[गा० २४६] जीव के प्रत्येक प्रदेशों के साथ जो कर्म और नोकर्म वंधे हैं, उन कर्म और नोकर्म की प्रत्येक परमाणु के साथ, जीव राशि से अनन्तानन्त गुणे विस्रसोपचय परमाणु सम्वन्ध रहते हैं, जो कर्म-नोकर्म रुप तो नहीं है पर उस रुप होने को उम्मीदवार रहते हैं।

वेद–

[गा० २७१] पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद कर्म के उदय से भाव पुरुष, भाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्त्री और नपुंसक होता है और नाम कर्म के उदय से द्रव्य पुरुष, द्रव्य स्त्री, और द्रव्य नपुंसक होता है वैसे यह भाव वेद और द्रव्य वेद समान होता है पर कहीं २ विषम भी होता है यह विषमता भी कर्म भूमि के मनुष्य और तिर्यंच के अलावा और कहीं नही पाई जाती।

[गा० २७३] उत्कृष्ट गुण व भोगों का जो स्वामी हो, इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदों को भोगता है, चारों पुरुषार्थ का पालन करता है, परमेष्ठि पद में स्थिर रहता है, इसलिये उसे पुरुष कहते हैं।

[गा० २७८] देवगति में एक देव की कम से कम बत्तीस देवियां होती हैं।

कषाय–

[गा० २८२] जीव के सुख दुख आदि रुप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रुप मर्यादा अत्यन्त दूर है, ऐसे कर्म रुपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण (जोतता) करता है, अत. इसे कषाय कहते हैं। कर्म बंधन में अनुभाग बंध और स्थिति बंध कषाय ही का काम है।

[गा० २८३] कषाय के १६ भेद हैं। वैसे असंख्यात भेद हैं।

[गा० २८४] क्रोध चार प्रकार का होता है। (१) पत्थर की रेखा के समान (२) पृथ्वी की रेखा समान (३) धूलि रेखा के समान और (४) जल रेखा समान। ये क्रम से नरल, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न कराने वाले हैं।

[गा० २८५] मान चार प्रकार का होता है। (१) पत्थर के समान, (२) हड्डी के समान (३) काठ के समान और (४) बैंत के समान। उसी अनुसार गति होती है।

[गा० २८६] माया चार प्रकार है। (१) बांस की जड़ के समान (२) मैंढे के सींग के समान, (३) गो मूत्र के समान (४) खुरपा के समान। वैसी ही गति है।

[गा० २८७] लोभ चार प्रकार हैं (१) क्रिमिरंग के समान (२) चक्र मल के समान (३) शरीर के मल के समान (४) हल्दी के रंग के समान। वैसी ही गति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान—

[गा० २९] जिसके द्वारा जीव, त्रिकाल विषयक, भूत-भविष्यत, वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने, उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष।

[गा० ३००-३०१] ज्ञान के पांच भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय: और केवल। इनमें आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक है और केवल ज्ञान क्षायिक है, मिथ्यात्व में सत्य, कुमति, कुश्रुत व कुअवधिज्ञान भी है।

[गा० ३०३] विषज्ञान, यन्त्र ज्ञान, कूट ज्ञान, पंजर ज्ञान, बंध ज्ञान आदि मत्य ज्ञान और चोर शास्त्र, हिंसा शास्त्र, आदि मिथ्या श्रुत ज्ञान है।

[गा० ३१०] मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं।

[गा० ३१५] मति ज्ञान के विषय भूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञान पूर्वक होता है। इस श्रुत ज्ञान के अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक, शव्दजन्य और लिंगजन्य चार भेद हैं। इनमें अक्षरात्मक शव्दजन्य श्रुतज्ञान ही मुख्य माना है। क्योंकि वही जीव को हितकारी है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान तो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय को वैसे ही पाया जाता है परन्तु वह लोक व्यवहार व मोक्ष साधन में उपयोगी न होने से मुख्य नहीं।

[गा० ३१९] सूक्ष्म निगोदिया लव्ध पर्याप्तक के जो सवसे जघन्य ज्ञान होता है, उसे पर्याय ज्ञान कहते हैं। ये किसी कर्म से नष्ट नहीं होता। यह हमेशा निरावरण और प्रकाशमान रहता है। इसे लव्धअक्षर भी कहते हैं।

[गा० ३३४] जो केवल, केवल ज्ञान के द्वारा जाने जा सकते हैं, वचन द्वारा निरुपण नहीं हो सकता ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं। ऐसे पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण वे पदार्थ है जिनका वर्णन हो सकता है, उन्हें प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनन्तवां भाग श्रुत में निरुपित हैं।

[गा० ३४४] पूर्व ज्ञान के १४ भेद हैं जिसमें प्रत्येक के दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, वीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश, वस्तु नामक अधिकार है।

[गा० ३४४ से ३४६] चौदह पूर्वों के नाम व विवरण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ३४६] द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत, श्रुत के दो भेद हैं। इनमें शब्द रुप और द्रव्यरुप सब द्रव्य श्रुत है और जो ज्ञान रुप व भाव रुप है वह भाव श्रुत है।

[गा० ३५६ से ३६२] ग्यारह अंगों का विवरण।

[गा० ३६१ से ३६६] दृष्टिवाद अंग के भेद प्रभेदों का वर्णन।

[गा० ३६७ से ३६८] अंग वाह्य श्रुत के भेद प्रभेद विवरण।

[गा० ३६९] ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान व केवलज्ञान दोनों एक से हैं, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि श्रुत ज्ञान परोक्ष है, केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है।

[गा० ३७० से ४३७] अवधिज्ञान का वर्णन किया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा से जिसके सीमा हो, उसको अवधि ज्ञान कहते हैं।

[गा० ४३८] जिसका भूत काल में चिन्तन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत काल में चिन्तवन किया जायेगा, अथवा अर्ध चिन्तित-वर्तमान में जिसका चिन्तन किया जा रहा है, इत्यादि अनेक भेद स्वरुप, दूसरे के मन में स्थित पदार्थ, जिसके द्वारा जाना जाय, उस ज्ञान को मन पर्यय: ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही होता है।

[गा० ४३९ से ४५९] मनपर्यय: ज्ञान के भेद प्रभेद सहित विवरण।

[गा० ४६०] केवल ज्ञान, सम्पूर्ण, समग्र, केवल प्रतिपक्ष रहित, सर्व पदार्थ गत, और लोका लोक में अंधकार रहित होता है।

संयम—

[गा० ४६५] अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील, अपरिग्रह, इन पांच महाव्रतों का धारण करना, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग, इन पांच समितियों का पालना, चारों कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय रुप दण्ड का त्याग, पांच इन्द्रिय जय, इसको संयम कहते हैं।

[गा० ४६६ से ४७७] संयमों का विवरण।

[गा० ४७८-४७९] चौदह प्रकार के जीव समास, और २८ प्रकार के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियों के विषय, इनसे जो विरक्त नहीं है वह असंयत है। चौदह जीव समास पहले आ चुके हैं। २८ इन्द्रिय विषय इस प्रकार हैं—पांच रस, पांच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श, सात स्वर, और एक मन, इस तरह इन्द्रियों के ये २८ विषय है।

दर्शन–

[गा० ४८२] सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश का ग्रहण न करके, केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्प रुप से ग्रहण होता है, वह दर्शन है।

[गा० ४८३] वह दर्शन चार भेद रुप हैं-चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल।

लेश्या–

[गा० ४८९] जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे, पुण्य-पाप के अधीन करे उसको लेश्या कहते है। वह दो प्रकार हैं। द्रव्य लेश्या व भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या शरीर के वर्णरुप और भाव लेश्या जीव के परिणाम स्वरुप है।

[गा० ४९०] कषायोदय से अनुरक्त योग प्रवृत्ति लेश्या हैं तथा कषाय व योग के जोड को लेश्या कहा है।

[गा० ४९१-४९२ से ५५६] लेश्या के सोलह अधिकारों का वर्णन।

भव्य–

[गा० ५५७] जिन जीवों की अनन्त चतुष्टय रुप सिद्धि वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हो उनको भव्य सिद्ध कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई भी लक्षण घटित न हो, उन जीवों को अभव्य सिद्ध कहते हैं।

[गा० ५६०] भव्य राशि वहुत अधिक है और अभव्य राशि वहुत थोड़ी है।

[गा० ५६०, (१ से ४)] द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव रुप परिवर्तनों का वर्णन है, इनका काल उत्तरोत्तर अनन्तगुणा, अनन्तगुणा है।

सम्यक्त्व मार्गणा–

[गा० ५६१] छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थ, इनका जिनेन्द्र देव ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार वर्णन किया है, उस ही प्रकार से इनका जो श्रद्धान करना, उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकार है आज्ञा और अधिगम।

[गा० ५६२ से ६१९] छः द्रव्यों का नाम, उपलक्षानुवाद, स्थिति, क्षेत्र, संख्या, स्थान-स्वरुप और फल, इन सात अधिकारों के द्वारा वर्णन।

[गा० ६२०] पचास्तिकाय का वर्णन।

[गा० ६२१ से ६५९] नव पदार्थों का वर्णन।

संज्ञी–

[गा० ६६०] नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को संज्ञा ज्ञान कहते हैं। यह संज्ञा जिसे हो उसे संज्ञी कहते हैं और जिनके यह संज्ञान हो वह असंज्ञी कहलाता है। यह दो रुप है, लब्धि रुप और उपयोग रुप।

[गा० ६६१] हित का ग्रहण, अहित का त्याग जिसके द्वारा हो, वह शिक्षा कहलाती है। इच्छा पूर्वक हाथ पैर चलाने को क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा बताये कर्त्तव्य को उपदेश कहते हैं। और श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं। जो जीव इन शिक्षादि को मन के अवलम्वन से ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं।

[गा० ६६२] जो जीव प्रवृत्ति करने से पहले अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार करें तथा तत्त्व-अतत्त्व का स्वरुप समझ सकै, उसे संज्ञी कहते हैं।

आहार–

[गा० ६६४] शरीर नामा नाम कर्म के उदय से देह-औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इनमें से यथा सम्भव किसी भी शरीर तथा वचन और द्रव्य मन रुप वनने के योग्य नो कर्म वर्गणाओं का जो ग्रहण होता है। उसको आहार कहते हैं।

[गा० ६६६] विग्रह गति को प्राप्त होने वाले चारों गतियों सम्वन्धी जीव, प्रतर और लोक पूर्ण समुद्घात करने वाले संयोग केवली, अयोग केवली, ये जीव तो अनाहारक होते हैं, शेष सव आहारक होते हैं।

[गा० ६६८] मूल शरीर को न छोडकर, तैजस, कार्माण रुप उत्तर देह, के साथ-साथ जीव प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिकार-७ (उपयोग मार्गणा)

[गा० ६७२] जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेयको) ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है, उसको उपयोग कहते हैं। इसके साकार निराकार दो भेद हैं।

[गा० ६७३] मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय: केवल ये पांच सम्यग्ज्ञान और कुपति, कुश्रुत, कुअवधि, ये तीन मिथ्याज्ञान, ये आठ साकार उपयोग हैं। चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन, अनाकार उपयोग है। यह दोनों उपयोगों के १२ प्रकारों में जीव के कोई न कोई उपयोग अवश्य होता है।

[गा० ६७६] ज्ञानोपयोग वाले जीवों का प्रमाण ज्ञान मार्गणा वाले जीवों की तरह और दर्शनोपयोग का प्रमाण दर्शन मार्गणा वालों की तरह समझो।

अधिकार-८ (अन्तर्भावाधिकार का वर्णन)

[गा० ६७८ से ७०५] उपरोक्त वीस प्ररूपणाओं में गुण स्थान और मार्गणा स्थान में यथा योग्य प्रत्येक गुण स्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा मार्गणा व उपयोग में किस २ प्ररूपणा का अन्तंभाव होता है यह बताया है।

अधिकार-९ (आलाप अधिकार)

[गा० ७०६ से ७३४] परमागम में प्रसिद्ध चौदह गुण स्थान और चौदह मार्गणा स्थानों में उक्त वीस प्ररूपणाओं के सामान्य, पर्याप्त, अप्रर्याप्त, तीन आलाप होते हैं। अपर्याप्त के लब्ध्य पर्याप्त और निवृत्य पर्याप्त दो आलाप होते हैं उनका वर्णन।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४-गोम्मटसार-कर्मकांड

[पृष्ठ ४] गोम्मटसार ग्रंथ में उपयोगी अलौकिक गणित की कुछ संख्यों का खुला है।

[पृष्ठ ६] कर्म बन्धादि यंत्र- द्वारा रम यंत्र कर्म प्रकृतियों के वन्ध, उदय सत्ता का गुण स्थान क्रम से निर्णय।

१—प्रकृति अधिकार

[गा० २] कारण के बिना वस्तु का जो सहज स्वभाव होता है उसको प्रकृति, शील अथवा स्वभाव कहते हैं।

[गा० ३] यह जीव शरीर नामाकर्म के उदय से योग सहित होकर, कर्म-वर्गणाओं से कार्माण शरीर और नो कर्म वर्गणाओं से शेप चार शरीर औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और तैजस को प्राप्त करता है।

[गा० ४] परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मंदता होने पर आत्मा के प्रदेश जव अधिक या कम कंपायमान होते हैं, कर्म परमाणु भी ज्यादा अथवा कम वंधते हैं।

[गा० ६] सामान्य पने से कर्म एक ही है, उसमें भेद नहीं है, लेकिन द्रव्य तथा भाव के भेद से उसमें दो प्रकार हैं। उसमें ज्ञानावरणादि रुप पुदगल द्रव्य का पिण्ड द्रव्य कर्म और उस द्रव्य पिण्ड में फल देने की जो शक्ति है, वह भाव कर्म है। कार्य में कारण का व्यवहार होने से, उस शक्ति से उत्पन्न हुए जो अज्ञानादि वा क्रोधादि रुप परिणाम, वे भी भाव कर्म ही है।

[गा० ६] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया कर्म हैं क्योंकि जीव के अनुजीवी गुणों को नष्ट करते हैं। आयु नाम, गौत्र और वेदनीय, ये चार अघातीया कर्म है क्योंकि इनके रहने से अनुजीवी गुणों का (आत्मा के) नाश नहीं होता।

[गा० १२] जीव में जिसका फल हो, वह जीव विपाकी पुदगल में जिसका फल हो, वह पुदगल विपाकी, विग्रह गति में जिसका फल हो, वह क्षेत्र विपाकी, और आयु व गति में जिसका फल हो वह भाव विपाकी, ये चार भेद नामकर्म के हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १३] कुल परम्परा से जो आचरण जीव का होता है, वह गौत्र कर्म है। कुल का संस्कार चरित्र में अवश्य आता है, चाहे वह जीव कितने ही गुणों सहित हो। उस पर्याय में संस्कार नहीं मिटता।

[गा० १४] इन्द्रियों का अपने-२ विषय का अनुभव करना वेदनीय है उसमें दुख रुप अनुभव करना असाता वेदनीय और सुख रूप अनुभव साता वेदनीय है। अनुभव कराने वाला वेदनीय कर्म है।

[गा० १५] देखना-दर्शन, जानना-ज्ञान, तथा श्रद्धान करना-सम्यक्त्व गुण है। ये तीनों गुण जीव के हैं।

[गा० १६] आतमा के सब गुणों में ज्ञान गुण पूज्य हैं इसलिये उसे कर्मों में (ज्ञानावरण) दर्शनावरणी से पहले कहा गया है।

[गा० १९] वेदनीय कर्म अघातिया है फिर भी उसे घातिया कर्मों के बीच में रक्खा है। क्योंकि यह वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म के भेद राग द्वेष, उनके उदय के बल से ही घातिया कर्मों की जीवों का घात करना है और साता-आसाता रुप अनुभव कराके, जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता. परस्वरुप में लीन करता है. इसलिये मोह के पहले घातिया के बीच में रक्खा है। मोहनीय कर्म रुप राग द्वेप के निमित्त से वेदनीय का उदय होने पर ही इन्द्रियां से उत्पन्न सुख दुख का अनुभव होता है।

[गा० २१] देवता के मुंह पर ढका वस्त्र जैसा, दरवानिया के जैसा, शहद लपेटी तलवार की धार, शराब, काठ का यंत्र, चित्रकार, कुम्हार, भंडारी (खजान्ची) जैसा इन आठों कर्मो का स्वभाव है।

[गा० २२] दर्शनावरणी के ९ भेद हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि-दर्शन, केवल दर्शन, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, निद्रा, प्रचला।

[गा० २६] मोहनीय के दो भेद (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय, दर्शन मोहनीय, वंध की अपेक्षा तो एक मिथ्यात्व रुप ही है पर उदय की अपेक्षा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्र प्रकृति ३ रुप हैं। चारित्र मोहनीय के दो भेद (१) कषाय वेदनीय (२) नोकषाय वेदनीय कषाय वेदनीय के १६ भेद। अकषाय वेदनीय के ९ भेद हैं। नाम कर्म के दो भेद पिंड (भेद वाली), अपिंड (अभेद वाली। पिंड प्रकृति १४ हैं अपिंड प्रकृति २८ हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २८] दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, हृदय और मस्तक, ये आठ अंग शरीर के हैं। और बाकी अंग उपांग कहलाते हैं।

[गा० ३२] कर्म भूमि की स्त्रियों को आदि के तीन संहनन नहीं होते।

[गा० ३३] नाम कर्म प्रकृति आतप में और अग्निकाय जीवों में अन्तर यह है कि अग्नि का मूल व प्रभा दोनों ही उष्ण होते हैं लेकिन आतप में केवल किरणों का फैलाव ही उष्ण होता है और जिसकी किरण भी उष्णता रहित हो यह उद्योत कहलाता है पिंड प्रकृति और अपिंड प्रकृति के उत्तर भेद ९३ होते हैं। यदि शरीर नाम कर्म के दश भेदों को भी जोडा जाय तो १०३ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार आठों कर्म का १५८ प्रकृतियां होती है। यदि इन दस प्रकृतियों को पांच शरीर में ही गर्भित कर दिया जाय तो कुल १४८ प्रकृतियां ही रह जाती है इन प्रकृतियों कर्मों का और आत्मा का दूध और पानी की तरह आपस में एक रुप हो जाना, बंध है। जीव के एक समय में होने वाले, अपने एक ही परिणाम से, ग्रहण किये गये कर्म पुदगल, ज्ञानावरणादि, अनेक भेद रूप होकर परिणमते हैं। जैसे एक वार खाया खाना अन्नादि-रस, रक्त, मांस आदि अनेक धातु रुप हो जाता है। इतना अन्तर अवश्य है कि रक्तादि धातुओं का परिणमन क्रम से होता है और कर्मो का परिणमन युगपत होता है।

[गा० ३४-३५] शरीर नाम कर्म के साथ अपना बंधन, और अपना संघात ये दोनों अविनाभावी हैं। इस कारण पांच बन्धन और पांच संघात, बंध व उदय अवस्था में, शरीर नाम कर्म में शामिल हो जाती है। इसी प्रकार वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, इन चार में ही इनके २० भेद शामिल हो जाते हैं। इनके भी वंध, उदय अवस्था में चार ही भेद माने हैं। (१०+१६)= २६ प्रकृति कम हो जाती है इस प्रकार नाम कर्म की ९३ के वजाय ६७ प्रकृति रह जाती है।

[गा० ३७] बंध अवस्था में भेद विवक्षा से १४६ प्रकृतियां हैं क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक प्रकृति, ये दोनों बंध अवस्था में नहीं गिनी जाती और अभेद विवक्षा से १२० प्रकृतियां हैं। उदय अवस्था में भेद विविक्षा से १४८ प्रकृतियां है तथा अभेद विविक्षा से १२२ प्रकृतियां हैं।

[गा० ३९-४०] घातिया कर्मों के दो भेद सर्व घाती और देश घाती। २० प्रकृति सर्व घाति और छब्बीस प्रकृति देश घाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४१ भे ४५] अघातिया कर्मों के दो भेद, प्रशंस्त और अप्रस्त हैं। प्रशस्त प्रकृतिया भेद विविक्षा से ६८ है और अभेद विविक्षा से ४२ हैं। वप्रशस्त प्रकृतिया भेद विवक्षा से बंध रुप ९८ हैं और उदय रुप १०० है तथा अभेद विविक्षा से वन्ध योग्य ८२ है तथा उदय रुप ८४ हैं।

[गा० ४६] संज्जवल, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, और अनन्तानुवन्धी, इन चार कषायों का वासनाकाल, क्रम से अर्न्तमुहुर्त, पक्ष, छः महीना और संख्यात, असंख्यात तथा अनन्तभव है।

[गा० ४७ से ४८] ये प्रकृतियां पुदगल विपाकी, भव विपाकी, क्षेत्र विपाकी और जीव विपाकी, चार प्रकार की है। पुदगल विपाकी-६२, भव विपाकी ४, क्षेत्र विपाकी ४, और जीव विपाकी ७८ है।

[गा० ५६] भूत शरीर जिसको छोडकर आया है वह शरीर के तीन भेद हैं च्युत, च्यावित, त्यक्त। आयु पूर्ण होने पर, अकाल मृत्यु, और सन्यास-मरण की अपेक्षा ये तीन भेद हैं।

[गा० ६९] जिस प्रकृति के फल देने में जो निमित कारण (सहायता करता हो) वही उस प्रकृति का नौ कर्म जानना।

[गा० ७० से ८६] कौन कौन से कर्म प्रकृति का कौन सा नो कर्म है, यह वताया गया है।

२—बंध-उदय-सत्त्व अधिकार

[गा० ८८] जिसमें सर्वांग सम्बन्धी अर्थ (विस्तार सहित अथवा संक्षेप में) कहा जाय, उस शास्त्र को स्तव कहते हैं। जिसमें एक अंग का अर्थ हो वह स्तुति है, अंग के एक अधिकार अर्थ हो, सो वस्तु कहते हैं और प्रथमानुयोग आदि शास्त्र धर्मकथा कहते हैं।

[गा० ८९] कर्म प्रकृति का जो स्वभाव उसे प्रकृति बंध, आत्मा के साथ कर्मों के रहने की मर्यादा स्थिति बंध, कर्मों के फल देने की शक्ति अनुभाग बंध तथा बंधने वाले कर्मों की संख्या प्रदेश बंध है।

[गा० ९०] जिसका छुट कर फिर बंध हो वह सादि, अनादि काल से जिसके बंध का अभाव न हुवा हो अनादि, जिसका निरन्तर बंध होता रहे वह ध्रुव बंध, जो अंतर सहित हो वह अध्रुव बंध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ९२ से १०३] व्युच्छित्ति नाम बिछुड़ने का है। परन्तु जहां पर व्युच्छित्ति कही जाती है वहां पर उनका संयोग रहता है। इसी तरह जहां २ पर कर्मों के बंध, उदय अथवा सत्ता की व्यच्छित्ति बताई है, वहां पर तो उन पर कर्मो का बंध, उदय, अथवा सत्ता रहता है, उनके आगे नहीं रहता। ऐसा समझ लेना।

[गा० ९२ से १२६] प्रकृति वंध वर्णन।

[गा० १२७ से १६२] स्थिति बंध वर्णन।

[गा० १६३ से १८४] अनुभाग बंध वर्णन।

[गा० १८५ से २१७] प्रदेश बंध का वर्णन।

[गा० २१८ से २६०] प्रकृति, प्रदेश वंध के कारण योग स्थानों का वर्णन तथा योग स्थानों में ८४ स्थानों का कथन।

[गा० २६१ से २६२] आहारक शरीर व उसके आंगोपांग, इन दोनों कर्मो का उदय छठे गुण स्थान ही में, तीर्थंकर प्रकृति का उदय संयोग व अयोग केवली ही में, मिश्र दर्शन मोहनीय का तीसरे गुणस्थान में, सम्यक प्रकृति का उदय क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के और आनपूर्वी कर्म का उदय मिथ्यात्व सासादन ये दो तथा चौथे गुण स्थान में ही होता है। दूसरे गुण स्थान सासादन वाला नरक गति को नहीं जाता इसलिये उसे तरकगत्यानुपूर्वी कर्म का उदय नही है। बाकी सब वची प्रकृतियों का उदय, मिथ्यात्वादि गुण-स्थानों में अपने २ उदय स्थान के अंत समय तक होता है।

[गा० २६३] आचार्य यतिवृर्षभा के अनुसार अभेद विविक्षा से चौदह गुण स्थानों में प्रकृतियों की उदय व्यूच्छित्ति क्रम से १०, ४, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६. १, २, १४, २९ और १३ है।

[गा० २६४] आचार्य भूतवलि के अनुसार उदय व्यूच्छित्ति का क्रम ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३० और १२ है।

[गा० २६५ से २७२] उदय व्यूच्छित्ति वर्णन।

[गा० २७६] प्रकृति उदय वर्णंन। चौदह गुण स्थानों में, ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२, १२ का उदय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २७७] इन्हीं गुण स्थानों में ५, ११, २२, १८, ३५, ४१, ४६, ५०, ५६, ६२, ६३, ६५ ८०, ११० प्रकृतियों का अनुदय है।

[गा० २७८] उदय और उदीरणा में स्वामीपने की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं है। परन्तु छठे, तेहरवें, व चौहदवें इन तीन गुण स्थानों को छोडदेना। इनमें कुछ विशेषता है, सो आगे वतलाई है।

[गा० २७९] १३वें १४वें गुण स्थान की ३० व १२ उदय व्यूच्छित्ति प्रकृतियों को मिलाकर और उन ४२ में से साता, असाता व मनुष्यायु, इन तीन प्रकृतियों को कम कर देना चाहिये।

[गा० २८०] साता, असाता, व मनुष्यायु की उदीरणा प्रमत्तविरत छठे गुण स्थान में ही होती है, वाकी ३९ प्रकृतियों की उदीरणा संयोग केवली के होती है तथा वहां ही उदीरणा की व्युच्छित्ति भी होती है। अयोग केवली के उदीरणा होती ही नहीं।

[गा० २८१] उदीरणा-व्यूच्छित्ति-पहले गुण स्थान से लेकर तेहरवें गुण स्थान तक क्रम ५, ९-१-१७-८-८-४-६-६-१-२-१६-३९ है।

[गा० २८२] उदीरणा रुप प्रकृतिया–पहले से तेरहवें गुण स्थान तक क्रम ११७-१११-१००-१०४-८७-८१-७३-६९-६३-५७-५६-५४-३९ है।

[गा० २८३] अनुदीरणारुप प्रकृतिया-पहले गुण स्थान से तेरहवे गुण स्थान तकक्रम ५-११-२२-१८-३५-४१-४९-५३-५९-६५-६६-६८-८३ है। इस प्रकार गुण स्थानों में उदय–अनुदय और उदय व्यूच्छित्ति कहा और उदारणा, अनुदीरणा और अनुदीरणा की व्युच्छित्ति कही।

[गा० २८४ से ३३२] अब १४ मार्गणाओं में उदय, अनुदय और उदय व्यूच्छित्ति का वर्णन है।

[गा० ३३३ से ३३६] इन गाथाओं में प्रकृतियों के सत्त्व का वर्णन है।

[गा० ३३७ से ३४१] इन गाथाओं में सत्व व्यूच्छित्ति का वर्णन है।

[गा० ३४२ से ३४४] सत्त्व और असत्त्व प्रकृतियों की संख्या का गुण स्थानों में वर्णन।

[गा० ३४५ से ३५६] चौदह मार्गणाओं में सत्त्व प्रकृतियों का वर्णन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३—भंग संहित सत्त्वस्थान-भंगाधिकार

[गा० ३५८] एक जीव के एक काल म जितनी प्रकृतियों की सत्ता पाई जाय, उनके समूह का नाम स्थान है और उस स्थान की एक सी समान संख्या रुप प्रकृतियों में जो संख्या समान रहे. परन्तु प्रकृतियां बदल जावे, तो उसे भंग कहते हैं। जैसे किसी जीव के १४६ की सत्ता है, दूसरे के १४५ की सत्ता है, तो ये दो स्थान हुवे। अब किसी जीव को १४५ की सत्ता है जिसमें मनुष्यायु और देवायु भी हैं, और दूसरे को भी १४५ की सत्ता है परन्तु उसमें तिर्यंचायु और नरकायु है तो यहां स्थान तो एक हुवा परन्तु भंग दो हुवें ।

[गा० ३५९] प्रकृतियों के सत्त्व-स्थान-और भंगों का वर्णन दो प्रकार होता है। एक आयु के बंध और अबंध के भेद की अपेक्षा नहीं करके और दूसरा आयु बंध अबंध के भेद सहित-उसकी अपेक्षा करके।

[गा० ३६० से ३६१] आयु के बंध-अबंध के भेद रहित अपेक्षा से वर्णन।

[गा० ३६२ से ३६३] आयु के बंध-अबंध के भेद सहित अपेक्षा से वर्णन।

[गा० ३६४] मिथ्या दृष्टि आदि सात गुण स्थानों में तथा उपशमादि दोनो मिली श्रेणियों में तथा उपशांत कषायादि गुण स्थानों में अठारह आदि स्थानों के क्रम से ५०-१२-३६-१२०-४८-४०-४०-२८-६२-२८-२४-८-४-८ भंग होते हैं।

[गा० ३६५ से ३९४] भंग स्थानों व सत्ता का वर्णन। इनमें गुरुओं के सम्प्रदाय भेद से अनेक प्रकार कथन किया गया है, वह सभी श्रद्धान करने योग्य है क्योंकि इनकी अपेक्षाओं का प्रत्यक्ष तो केवली श्रुत केवली के बिना और किसी प्रकार निश्चय नहीं हो सकता।

[गा० ३९७] आचार्य ने जीव स्थान, क्षुद्र बंध, बंध स्वामी, वेदना खंड, वर्गणा खंड, महाबंध जान लिये थे तब लिखा।

४--चूलिका अधिकार

[गा० ३९८] जो कहे हुवे, अथवा न कहे हुवे, वा विशेषता से न कहे हुवे अर्थ का चिंतवन करना उसे चूलिका कहते हैं। यह (१) नव प्रश्न (२) पंच भागाहार (३) दश करण, इन तीन विषयों का चिंतन किया जायगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नव प्रश्न चूलिका—

[गा० ३६६] (१) पहले जो प्रकृतियां कहीं हैं उनमें उदय व्यूच्छित्ति के पहले वंध की व्यूच्छित्ति किन २ प्रकृतियों की होतो है ? (२) उदय व्यूच्छित्ति के पीछे, वंध की व्यूच्छित्ति किन किन प्रकृतियों की होतो हैं ? (३) उदय व्यूच्छित्ति के साथ-२ बंध व्यूच्छित्ति कौन २ प्रकृति की होती है ? (४) जिनका अपना उदय होने पर वंध हो, ऐसी प्रकृतियां कौन-२ सी हैं ? (५) जिसका अन्य प्रकृतियों के उदय होने पर वंध हो, ऐसी प्रकृतियां कौन २ हैं ? (६) जिसका दोनों के अपने व अन्य प्रकृतियों के उदय होने पर बंध हो, ऐसी प्रकृतियां कौन २ हैं ? (७) जिनका निरन्तर वंध हो ऐसी प्रकृतियां कौन २ हैं ? (८) जिसका सांतर वंध हो अर्थात कभी हो, कभी न हो, ऐसी प्रकृतियाँ कौन-२ हैं ? (९) जिनका निरंतर व सांतर, दोनों प्रकार वंध हैं, वे प्रकृतियां कौन २ हैं ? इस प्रकार ये नौ प्रश्न है जिनका इस अधिकार में उत्तार दिया जायगा।

[गा० ४०० से ४०७] उपरोक्त नौ प्रश्नों का समाधान व उत्तर वर्णन।

पंच भागहार चूलिका—

[गा० ४०९] संसार जीवों के अपने जिन परिणामों के निमित्त से शुभ कर्म व अशुभ कर्म संकमण कर अर्थात अन्य प्रकृति रुप परिणामें उसको भागाहार कहते हैं। उसके उद्वेलन, विध्यात, अधपवृत्त, गुण संक्रमण, और सर्व संक्रमण के भेद से पांच प्रकार है।

[गा० ४१०] अन्य प्रकृति रुपप रिणमन को संक्रमण कहते हैं। जिस प्रकृति का बंध नहीं होता, उसका संकमण भी नहीं होता। दर्शन मोहनीय के विना शेष सव प्रकृतियां बंध होने पर संक्रमण करती हैं। मूल प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होतर। उत्तार प्रकृतियों में ही उन्हीं मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृति में संक्रमण होता है। परन्तु दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय तथा चारों आयु का संक्रमण नहीं होता।

[गा० ४११ से ४१४] संक्रमण वर्णन।

[गा० ४१५] आहारक युगल, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, देवगति का जोडा, नरक गति का चतुष्क, उच्च गोत्र और मनुष्य गति का युगल, ये १३ उद्वेलन प्रकृतियां हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४१६] प्रकृतियों के वंध होने पर, अपनी २ वंध व्युच्छिन्नि पर्यंत अधः प्रवृत्त संक्रमण होता है, परन्तु मिथ्या प्रकृति का ऐसा नहीं होता वंध की व्युच्छित्ति होने पर असंयत से लेकर अप्रमत्त तक विध्याता नामा संक्रमण होता है। तथा अप्रमत्त से आगे उपशांत कषाय पर्यंत वंध रहित अप्रशस्त प्रकृतियों का गुण संक्रमण होता है। इसी तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व आदि अन्य जगह भी गुण संक्रमण होता है ऐसा जानना। मिश्र और सम्यक्त्व प्रकति पूरण काल में और मिथ्यात्व के क्षय करने में अपूर्व करण परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व के अन्तिम काण्डक की उपान्त्य-फालि पर्यंत गुण संक्रमण और अंतिम फालि में सर्व-संक्रमण होता है।

[गा० ४१७ से ४३५] प्रकृतियों का संक्रमण वर्णन है।

[गा० ४३६ से ४४०] बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व उदय, उपशम, निधत्ति, निकांचना-ये १० दश करण (अवस्था) हर एक प्रकृति के होते हैं। कर्मों का आत्मा से संबंध होना वध है। स्थिति तथा अनुभाग का वढ़ना उत्कर्षण है। बंध रुप प्रकृति का दूसरी प्रकृति रुप परिणमन जाना, संक्रमण है। स्थिति तथा अनुभाग का कम हो जाना, अपकर्षण है। जिस कर्म का उदय नहीं आया, उसे अपकर्षण के बल से उदय में लाना, उदीरणा है, कम का सत्ता में रहना सत्त्व है। कर्म को फल देने का समय प्राप्त होना उदय है। जो कर्म उदीरणा को प्राप्त न हो सके वह उपशान्त करण (उपशम) है। जो कर्म उदीरणा को भी प्राप्त नहो सके और संक्रमण को भी प्राप्त न हो सके यह निधत्ति है। जिस कर्म की उदीरणा संक्रमण, उत्कर्षण अपकर्षण, ये चारों ही अवस्था न हो सकें, उसे निकांचित करण कहते है।

[गा० ४४१ से ४४२] चारों आयु कर्मो का सिवाय संक्रमण करण के शेष ९ करण होते हैं। और शेष वची सब प्रकृतियों के सब १० करण होते हैं। मिथ्यादृष्टि से लेकर आठवें अपूर्व करण तक भी १० करण होते हैं। नों वे व दशवें गुण स्थान के ७ करण, ग्यारहवे बारहवे व तेरहवे गुण स्थान में संक्रमण के बिना ६ ही करण होते हैं। अयोग केवली के सत्त्व व उदय, दो ही करण हैं।

[गा० ४४३ से ४५०] इन्हीं १० करणों का वर्णन है।

५—स्थान-समुत्कीर्तन अधिकार

[गा० ४५१] एक जीव के एक काल में जितनी प्रकृतियों का संभव हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सके, उन प्रकृतियों के समूह को नाम स्थान है। इसी का व्याख्यान आगे है।

[गा० ४५२] मिश्र गुण स्थान के विना अप्रमत्त पर्यंत, जीव आयु के विना सात प्रकार के अथवा आयु सहित आठ प्रकार के कर्म बाँधते हैं। मिश्र, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण-इन तीन गुण स्थानों में आयु बिना सात प्रकार के कर्म बंधते हैं। १०वें गुण स्थान में आयु व मोहनीय के विना, शेष ६ कर्मो का बंध है ११, १२ व १३वें गुण स्थानों में एक वेदनीय कर्म का ही बंध है और अयोगी गुण स्थानों में बंध ही नहीं है।

[गा० ४५३ से ४८६ तक] बंधादि स्थानों का प्रकृति संख्या सहित गुण स्थानों में कथन हैं इस प्रकार ६७७ स्थानों के भेद से तथा ६६४१ प्रकृतियों के भेद से तीन लोक के जीव (चराचर) मोहित हो रहे, संसार में भटक रहे हैं।

[गा० ४६० से ५१८ तक] मोहनीय कर्म के उदय स्थानों की व सत्त्व स्थानों का कथन है। इस प्रकार मोहनीय के १० वन्ध स्थान, ६ उदय स्थान और १५ सत्त्व स्थान हैं।

[गा० ५१६ ५२०] नारकी सब पर्याप्त हैं अतः १ भेद। स्थावर काय, पांच सूक्ष्म व वादर भेद से १० भेद। इसी प्रकार प्रत्येक वनस्पति, दो इन्द्री, आदि तीन विकलत्रय, असंज्ञी, संज्ञी पंचेन्द्रिय और मनुष्य-ये १७ प्रर्याप्त तथा अपर्याप्त से ३४ भेद हुवे। सामान्य केवली तीर्थंकर केवली, और दोनों ही समुद्घात करने वाले, आहारक शरीर वाले, और देव-ये ६ पर्याप्त ही होते हैं इनके ६ भेद। इस प्रकार सब जीवों के १+३४+६= ४१ भेद हैं! इस कारण इनको जीव पद अर्थात जीव स्थान कहते हैं और चूंकि ये नाम कर्म के बंध स्थानों के निमित्त से होते हैं, इसलिये कर्मपद भी कहते हैं। कर्म के निमित्त से ३६ ही स्थान होते हैं, इस कारण कर्म पद ३६ ही हैं। क्योंकि चार केवली पदों में कर्म की अपेक्षा नहीं है और आहार पद का देवगति में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतएव नाम कर्म की बंध की अपेक्षा से तो कर्म पद कहलाते हैं, उदय व सत्व की अपेक्षा, इन ४१ स्थानों को जीवपद समझना चाहिये।

[गा० ५२१ से ६२६ तक] नाम कर्म के बंधादि स्थान (बंध, उदय, सत्ता) तथा भंग, गुण स्थान और मार्गणाओं की अपेक्षा वर्णन है।

[गा० ६२७] इस प्रकार मूल प्रकृतियों के और उत्तर प्रकृतियों के बंध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदय सत्वरुप स्थान व भंग कहे। अब बंध-उदय-सत्व, इनके त्रिसंयोगी भंगों का निरुपण करते हैं।

[गा० ६२८ से ७०३] बंध-उदय-सत्ता के त्रिसंयोगी भंगों का वर्णन।

[गा० ६३९ से ६४०] अपनी भुज्यमान आयु के अधिक से अधिक ६ महीने शेष रहने पर देव और नारकी, मनुष्यायु अथवा तिर्यंचायु का ही बंध करते हैं। मनुष्य और तिर्यंच अपनी आयु के तीसरे भाग के शेष रहने पर चारों आयुओं में से योग्यतानुसार किसी भी एक को बांधते हैं। भोग भूमियां जीव अपनी आयु के ६ महीने बाकी रहने पर, देवायु का ही बंध करते हैं। एकेन्द्री और विकल त्रय जीव, मनुष्यायु वा तिर्यंचायु दोनों में से किसी एक को बांधते हैं, परन्तु तेज कायिक-वायु कायिक जीव और सातवीं पृथ्वी के नारकी, तिर्यंचायु का ही बंध करते हैं।

[गा० ६४२] एक जीव के एक भव में एक ही आयु बंध रुप होती है। सो भी वह योग्य काल में आठ बार ही बंधती है तथा वहां पर भी वह सब जगह आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर ही बंधती है।

[गा० ६४३] आठ अपकर्षणों में सभी के अन्दर आयु का बंध हो ही, ऐसा नियम नहीं है। जहां पर आयु बंध के निमित्त मिलते हैं, वहीं बंध होते हैं, तथा जिस अपकर्षण में जिस आयु का बँध हो जाता है, उसके अनन्तर उसी आयु का बँध होता है, परन्तु परिणामों के अनुसार उसको स्थिति कम ज्यादा या अवस्थित हो सकती है तथा उदय समय घट भी सकती है।

[गा० ७०४] उन जीव समासों (भेदो) में से अपर्याप्तक जीव समासों में बंध, उदय व सत्व स्थान क्रम से ५-२-५ है। सब सूक्ष्म जीवों के ५-४-५ है। सब बादर एकेन्द्री जीवों के ५-५-५ है। विकल त्रय के ५-६-५ हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय के ६-६-५ हैं और संज्ञी जीव के ८-८-११ होते हैं।

[गा० ७०५ से ७०९] इन गाथाओं में जीव समासों की अपेक्षा बंध-उदय-सत्व का वर्णन है।

[गा० ७१० से ७३९] बंध-उदय-सत्व की चौंदह मार्गणाओं की अपेक्षा कथन है।

[गा० ७४० से ७८३] बंध-उदय-सत्व का आधार व आधेय अपेक्षा कथन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ७८४] इस प्रकार नाम कर्म के बंध-उदय-सत्व स्थानों में द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी भंग (भेद), सम्यग्ज्ञान के धारक श्री वर्द्धमान स्वामी ने कहे हैं।

६–प्रत्ययाधिकार अर्थात (कर्म कारण अधिकार)

[गा० ७८६] मिथ्या, अविरत, कषाय व योग, ये ४ मूल आस्रव है तथा इनके क्रम से ५, १२, २५ और १५=५७ भेद हैं जो आस्रव के कारण हैं।

[गा० ७८७-७८८] पहला गुण स्थान ४ कारण, दूसरे, तीसरे, चौथे में ३ कारण, पांचवें में अविरत-विरत मिला हुवा ३, छठे, सांतवें आठवें, नवें व दशवें में २ कारण, ११वें, १२वें, व १३वें में १ कारण है।

[गा० ७८९-७९०] पहले गुण स्थान में आहार युगल छोड़कर ५५ प्रत्यय सासादन में ५ मिथ्यात्व न होने से ५०, मिश्र में ४३, चौथे में ४६, पाँचवें में ३७, छठे में २४, सातवें मे २२, आठवें में २२, नवें में १६, दशवें में १०, ११वें में ९, १२वें में ९, १३वें में ७, प्रत्यय हैं। अयोगी में प्रत्यय का अभाव है।

[गा० क्षेपक सूत्र १ से ४] इन गाथाओं में जो केशव वर्णी की, की हुई हैं, प्रत्ययों की व्यूच्छित्ति तथा अनुदय का वर्णन है।

[गा० ७९१] जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट स्थान, स्थानों के प्रकार, कूट प्रकार कुट्टो चारण और भंग इस तरह एक समय में प्रत्ययों के पांच प्रकार हैं।

[गा० ७९२ से ७९९] उपरोक्त प्रत्ययों के प्रकार में से कितने समूह (स्थान), एक जीव में एक काल में कितने प्रत्यय संभव हो सकते हैं, उनका वर्णन है।

[गा० ८०० से ८१०] आठों कर्मों में किस किस कर्म के क्या क्या कारण हैं, इसका वर्णन है। अर्थात कौन कौन से कार्य से कौन २ सा कर्म का आस्रव होता है।

७–भाव चूलिकाधिकार (भावों का वर्णन)

[गा० ८१२-८१३] अपने प्रतिपक्षी कर्मों के उपशमादि के होने पर उत्पन्न हुवे ऐसे जिन औपशमिकादि भावों कर जीव पहचाने जावें, वे भाव 'गुण'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी संज्ञा रुप कहा है। वे भाव औपशमिक, क्षायिक मिश्र, ओदयिक, पारिणामिक, इस तरह पांच प्रकार है और उनके भेद क्रम से २, ६, १८, २१ और ३ हैं।

[गा० ८१४ से ८७५] भावों का वर्णन, स्थान, भंग, पद भंग व गुण स्थानों की अपेक्षा।

(८--एकान्तमत विवरण)

[गा० ८७६] क्रिया वादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४ अज्ञानवादियों के ६७ और वैनयिक वादियों के ३२ भेद हैं। कुल ३६३ भेद हैं।

[गा० ८७७ से ८८३] क्रिया वादी काल, ईश्वर को, आत्मा को, नियति को व स्वभाव अलग अलग तरह मानते हैं उसके १८० भेद हैं।

[गा० ८८४-८८५] आक्रिया वादियों के ८४ भेद वर्णन।

[गा० ८८६-८८७] अज्ञान वादियों के ६७ भेद वर्णन।

[गा० ८८८-८९५] वैनययिक वादियों के ३२ भेद वर्णन। देव, राजा, ज्ञानी, यति, बुड्ढा, वालक, माता-पिता, इन आठो का मन-वच-काय और दान से विनय करना सिद्धि देता है—८×४=३२ भेद हैं।

[गा० ८९६ से ९६४] भिक्करण चूलिका अधिकार, कर्म स्थिति रचना, अधिकार वर्णन है। जो मुश्किल है।

९--कर्म बन्धादि यंत्र

(१) इस यंत्र द्वारा कर्म सम्वन्धी कर्म प्रकृतियों के वन्ध, उदय-सत्ता का गुण स्थान क्रम से निर्णय होता है।

(२) जो अभेद भाव से १२२ उत्तर प्रकृति मानी गई हैं, उनमें से भी १८वीं और १९वीं दो प्रकृति, बंध में से घट जाती है, क्योंकि बंध के समय दर्शन मोहनीय, एक मिथ्यात्व रुप ही रहता है। उदय १२२ का होता है और सत्ता की अपेक्षा १४८ ही है।

(३) व्यू० जिस कर्म की जिस गुण स्थान में कही हो वहां तक ही उस कर्म का बंध, उदय सत्ता होती है ऊपर के गुण स्थान में वह संख्या घट जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) म० ६०-८१-१३१, इन तीन प्रकृतियों के बंधने को यहां योग्यता नहीं है ।

(५) यहां प्रथम नरक व तिर्यंचायु की व्यू० हो चुकी है, आयु का बंध नहीं होता । इसलिये ४ कम है ।

(६) तीसरे गुण स्थान में दो आयु की बंध योग्यता नहीं थी, वेदों तथा एक तीर्थंकर ३ बढी ।

(७) न० ६०-८१ का यहां से बंध होने से, दो की संख्या ५७ में और बढ़ जाती है ।

(८) न० १७-४४-४५, ४६, ७८, ८७, १०८, ५३, ५४, ५५, ५६, १३२, १३३, १३५, १३४, ११६ वाली १६ प्रकृतियों की यह व्यू० है । गा० ९५ ।

(९) २०, २१, २२, २३, ११, १२, १०, ४२, ४६, १४३, १३८, १३९, १४०, ७४, ७५, ७६, ७७, ८३, ८४, ८५, ८६, ११९, ११७, ५०, १०९, इस प्रकार पच्चीस प्रकृतियों की 'बंध व्यू० यही होती है । (गा० ९६) ।

(१०) २४, २५, २६, २७, ४७, ५१, ५८, ७९, ८२, ११०, इनकी यहां व्यू० है । गा० ९० ।

(११) २८, २९, ३०, ३१ इनकी यहां व्यू० है । गा० ९७ ।

(१२) १६, ३८, ३९, १३६, १३७, १४१, इन ६ की व्यू० है । गा ९८ ।

(१३) ४८ वीं की व्यू० है । गा० ९८ ।

(१४) १३-१४, ३६, ३७, ४०, ४१, १३०, १३१, ११८, ५७, ६१, ६२, ६०, ८१, ५९, ८०, ७३, ५२, १११, १०० आदि, ९५ आदि, ९३ आदि, ८८ आदि, ११२, ११३, ११४, ११५, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, इन ३६ की व्यू० यहां होती है । गा० ९९-१०० ।

(१५) ३२, ३३, ३४, ३५, ४३, इन पांचों की व्यू० यहां होती है । गा० १०१

(१६) १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १४२, १४४, १४५, १४६, १४७,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४८, १२९ इन १६ की व्यू० यहां होती है। गा० १०१।

(१७) न० १५ की व्यू० यहां होती है। गा० १०२।

(१८) १८, १९, ६०, ८१, १३१, इन पांचों के उदय की योग्यता यहां नहीं है। इसलिये १२२ में से कम हो जाती है।

(१९) पहले गुण स्थान में ५ की व्यू० होने से, ४०८ की योग्यता तीन होने से, १११ का उदय है।

(२०) दूसरे गुण स्थान में १११ का उदय था, उनमें से ९ की वहा व्यू० हो चुकी। किसी आनु पूर्वी का यहां उदय नहीं, नारकानुपूर्वी की व्यू० पंहले हो चुकी, अतः तीन को कम करने से ९९ रही। मिश्र का उदय होता है अतः ९९+१ १०० हुई। गा० २६३।

(२१) १०८, १०९, ११०, १११, तथा १८ की यहां योग्यता होने से १०४ हुवा। गा० २६३।

(२२) ६०-८१' इन दो की पहले योग्यता नहीं थी, अब है, इसलिये ८ घटने पर भी दो बढ़ने से ८१ का उदय है। गा० २६३।

(२३) उपर्युक्त १६ विच्छन्नों को ५७ में से घटाने पर ४१ होनी चाहिये, परन्तु १०७ वाली पहले योग्यता न होने से, उदय संख्या में घटा ही थी, उसकी अब योग्यता है।

(२४) १७, ११६, १३५, १३३, १३४, इन पांचों की व्यू० है। गा० २६५।

(२५) २०, २१, २२, २३, ५३, ५४, ५५, ५६, १३२, नौ के व्यू० यहां है। गा० २६५।

(२६) १९ वी० की व्यू० यहां तीसरे गुण स्थान में है। गा० २६५।

(२७) २४, २५, २६, २७, ४५, ४८, ४९, ५२, ५९, ८०, १०८, १०९, ११०, १११, १३८, १४०, १४१, इन १७ की व्यू० है। गा० २६६।

(२८) २८, २९, ३०, ३१, ४६, १४३, ५०, ११७, आठ की यहां व्यू० है।

(२९) ११, १२, १०, ६०, ८१ इन पांच की यहाँ व्यू० है। गा० २६७।

(३०) १८, ८५, ८६, ८७ इन चार की यहां व्यू० है। गा० २६८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३१) ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, इन छः की यहां व्यू० है। गा० २६८।

(३२) ३२, ३३, ३४, ४२, ४३, ४४, इन छः की यहां व्यू० है गा० २६९।

(३३) न० ३५ की व्यू० यहां है। गा० २६९।

(३४) ८३, ८४ की व्यू० यहां है, यहां से ऊपर उदय नहीं है। गा० २६९।

(३५) १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १३, १४, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८ इन १६ की यहां व्यू० है। गा० २७०।

(३६) १५ या १६ एक तथा ५८, ६१, ६२, ७९, ११२, ११३, ११४, ११५, ११८, ११९, १२३, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ८२, १२४, १२५, १२७, १३६, १३७, १३९, १३०, १०० आदि, ९५ आदि, ९३ आदि, ८८ आदि, इन ३० की व्यू० है।

(३७) १५ या १६ में से एक, तथा ४७, १४२, ५१, ५७, १२०, १२१, १२२ १२६, १२८, १२९, १३१ इन १२ की यहां व्यू० है। गा० २७२।

(३८) इस गुण स्थान से ६०–८१-१३१ इन तीन के सत्त्व की योग्यता नहीं। गा० ३३३।

(३९) इसमें १३१ वीं की सत्ता रचने की योग्यता नहीं हैं। गा० ३३३।

(४०) क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा तो यहां १४१ की सत्ता है क्योंकि १७ १८, १९, २०, २१, २२, २३ इन सातों का क्षय हो चुका है। गा० ३३५।

(४१) चौथे गुण स्थान में ४५ की व्यू० हो जाने से वह घट गई। गा० ३३५।

(४२) पांचवें गुण स्थान में ४६ की व्यू० हो जाने से वह घट गई। गा० ३३५।

(४३) यहां भी छठे गुण स्थान की सी ही सत्ता है, परन्तु क्षाक्षिक स० दृष्टि के ७वीं के घट जाने से १३९ का ही सत्व रहा है। गा० ३३५।

(४४) सातवें में जिन १४६ का सत्व है, उनमें से उपशम श्रेणी वाले के २०, २१, २२, २३ ये चार घट जाती है। क्षायिक उप श्रेणी वाले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७-१८, १९ ये तीन भी घट जाती है।

(४५) यहां पर भी आंठवें के समान ही व्यवस्था है। गा० ३३६।

(४६) उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक स० द० व आठवें के समान ही यहाँ सत्त्व है।

(४७) क्षा० सम्यग्दृष्टि, उपशम श्रेणी वाले के दशवें में सज्जवल लोभ की व्यू० होने से १०१ का सत्त्व है।

(४८) यहां भी उपश्रेणी के क्षायिक स० द० के ग्यारहवें के समान १०१ ही का सत्त्व है।

(४९) वारहवें में १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १३, १४, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८ इन सौलह की व्यू० होने से १०१ में से १६ घटाने पर ८५ का सत्त्व है।

(५०) इसमें यी ८५ का ही सत्त्व है किन्तु इसके द्विचरण समय में ७२ की व्यू० और चरम (अन्त के) समय में शेष १३ की व्यू० होकर गुण स्थानातीत सिद्ध परमेष्ठी कर्म मल रहित हो जाते हैं। गा० ३४०-३४१।

१०–१४८ प्रकृतियों के नाम व संख्या विवरण

१–मतिज्ञानावरण
२–श्रुतज्ञानावरण
३–अवधि ज्ञानावरण
४–मन पर्ययः ज्ञानावरण
५–केवल ज्ञानावरण

—

६–चक्षु दर्शनावरण
७–अचक्षु दर्शनावरण
८–अवधि दर्शनावरण
९–केवल दर्शनावरण
१०–स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण
११–निद्रा निद्रा कर्म
१२–प्रचला प्रचला दर्शनावरण
१३–निद्रा दर्शनावरण
१४–प्रचला दर्शनावरण

—

१५-साता वेदनीय
१६–असाता वेदनीय

—

१७-मिथ्यात्व नाम-मोहनीय
१८–सम्यक्त्व प्रकृति
१९-सम्यक्त्व मिथ्यात्व

—

२०–क्रोध |
२१–मान | अनन्तानुबन्धी
२२–माया |

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२३–लोभ | अनन्तानुवन्धी

—

२४–क्रोध |
२५–मान |
२६–माया | अप्रत्याख्यान
२७–लोभ |

—

२८–क्रोध |
२९–मान |
३०–माया | प्रत्याख्यान
३१–लोभ |

—

३२–क्रोध |
३३–मान |
३४–माया | संज्जवलन
३५–लोभ |

—

३६–हास्य |
३७–रति |
३८–अरति |
३९–शोक |
४०–भय |
४१–जुगुप्सा | नोकषाय
४२–स्त्री वेद |
४३–पुरुष वेद |
४४–नपुंसक वेद |

—

४५–नरकायु
४६–तिर्यंचायु
४७–मनुष्यायु
४८–देवायु
४९–नरकगति
५०–तिर्यंचगति
५१–मनुष्यगति
५२–देवगति

—

५३–एकेन्द्रिय जाति
५४–वेइन्द्रिय ,,
५५–तेइन्द्रिय ,,
५६–चौइन्द्रिय ,,
५७–पंचेन्द्रिय ,,
५८–औदारिक शरीर
५९–वैक्रियक ,,
६०–आहारक ,,
६१–तैजस ,,
६२–कार्माण ,,

—

६३–औदारिक शरीर बन्धन
६४–वैक्रियिक ,,
६५–आहारक ,,
६६–तैजस ,,
६७–कार्माण ,,

—

६८–औदारिक संघात
६९–वैक्रियक ,,
७०–आहारक ,,
७१–तैजस ,,
७२–कार्माण ,,
७३–समचतुरस्र संस्थान
७४–न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान
७५–स्वाति ,,
७६–कुब्जक ,,
७७–वामन ,,
७८–हुडंक ,,

—

७९–औदारिक आंगोपांग
८०–वैक्रियिक ,,
८१–आहारक ,,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८२-वज्रर्षभनाराच संहनन
८३-वज्रनाराच ,,
८४-नाराच ,,
८५-अर्द्ध नाराच ,,
८६-कीलित ,,
८७-असंप्राप्तसृपाटिका ,,
—
८८-कृष्ण वर्ण
८९-नील ,,
९०-रक्त ,,
९१-पीत ,,
९२-श्वेत ,,
—
९३-सुरभि गंध
९४-असुरभि ,,
—
९५-तिक्त रस
९६-कटुक ,,
९७-कषायला ,,
९८-आम्ल (खट्टा) ,,
९९-मधु ,,
—
१००-कर्कश स्पर्श
१०१-मृदु ,,
१०२-गुरु ,,
१०३-लघु ,,
१०४-शीत ,,
१०५-उष्ण ,,
१०६-स्निग्ध ,,
१०७-रुक्ष ,,
—
१०८-नरक गति प्रायोग्यानुपूर्व्य
१०९-तिर्यंच ,,
११०-मनुष्य ,,

१११-देव प्रायोग्यानुपूर्व्य
—
११२-अगुरु लघु
११३-उपघात
११४-परघात
११५-उच्छवास
११६-आतप
११७-उद्योत
—
११८-प्रशस्तविहायोगति
११९-अप्रस्त ,,
—
१२०-त्रस
१२१-वादर
१२२-पर्याप्ति
१२३-प्रत्येक
१२४-स्थिर
१२५-शुभ
१२६-सुभग
१२७-सुस्वर
१२८-आदेय
१२९-यश स्कीर्ति
१३०-निर्माण
१३१-तीर्थंकर
१३२-स्थावर
१३३-सूक्ष्म
१३४-अपर्याप्ति
१३५-साधारण
१३६-अस्थिर
११७-अशुभ
१३८-दुर्भग
१३९-दुःस्वर
१४०-अनादेय
१४१-अयशः कीर्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४२-उच्चगोत्र
१४३-नीचगोत्र

—

१४४-दानान्तराय
१४५-लाभान्तराय
१४६-भोगान्तराय
१४७-उपभोगान्तराय
१४८-वीर्यान्तराय

नोट:—

१—शरीर नाम कर्म के साथ अपना बंधन और अपना संघात, बंध व उदय अवस्था, शरीर नाम कर्म में शामिल में हो जाती है।

२—इसी प्रकार वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, इन चार में ही इनके २० भेद शामिल है। इनके भी बंध उदय में चार ही भेद होंगे।

इस प्रकार बंध उदय में (१०+१६)=२६ प्रकृति कम हो जाती है।

३—बंध अवस्था में, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति का बंध नहीं होता केवल उदय में ही होता है।

इस प्रकार बंध प्रकृति १४८—(२६+२)=१२० हुई
उदय प्रकृति (१४८—२६)= १२२ हुई

११–अलौकिक गणित की कुछ संख्याओं का खुलासा

१—अलौकिक गणित के मुख्य दो भाग है (१) संख्यामात (२) उपमामान।

२—संख्यामान के मूल तीन भेद हैं (१) संख्यात (२) असंख्यात (३) अनन्त।

३—असंख्यात के तीन भेद हैं (१) परीता संख्यात (२) युक्ता संख्यात (३) असंख्याता संख्यात।

४—अनन्त के तीन भेद हैं—(१) परीतानन्त (२) युक्तानन्त (३) अनन्तानन्त।

५—संख्यात का एक ही भेद संख्यात है। इस प्रकार संख्यामान के ७ भेद हैं।

६—संख्यामान के ७ भेदों के प्रत्येक के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद हैं।

७—इस प्रकार संख्यामान के कुल २१ भेद हुवे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८—एक संख्या की गणना (गिनती) शब्द का वाच्य माना है, इसलिये संख्या का प्रारम्भ दो (२) के अंक से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार जघन्य संख्यात का प्रमाण २ (दो) है।

९—अलौकिक गणित का स्वरुप, लौकिक गणित से कुछ विलक्षण है। लौकिक गणित से स्थूल और थोड़े पदार्थो का परिणाम किया जाता है किन्तु अलौकिक गणित से सूक्ष्म और अनन्त पदार्थों की गणना होती है।

१०—कुवे के मेंढक की तरह जिसने हंस से कहा था कि 'हाथ पसारे पांव पसारे और पसारोगात। या ते बड़ों समुद्र है. तो कह न सुमन की वात।" जो लोग संकीर्ण बुद्धि वाले हैं, उनकी समझ में अलौकिक गणित का स्वरुप प्रवेश नहीं कर सकता किन्तु जिनकी बुद्धि गौरव-युक्त है, वे अच्छी तरह समझ सकते हैं।

११—आगे के मूल भेद के जघन्य भेद में से एक घटाने से पिछले मूल भेद का उत्कृष्ट भेद होता है। जघन्य और उत्कृष्ट भेदो के वोच के सव भेद मध्यम भेद कहलाते हैं।

१२—जघन्य युक्ता संख्यात को आवली भी कहते हैं, क्योंकि एक आवली में जघन्य युक्ता संख्यात प्रमाण समय होते हैं।

१२—जघन्य युक्ता संख्यात के वर्ग को जवन्य असंख्याता संख्यात कहते हैं।

१३—अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका, इन चार कुडों की कल्पना से जघन्य परीता संख्यात समझाया जाता है।

१४—विरलन, देय और शलाका, इन तीन राशियों से असंख्याता-संख्यात का मध्यम भेद समझाया जाता है।

१५—कथित क्रमानुसार तीन वार तीन तीन राशियों के गुणन विधान को शलाकात्रय निष्ठापन कहते हैं।

१६—शलाकात्रय निष्टापन करने से जो राशि उत्पन्न हो वह जघन्य-परीतानन्त है। जघन्य परीतानन्त का विरलनकर, प्रत्येक एकके ऊपर जघन्य परीतानन्त राख, सब जघन्य परीतानन्तों का परस्पर गुणाकार करने से जो राशि उत्पन्न हो उसको जघन्य युक्तानन्त कहते हैं। अभव्य जीवों का प्रमाण जघन्य युक्तानन्त समान है। जघन्य युक्ता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नन्त के वर्ग को जघन्य अनन्तानन्त कहते हैं।

१७—अनन्त के दूसरे भी दो भेद हैं (१) सक्षय अनन्त और (२) अक्षय अनन्त।

१८—नवीन वृद्धि न होने पर भी खर्च करते करते, जिस राशि का अन्त न आवे, उसको अक्षय अनन्त कहते हैं।
इसी प्रकार उपमामान के आठ भेदों का वर्णन करते हैं:—

१—जो प्रमाण किसी पदार्थ की उपमा देकर कहा जाता है, उसे उपमामान कहते है। इसके ८ भेद हैं:—(१) पल्य (२) सागर (३) सूच्यंगुल (४) प्रतरांगुल (५) धनांगुल (६) जगच्छ्रेणी (७) जगत्प्रतर (८) लोक।

२—पल्य के ३ भेद हैं (१) व्यवहारपल्य (२) उद्धारपल्य (३) अद्धापल्य।

३—व्यवहार पल्य का स्वरुप इस प्रकार है :—

पुदगल के सबसे छोटे खंड को परमाणु कहते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं के स्कंध को अवसन्नासन्न, ८ अवसन्नासन्न का एक सन्नासन्न, ८ सन्नासन्न का एक तृटरेणु, ८ तृट रेणु का एक त्रस रेणु, ८ त्रस रेणु का एक रथ रेणु, ८ रथ रेणु का एक (उत्तमभोग भूमि वालों का) बालाग्रभाग, ८ वालाग्रभाग का एक (मध्यम योग भूमि वालों का) बालाग्रभाग, ८ बालाग्रभाग का एक (जघन्य भोग भूमि वालों का) एक बालाग्रभाग, ८ बालाग्रभाग का एक (कर्म भूमि वालों का) वालाग्रभाग, ८ वालाग्र का एक लीख, ८ लीख की एक सरसों, ८ सरसों का एक जौ, ८ जौ का एक अंगुल। इस अंगुल को उत्सेधांगुल कहते हैं। एक उत्सेधांगुल से ५०० गुणा प्रमांणाँगुल, होता है जो भरत क्षेत्र के अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती का अंगुल होता है। भरत ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का अपने अपने काल में जो अंगुल है, उसे आत्मांगुल कहते हैं। ६ अंगुल का एक पाद, २ पाद का एक विलस्त, २ विलस्त का एक हाथ, ४ हाथ का एक धनुष, २००० धनुष का एक कोश, ४ कोश का एक योजन होता है।

४—एक योजन प्रमाण गहरा और एक योजन प्रमाण व्यास वाला एक गोल गर्त बनाना, उस गर्त को उत्तम योग भूमि वाले मैंढे के बालों के अग्रभागों से भरना। इस गर्त के एक एक रोम को सौ सौ वर्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पीछे निकालते निकालते, जितने काल में वे सब रोम निकल जावे, उतने काल को व्यवहार पल्य काल कहते हैं।

५—उपरोक्त रोम संख्या को १०० वर्ष के समय समूह से गुणा करने पर व्यवहार पल्य के समयों का प्रमाण होता है।

६—एक वर्ष के दो अयन, एक अयन की तीन ऋतु, एक ऋतु के दो मास, एक मास के ३० अहोरात्र, १ अहोरात्र के ३० मुहुर्त, एक मुहुर्त की संख्यात आवली और एक आवली के जघन्ययुक्ता संख्यात प्रमाण समय होते हैं।

७—व्यवहार पल्य के एक एक रोम खंड के असंख्यात कोटि वर्ष के समय समूह प्रमाण खंड करने से उद्धार पल्य के रोम खण्डों का प्रमाण होता है। जितने उद्धार पल्य के रोम खंड है, उतने ही उद्धार पल्य के समय जानने चाहिये।

८—एक कोटि के वर्ग को 'कोडा कोडी' कहते हैं। उद्धार पल्य के समयों को २५ कोडा कोडी से गुणा करने से गुणन फल होता है, उतने सब द्वीप समूह हैं।

९—उद्धार पल्य के प्रत्येक रोम खंड के असंख्यात वर्ष के समय समूह प्रमाण खंड करने से अद्धा पल्य के रोम खंड होते हैं। जितने अद्धा पथ्य के रोम खंड है, उतने ही अद्धा पल्य के समय है। कर्मों की स्थिति अद्धा पल्य से की गई है।

१०—पल्य को दश कोडा कोडी से गुणा करने पर 'सागर' होता है अर्थात दस कोडा कोडी व्यवहार पल्य का एक 'व्यवहार सागर' दस कोडा कोडी उद्धार पल्य का एक 'उद्धार सागर' और दस कोडा कोडी अद्धा पल्य का एक 'अद्धा सागर' होता है।

११—किसी राशि को जितनी बार आधा आधा करने से एक शेष रहे, उसे 'अर्द्धच्छेद' कहते हैं। अद्धा पल्य की अर्द्धच्छेद राशि का विरलन कर प्रत्येक एक के ऊपर अद्धा पल्य रखकर सब अद्धा पल्यों का परस्पर गुणाकार करने से जो राशि उत्पन्न होवे उसे सूच्यगुंल कहते है।

१२—सूच्य अंगुल के वर्ग को 'प्रतरांगुल' और घन को 'घनाकुल कहते हैं।

१३—पल्य की अर्द्धच्छेद राशि के असंख्यात वे भाग का विरलन कर प्रत्येक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक के ऊपर धनागुंल रख. समस्त धनांगुलों का परस्पर गुणाकार करने से जो गुणनफल हो, उसे 'जगच्छ्रेणी' कहते हैं।

१४—जगच्छ्रेणी का सातवां भाग 'राजू' कहा गया है अर्थात ७ राजू की एक 'जगच्छ्रेणी' होती है।

१५—'जगच्छ्रेणी' के वर्ग को 'जगत्प्रतर' और जगच्छ्रेणी के धन को 'लोक' कहते हैं। यही तीन लोक के आकाश प्रदेशों की संख्या है। इस प्रकार उपमामान का कथन समाप्त हुवा।

१६—इस उपमामान के भेदों से द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का परिणाम किया जाता है। जहां द्रव्य का परिणाम कहा जाय वहां उतने जुदे-जुदे पदार्थ जानना। जहां क्षेत्रका परिणाम कहा जाय वहां उतने प्रदेश जानना, जहां काल का हो, वहां उतने समय जानना, जहां भाव हो, वहां उतने अविभाग प्रतिच्छेद जानना।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५. पद्मनन्दि-पंचविंशति

१—धर्मोपदेशामृत

[गा० ७] प्राणियों के ऊपर दयाभाव रखना, यह धर्म का स्वरुप है। वह धर्म श्रावक-मुनि भेद से दो प्रकार, रत्नत्रय भेद से तीन प्रकार, तथा उत्तम-क्षमादि भेद सें १० प्रकार है, परन्तु निश्चय से तो मोह के निमित्त से होने वाले विकल्प समूह से तथा वचन-काय के संसर्गसे भी रहित, जो शुद्ध आनन्द रुप आत्मा की परिणति, वह धर्म है।

[गा० १२] जिसका चित्त दया से भीगा है, वह व्रतों से रहित भी हो तो भी उसकी एक मात्र सर्व प्राणि दया स्वर्ग प्राप्ति की निमित्त भूत होती है। इसके विपरीत प्राणी दया से रहित प्राणी, तपस्वी होकर भी पापिष्ठ ही है।

[गा० १४] श्रावक की जो ११ प्रतिमाये वतलाई हैं, उनमें पूर्व की प्रतिमाओं का निर्वाह होने पर ही आगे की प्रतिमा में परिपूर्णता होती है अन्यथा नहीं।

[गा० ३४] यदि उत्तम मार्ग में गमन करने की अभिलाषा है तो बुद्धिमान पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि वे मिथ्यादृष्टियों, विरुद्ध धर्मानुयायियों सन्मार्ग से भृष्ट, मायाचारियों, व्यसनानुरागियों तथा दुष्ट जनों की संगति छोडकर उत्तम पुरुषों का सत्संग करें।

[गा० ३८] ज्ञानाचारादि स्वरुप पांच प्रकार का आचार, उत्तम क्षमादि दस प्रकार का धर्म, संयम, तप, मूल गुण व उत्तर गुण, मिथ्यात्व, मोह एवं मद का परित्याग, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, ध्यान, प्रमाद रहित अवस्थान, संसार, शरीर एवं इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, धर्म को बढाने वाले अनेक गुण, निर्मल रत्नत्रय, तथा अन्त में समाधिमरण यह सब मुनि का धर्म है, जो मोक्ष रुप आनन्द का कारण है।

[गा० ३९] जब तक शरीर, रत्नत्रय की परिपूर्णता में साधक है, तभी तक उसे ममत्व छोडकर आहार दे, जब बाधक हो तो काल की अपेक्षा छोड समाधि मरण लें।

[गा० ४४] महान तप का आराधन करने पर भी जब एक मात्र अपने शरीर का ममत्व भाव संसार का कारण है तो प्रत्यक्ष पृथक बाह्य परिग्रहों का क्या कहना ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ५०] हे मुनि जन ! सम्यग्ज्ञान रुप अभ्यन्ता नेत्र का अभ्यास कर, लोक-भक्ति से क्या प्रयोजन ? अपने मोह को कृश कर, शरीर के कृश करने से कुछ नहीं।

[गा० ६७] इस पंचम काल में भरत, ऐरावत क्षेत्रों में साक्षात केवली नहीं पाये जाते हैं। फिर भी अज्ञान रुपी अंधकार को दूर करने वाले उनके वचन (जिनागम) तो परम्परा से प्राप्त है ही। उन वचनों के ज्ञाता श्रेष्ठ मुनि ही है, अतएव वे पूजनीय हैं, उनकी पूजा से, जिनागम की पूजा और जिन भगवान की पूजा होती है।

[गा० ७५] दावानल में, अग्नि में अविश्वास रखने वाला भी मरता है, अन्धा भी मरता है ओर लंगडा भी। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही संसार से पार उतारने वाली है, अलग २ नहीं।

[गा० ८१] अपने शुद्ध आत्मा रुप में रुचि होना सम्यग्दर्शन है, उसी आत्म स्वरुप के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है, उसी आत्म स्वरुप में लीन होने को सम्यग्चारित्र कहा है। वाह्य रत्न त्रय से तो केवल शुभ अशुभ का वन्ध होता जो संसार का कारण है।

[गा० ९१] सदा ऐसा ही सत्य वचन बोलना चाहिये जो निज-पर के लिये हित-कारक हो, परिमित हो, अमृत के समान मधुर हो। यदि कदाचित ऐसा न कर सको, कोई बाधा हो तो मौन का अवलम्वन लो।

[गा० ९५] यदि मन शुद्ध हैं, तो विना स्नान के भी शौच धर्म है। यदि मन अपवित्र है तो गंगा आदि अनेक तीर्थों में स्थान करना भी शौच धर्म नहीं।

[गा० १०४] यह संसार, स्त्रियां के आधार से ही चल रहा है। यह संसार चक्र अनेक विकारों को उत्पन्न कराता है। तात्पर्य यह कि संसार भ्रमण की कारण भूत स्त्रियां हैं। उनसे अनुराग न करना, प्राणी की संसार से रक्षा करता है।

[गा० १२६ से १२८] जिन देव ने अंग प्रविष्ठ श्रुत के वारह तथा अंग वाह्य के अनन्त भेद बताये हैं। इन दोनों में ही चेतन आत्म को ग्राह्य स्वरुप तथा उससे भिन्न पर पदार्थों को हेय स्वरुप बताया है। अंग प्रविष्ठ श्रुत के वारह भेद (१) आचा रांग (२) सूत्र कृतांग (३) स्थानांग (४) सम-वायांग (५) व्याख्या प्रज्ञात्यांग (६) ज्ञातृ धर्म कथांग (७) उपास का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्ययनांग (८) अन्तकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपयादिक दशांग (१०) प्रश्न व्याकरणांग (११) विपाकसूत्रांग और (१२) दृष्टि वादांग हैं। दृष्टि वादांग पांच प्रकार है:—(१) परिकर्म (२) सूत्र (३) प्रथमानुयोग (४) पूर्वगत और (५) चूलिका। परिक्रम के भेद:—चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, सागर प्रज्ञप्ति और व्याख्या प्रज्ञप्ति। सूत्र के भेद=एक। प्रथमानुयोग का १ भेद। चूलिका के ५ भेद:-जल गत, स्थल गत, आकाश-गत, माया स्वरुप और परावर्तन। इनमें पूर्वगत के भी चौदह भेद हैं— (१) उत्पाद पूर्व (२) अग्रायणी पूर्व (३) वीर्यानुप्रवाद (४) अस्तिना-स्तिप्रवाद (५) ज्ञानाप्रवाद (६) सत्यप्रवाद (७) आत्मप्रवाद, (८) कर्म प्रवाद (९) प्रत्याख्याननामधेय (१०) विद्यानुप्रवाद (११) कल्याण-नामधेय (१२) प्राणावाय (१३) क्रियाविशाल (१४) लोक बिन्दु सार। अंग वाह्य दशवें कालिक व उत्तराध्ययन आदि के भेद से अनेक प्रकार है। उसके मुख्य भेद चौदह हैं—(१) सामायिक (२) चतुर्विशत्तिस्तव (३) बन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) वैनयिक (६) कृतिकर्म (७) दशवेंकालिक (८) उत्तराध्ययन (९) कल्पव्यवहार (10) कल्प्याकल्प (११) महा कल्प (१२) पुण्डरीक (१३) महापुण्डरीक (१४) निषिधका। इस पूरे श्रुत को अभ्यास करके यदि आत्मा का ज्ञान (अनुभव) नहीं हुवा तो संसार भ्रमण ही रहेगा। वर्तमान काल में मनुष्यों की आयु थोड़ी व बुद्धि अतिशय मन्द हो गई है, अत: उनमें इस पूरे श्रुत के अभ्यास की शक्ति नहीं है। इसलिये उन्हें उतने ही श्रुत का प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करना चाहिये जो आत्मा का हित करें, व्यर्थ श्रुत से क्या ?

[गा० १३३] कर्मों के शान्त होने से, सब विकल्प छूटकर ध्यान ही शेष रह जाता है, तब यह आत्मा अपने आपको, अपने द्वारा ही संसार रुपी गडढे से निकाल कर, मोक्ष पहुंचा देता है। वास्तव में आत्मा का अनुभव ही धर्म है।

[गा० १३९] नय, प्रमाण और निक्षेप से आत्मा का ज्ञान करके, मोह रुपी मगरों से भरे इस भयानक संसार रुप समुद्र को, एकाग्र मन होकर, आत्मा का आश्रय लो।

[गा० १४१] कुटुम्ब एवं धन-धान्यादि वाह्य सब पदार्थों का आत्मा से कुछ भी सम्वन्ध नहीं अतः इनके संयोगों में हर्षित और वियोग में खेद खिन्न होना उचित नहीं। अपने शरीर का भी अपनी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा चेतन है और शरीर जड़। इन्द्रिय विषयभोगों का सुख विनश्वर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व झूंठा है अतः उसमें राग-द्वेप न करके आत्मा का अनुभव कर।

[गा० १५६] यदि इन्द्रिया, अन्तरात्मा के विमुख हैं तो बाह्य तप व्यर्थ है। यदि इन्द्रियां अन्तरात्मा के विमुख नहीं है, तो भी तप बेकार है। इस प्रकार सब प्रयोजन एक समताभाव से प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वाह्य तप से पहले इन्द्रियों को (दमन) काबू करो, राग-द्वेष का शमन करो, मन-वचन-काय की सरल प्रवृत्ति करो अन्यथा बाह्य तप दुखदायी होगा।

[गा० १६५] हे आत्मन्! यदि निरन्तर जन्म, जरा, मृत्यु रुपी रोग को ठीक करने को धर्म रुपी रसायन की इच्छा है तो मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और प्रमाद को दूर कर, तभी ऐसा कर पायेगा अन्यथा नहीं।

[गा० १६९] जो लोग मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, बुद्धि की चतुरता, स्वस्थ शरीर, आयु, जैनमत की भक्ति व उपदेश प्राप्त कर लिया है। फिर भी मोक्ष-मार्ग रुपी धर्म नहीं करते, तो वे दुर्बुद्धि जन हाथ में आये अमूल्य रत्न को योंही समुद्र में फैंक रहे हैं।

[गा० १८२] यदि धर्म की रक्षा की जाती है अर्थात उसका पालन किया जाता है तो वह भी धर्मात्मा प्राणी की नरकादि दुःखों से रक्षा करता है। धर्म ही संसारी प्राणियों की सब प्रकार रक्षा करने वाला हैं।

[गा० १८८] पुण्य के योग से दूरवर्ती अभीष्ठ पदार्थ भी प्राप्त होता है और इसके बिना हाथ में स्थित पदार्थ भी चला जाता है। दूसरे पदार्थ तो केवल निमित्त मात्र है, कुछ नहीं करते।

[गा० १९५] धर्म, लक्ष्मी की प्राप्ति में वशीकरण मंत्र है, इच्जित वस्तु की प्राप्ति में कल्प वृक्ष है, काम धेनु है, चिन्ता मणि है। अतः धर्म आराधना ही करो।

२—दानोपदेशनम्

[गा० ३] जिसके गृह पर किसी तीर्थंकर की प्रथम पारणा होती है, उसके यहां ये पांच आश्चर्य होते हैं (१) रत्न वर्षा (२) दुंदुभी वादन (३) जय जय शब्द प्रसार (४) सुगन्धित वायु का संचार और (५) पुष्प वर्षा।

[गा० ५] गृहस्थ जीवन में, स्त्री, पुत्र, व धन में मोह के कारण व अनेक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार के आरम्भ कार्यं के कारण, लगातार पाप का संचय होता रहता है। इस पाप को नष्ट करने का एक मात्र उपाय दान ही है।

[गा० ६] जो दान के योग्य है वह पात्र कहा जाता है। वह उत्तम मध्यम, जघन्य भेद से तीन प्रकार है। सकल चारित्र मुनि उत्तम, देश चारित्र श्रावक मध्यम, और व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। मिथ्या दृष्टि जीव कुपात्र। दर्शन और व्रत से रहित अपात्र है।

[गा० २६] जो पथिक अपने घर से नाश्ता खाना साथ लेकर जाता है वह मार्ग में सुखी रहता है, वैसे ही दूसरे जन्म में प्रवेश करने के लिये, इस प्राणी को व्रत व दान से प्राप्त पुण्य ही सुख का कारण है।

[गा० ३२] इच्छानुसार द्रव्य किसी को प्राप्त नहीं होता। अधिक द्रव्य हो जाने की दान देने में प्रतिक्षा न करो। अपने पास जितना भी द्रव्य है, तदनुसार प्रतिदिन थोडा थोडा वहुत दान देना चाहिये।

[गा० ३६] पात्र दान इस भव में यश का कारण हैं, परभव में सुख का कारण है, उसे जो नहीं करता वह तो मूर्ख धन की रक्षा करने वाले चौकीदार की तरह है।

[गा० ३७] जो द्रव्य जिनालय के निर्माण में, जिन देव-आचार्य-उपाध्याय-गुरु की पूजादि में, संयमी जनों को दान देने में दुखी प्राणियों को सुखी करने में, तथा अपने उपभोग में भी नीति पूर्वक काम आता है वही अपना धन है वाकी तो किसी दूसरे पुरुष ही का है।

[गा० ४१] अपने कर्मों के अनुसार कुत्ता भी अपना पेट भरता है और राजा भी। परन्तु प्रशंसनीय व चतुर वही है जो निरन्तर पात्र दान करे।

[गा० ४६] जिस मनुष्य का शरीर, भोग और दान रहित ऐसे धन, बन्धन से बंधा है, उसकी अपेक्षा तो कौवा ही अच्छा है जो सवको बुलाकर खाता है।

[गा० ५०] अभय दान, औषध दान, आहार दान और शास्त्र (ज्ञान) दान, ये चार प्रकार का दान, महान फल को देने वाले हैं।

[गा० ५२] निर्दोष दान का उपदेश, पापी कंजूस को कभी नहीं रुचता जैसे सम्पूर्ण प्राणियों को सुख देने वाला सूर्य का प्रकाश उल्लू को नहीं रुचता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४५] प्रथम तो कुछ धन जमीन में सुरक्षित रक्खूंगा, उसके बाद भवन निर्माण करुंगा, उसके बाद पुत्र, पुत्री का विवाह करुंगा, उसके बाद यदि और धन आया तो धर्म के निमित्त दान करुंगा, यही विचार करता यह मूर्ख ग्रहस्थ मरण को प्राप्त हो जाता है।

३–अनित्य पंञ्चाशत

[गा० ३] यह शरीर रुपी झोंपडी दुर्गन्ध युक्त, अपवित्र धातुओं रुप दीवारों से बनी है, चमड़े से ढकी है, विष्ठा एवं मूत्रादि से परिपूर्ण है, भूख प्यास रुपी चुहों द्वारा संयुक्त है, ऐसी निकृष्ट शरीर जब स्वयं ही बुढापे व रोग से जल रही हो तब भी यह मूर्ख प्राणी उसे स्थिर व पवित्र मानता है।

[गा० ४] जब यह शरीर, धन-सम्पत्ति, स्त्री एवं पुत्र आदि समस्त चेतन अचेतन पदार्थ स्वभाव से ही अस्थिर है, तब विवेकी जन उसके वियोग में शोक और संयोग में हर्ष क्यों करें ?

[गा० ७] जैसे सूर्य का उदय के साथ अस्त का भी निश्चय है, इसी प्रकार शरीर के जन्म के साथ, उसका मरण भी निश्चित है, फिर शोक कैसा ?

[गा० ११] जो पुरुष इष्ट जन का वियोग होने पर शोक करता है वह तो मूर्खों का शिरोमणि है क्योंकि मूर्ख तो आये दुख को टालने के कुछ पुरुषार्थ ही करते हैं, परन्तु ये तो व्यर्थ शोकाकुल होकर आगे नया असाता का कर्म बांध कर मूर्ख बन रहे हैं।

[गा० १४] हे आत्मन् ! तुझे जो इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग हो रहा है, वह तेरे पूर्व कृत पाप के उदय से है। इसलिये तू शोक करके नया पाप कर्म बांधने के वजाय, उस पाप का ही नाश कर ताकि आगे पाप का उदय न आवे और इष्ट वियोग व अनिष्ठ संयोग न हो।

[गा० १६] जिस प्रकार रात्रि में वृक्ष पर पक्षी इकट्ठे हो जाते हैं और सवेरा होने पर अपनी २ दिशाओं को चले-जाते हैं, ऐसे ही ये कुटुम्बीजन है।

[गा० २३] यह संसारी जीव, जब किसी सम्बन्धी के मरण पर विलाप पूर्वक चिल्लाकर रुदन करता है तो आचार्य उसे उसका पागलपन कहते हैं क्योंकि ऐसा करके लाभ के बजाय वह आगामी दुखदायी कर्म बांध रहा है

[गा० ३२] तीनों लोको में क्या देव, क्या औषधि, क्या विद्या, क्या मणि,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या मंत्र, क्या आश्रय, क्या मित्र, क्या राजा आदि शक्तिशाली पुरुष, उदय में आये कर्म को रोक नहीं सकते। फिर शोक कैसा ?

[गा० ३७] यह जीव, दूसरों के मरण को सुनता है, उन्हें स्वयं भी मरता देखता है परन्तु अपने को स्थिर समझता है। अतः वृद्ध हो जाने पर भी धर्म का आश्रय न लेकर वह मूर्ख अपने पुत्रादि के वन्धन में और बंध जाता है।

[गा० ४२] संसार में राजा क्षण भर में रंक होता है, रोग रहित युवा, क्षण भर में रोग को प्राप्त होता है, तो लक्ष्मी और जीवन का क्या अभिमान ?

[गा० ४५] किसी अपने के मरण पर शोक करने से, उस जीव के चारों पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नष्ट होते हैं, बुद्धि में विपरीतता आती है, पाप कर्म का वन्ध होता है, रोग उत्पन्न होता है, व नरकगति मिलती है।

[गा० ४६] यह संसार विपत्ति रुप ही है, तव यहां किसी आपत्ति के आने पर शोक करना महा अज्ञानता ही है। उससे, भविष्य और विपत्तियां मिलेगी।

[गा० ५०] यह अज्ञानी जीव, यह जानकर भी कि उसकी आयु क्षण-क्षण क्षीण हो रही है, अपने को स्थिर मान रहा है, बड़ा आश्चर्य है।

[गा० ५२] संयोग का वियोग होगा ही, जन्म के साथ उसकी मृत्यु होगी ही, सम्पत्ति के साथ विपत्ति होगी ही, सुख के वाद दुख होगा ही, इसलिये ज्ञानी इष्ट संयोग में हर्ष, इष्ट वियोग में शोक नहीं करता।

[गा० ५३] सभी जीव प्रतिदिन अपने कल्याण की ही बात सोचते रहते हैं, परन्तु होता वही है जैसा कर्म का उदय है। अतः ज्ञानी जन राग-द्वेष रहित होकर, समता भाव से कर्म के उदय को भोगते हैं, शोक नहीं करते। जिससे आगे का कर्म वन्ध नहीं होता।

४—एकत्व सप्ततिः

[गा० ४] चेतन्य तत्त्व प्रत्येक प्राणी के शरीर में स्थित है। अज्ञानी जीव उस ओर दृष्टि न देकर, विषय जनित सुख को ही वास्तविक सुख मानकर उसके पीछे दौड रहे हैं। ऐसा अनादि काल से हो रहा है।

[गा० १०] बचन में असत्यता, अज्ञान से या राग द्वेष से आती है। अतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो पूर्ण ज्ञानी नहीं, वीतरागी नहीं उसका वताया धर्म प्रमाण नहीं हो सकता। सर्वज्ञ और वीतरागी का वताया धर्म ही प्रमाण हो सकता है।

[गा० १६] प्रमाण, नय, निक्षेप का उपयोग व्यवहार नय ही में होता है। निश्चय नय में तो एक शुद्ध आत्मा ही प्रतिभासित होता है।

[गा० १८] जो महात्मा, अविनाशी निर्मल आत्मा को, आत्मा द्वारा जानकर, उसी आत्मा में स्थिर लीन होता है, वही मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

[गा० २५] किसी भी पर पदार्थ का सम्बन्ध, वह वंध का व संसार का कारण है। अपनी आत्मा से ही जो सम्बन्ध है, वह ही मुक्ति का कारण है।

[गा० ३४] उदय, उदीरणा, सत्व, यह सव तो कर्म का विस्तार मात्र है। ज्ञान रुप जो आत्मा, वह इस सबसे भिन्न, निर्मल और अकेली है।

[गा० ३९] जब स्वरुपा चरण चारित्र प्रगट होता है तो एक मात्र शुद्ध स्वरुप आत्मा का ही अनुभव होता है। उस समय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तपापि का अथवा ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयका कोई भेद नहीं रहता।

[गा० ६१] जैसे केवल आकाश में चित्र नहीं वनाया जा सकता उसी प्रकार अतीन्द्रिय आत्मा का वर्णन असम्भव है। वह तो स्वानुभव के गोचर है।

[गा० ७४] अज्ञानी को संसार में सुख और दुख प्रतिभासित होता है, ज्ञानी को तो सब दुख ही प्रतिभासित होता है। संसार में सुख है ही कहां ?

[गा० ७९] आत्मा से सव कर्म, विकार, क्षेत्र, काल, भव आदि भिन्न है।

५–यतिभावनाष्टकम्

[गा० ३] तत्त्व ज्ञान के प्राप्त होने पर, धूलि से मलिन, वस्त्र से रहित, पद्मासन में स्थित, शान्त, बचन रहित, आंख वन्द किये, ऐसी अवस्था को प्राप्त हुवे मुझे यदि वन पशु पत्थर की मूर्ति समझले, तो मैं पुण्यशाली हूंगा।

[गा० ४] यदि निजन में मेरा उपाश्रय हो जाय, दिशा मेरी वस्त्र वन जाय सन्तोष मेरा धन हो जाय, क्षमा मेरी स्त्री हो, तप मेरा व्यापार हो, सब प्राणियों से मेरी मैत्री हो, तत्त्व विचार में सुख का अनुभव होने लगे, तो मुझे दूसरों से क्या प्रयोजन ? मेरे पास क्या नहीं है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ७] सिर पर वज्र गिरने पर भी, तीन लोक की अग्नि प्रज्वलित होने पर भी, प्राणों के नाश होने पर भी विकार को प्राप्त न हो, उसे उत्कृष्ट समाधि होती है।

६—उपासक संस्कार

[गा० ६-७] इस कलिकाल में जो मुनियों का भ्रमण है, उनकी स्थिति, धर्म, और दान का मूल कारण श्रावक है। जिन पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये छः कर्म उसके प्रतिदिन के कार्य हैं।

[गा० ८] सव प्राणियों में समताभाव, संयम में शुभ विचार, आर्त्त, रौद्र, ध्यान का त्याग, यह सामयिक व्रत है।

[गा० १०] जुवां, मांस, मद्य, वैश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री, इन का त्याग होना चाहिए।

[गा० १६] श्रावक को प्रातः काल भक्ति पूर्वक जिनेन्द्र देव का, निर्ग्रंथ गुरु का दर्शन व वन्दना करके धर्म श्रवन करना चाहिये।

[गा० १९] आत्मा के अवलोकन में केवल गुरु के निमित्त से प्राप्त आत्म ज्ञान होता है।

[गा० २३] श्रावक को सम्यग्दर्शनका होना आवश्यक है तभी व्रतसार्थक है।

[गा० २४] श्रावक के देश व्रत में ५ अणु व्रत, ३ गुण व्रत, ४ शिक्षाव्रत है।

[गा० ४२] श्रावक को नित्य बारह भावनाओं का चिन्तन करते रहना चाहिये।

७—देश व्रतोद्द्योतनम्

[गा० २] सम्यग्दृष्टि जीव एक भी हो तो वह प्रशंसा के योग्य है। यदि उससे रहित अर्थात मिथ्यादृष्टि जनों का समूह भी हो, तो वे निन्दनीय ही है। सम्यग्दर्शन सहित पाप के उदय से दुखी रहना भी उतना हानिकारक नहीं, जितना मिथ्यादृष्टि जीव का पुण्य के उदय में सुखी रहना हानिकारक है।

[गा० ४] यदि किसी को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाय तो मोक्ष दायक तप का आचरण करना चाहिये अर्थात महाव्रत धारण करना चाहिये। यदि किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारणवश ऐसा न कर सके तो गृहस्थों के छः आवश्यक तो करने चाहिये।

[गा० ५] सम्यग्दर्शन के साथ, आठ मूल गुण, फिर पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत, रात्रि में भोजन का त्याग, छने जल का ग्रहण, और देव दर्शन, ये श्रावक को अवश्य ही करने चाहिये।

[गा० ७] श्रावक के सब कार्यों में मुख्य सत्पात्र दान है, जो आहार, औषधि, ज्ञान और अभय चार रुप होता है और सम्पत्ति के लाभ का उत्कृष्ट फल है।

[गा० २२] जो भव्य जीव भक्ति से कुदरु पत्तो के वराबर जिनालय और जौ के वराकर जिन प्रतिमा का निर्माण कराते हैं, वे अतिशय पुण्य शाली होते हैं।

[गा० २५] धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, में मोक्ष पुरुषार्थ ही सदा स्थिर रहने वाला है शेष तीन पुरुषार्थ मुमुक्षजनों के छोडने योग्य है। धर्म पुरुषार्थ यदि मोक्ष का साधक हो तो अभिष्ठ है, यदि केवल संसारी भोगादि का ही कारण होता है तो उसे विद्वान लोग पाप ही समझते हैं।

८–सिद्ध स्तुति

[गा० १] सूक्ष्म होने से दूसरे परमाणु दर्शी अवधि ज्ञानी भी जिसे नहीं देख सकते, उन सिद्धों का वर्णन मनुष्य कैसे कर सकता है?

[गा० १४] फिर भी जब भव्य जीव अनेकान्तमय परमागम का अभ्यास करता है तव विवेक बुद्धि को प्राप्त होकर सिद्धो के यथार्थ स्वरुप को जान लेता है।

९–आलोचना

[गा० ८] हे जिनेन्द्र देव! आप त्रिकालवर्ती अनन्त पर्याय सहित लोक-अलोक के सब पदार्थों को युगपत जानते हो तो क्या मेरे दोष नहीं जानते होंगे फिर भी मैं अपनी आत्मशुद्धि के लिये ही उन दोषों को आपसे कहता हूँ।

[गा० १२-१३] वल पूर्वक, आप में इस चित्त को लगाने पर भी, यह वाह्य पदार्थों की ओर ही दौडता है। कठिन व्रत विधान से भी अभी तक सिद्धि प्राप्त नहीं हुई क्योंकि यह चंचल मन भ्रम को प्राप्त हो रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसलिये जब तक यह मन है, तब तक संयमी का कल्याण कैसे हो सकता है ?

[गा० १४-१५] आपको प्राप्त होता हुवा मन, अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त हो जायगा इसलिये आपसे हट कर निस्तर बाह्य पदार्थों में भाग रहा है। उसे मृत्यु का डर है।

[गा० १८] अशुभ उपयोग से पाप, शुभ उपयोग से पुण्य। दोनों से संसार भ्रमण ही है। शाश्वत सुख का स्थान मोक्ष तो शुद्ध उपयोग से ही प्राप्त होता है।

[गा० २०] आपके सामने मैं और यह कर्म शत्रु, दोनों उपस्थित है। हे नाथ, आप इस कर्म दुष्ट को निकालकर बाहर कर दें क्योंकि सज्जन की रक्षा और दुष्ट को दण्ड, यह न्याय प्रिय राजा का कर्त्तव्य होता है।

[गा० २५] कर्म और नो कर्म के स्वरुप से परिणत हुवा यह एक पुदगल रुप शत्रु ही मेरे सान्निध्य में हैं, मैं उसे भेद-विज्ञान रुपी तलवार से खण्डित करूंगा।

[गा० २९] निश्चल से द्वैत (निज-पर का भेद) ही संसार है तथा अद्वैत मोक्ष है।

[गा० ३०] हे केवल ज्ञानी जिन देव ! आपने जो मुक्ति का चारित्र बत–लाया है, उसे इस पंचम काल में मैं धारण नहीं कर सकता, इसलिये अब तो पुण्य के प्रभाव से जो भक्ति आपके प्रति है, वही मुझे संसार से पार करे।

[गा० ३२] हे देव ! आपकी वाणी द्वारा जो उपदेश मुझे मिला है, मुझे वही चाहिये, उसके मुकाबले तीन पृथ्वी का राज्य तो क्या, तीन लोक का भी नहीं चाहिये।

१०–सद्बोध चन्द्रोदयः

[गा० १] जिस चेतन तत्त्व को जानता हुवा भी और बुद्धिमान भी गुरु वाणी के द्वारा कहने में असमर्थ है और यदि कहा भी जाय तो मनुष्यों के हृदय में समाता नहीं है तथा जिसके स्वानुभाव में स्थित होने पर भी बिरले ही चिरकाल में मोक्ष को प्राप्त कर पाते हैं, वह मोक्ष का कारण भूत आश्–चर्य जनक चेतनतत्त्व जयवन्त होवे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० २] उसका स्वरुप गम्भीर होने से कभी २ समस्त श्रुत के पारगामी भी उसके विषय में मोह को प्राप्त हो जाते हैं।

[गा० ६] वह चैतन्य रुप तत्त्व सब प्रकार के विकल्पों से रहित है और यह मन, कर्म जनित, राग द्वेष के आश्रय से होने वाले विकल्प रुप है। इसलिये जब वह चैतन्य तत्त्व, मन का भी विषय नहीं, तब जड रुप अचेत शरीर की तो बात ही क्या? उसका विषय तो वह है ही नहीं।

[गा० ७] वह चेतन तत्त्व, मन का व वचन का भी विषय नहीं, केवल इसलिये वह असत्य नहीं क्योंकि वह स्वानुभव का विषय तो है।

[गा० ६] वह चैतन्य-तत्त्व निश्चय से अपने आत्मा में ही स्थित है, उसे जो अन्य स्थान में समझता है, वह मूर्ख मुठ्ठी की वस्तु को वन में खोजता है।

[गा० ११] जो बाह्य तपश्चरण तो करते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण. उस चैतन्य तत्त्व का अनुभव नहीं कर पाते।

[गा० १३] यह आत्मा कर्म बंध से सहित होकर भी बन्धन से रहित है, रागद्वेष, से मलिन होने पर भी निर्मल है, शरीर से सम्बद्ध होकर भी इस शरीर से रहित है। वह तो वास्तव में वीतराग, स्वाधीन, अशरीरी होकर सिद्ध समान है केवल पर्याय अवस्था में शरीर सहित लगता है।

[गा० १७] इन्द्रिय, मन एवं श्वासोच्छवास के नष्ट हो जाने पर, जो निर्मल आत्मा प्रतिभाषित होता है, वही इस संसार का नाश करने वाला है।

[गा० १८-१९] मैं मुक्त रुप हूं 'अथवा' 'मैं कर्मों से सम्बद्ध हूं' ये दोनों विकल्प नहीं करने चाहिये। वहां तो निर्विकल्प दशा को प्राप्त होने पर मोक्ष होता है। 'कर्म और मैं' जो यह द्वैतबुद्धि है, वह तो संसार कारण है।

[गा० २५] समस्त उपाधियों से रहित, जो कुछ भी ज्ञान रुप है, वही मेरा स्वरुप है, उसके अलावा किंचित मात्र भी मेरा नहीं है, ऐसा निश्चय कर।

[गा० ३०] व्यवहार वहीं तक उपादेय है जहां तक निश्चय का साधक है। वस्तुतः वह तो असत्यार्थ होने से हेय नहीं है, उपादेय तो निश्चय ही है।

[गा० ३६] जब विद्वान साधु को उत्कृष्ट आत्मा का स्वरुप समझ में आ जाता है, तब उसे श्रुत के परिशीलन की विशेष आवश्यकता नहीं रहती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्म तत्त्व का परिज्ञान प्राप्त करना यही तो आगम के अभ्यास का फल है और वह उसे प्राप्त हो चुका ।

[गा० ४३] समस्त जीवराशि चैतन्य स्वरुप है, अतः उसे अपने समान जान ।

[गा० ४४] सब कार्यो की सिद्धि अंतरंग और वहिरंग योग से होती है, इसलिये योगी, निरन्तर प्रयत्न पूर्वक 'स्व' और 'पर' को समदृष्टि से देखे । योग के दोनों अर्थ हैं:—मन-वचन-काय की प्रवृत्ति और समाधि। मन-बचन-काय की प्रवृत्ति रुपयोग वह दो रुप है—शुभ-अशुभ । शुभ योग से पुण्य और अशुभ से पाप होता है। यह योग शरीर से सम्वन्ध के कारण वहिरंग योग है। अंतरंग योग समाधि है। जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। स्वपर में सम बुद्धि रखते हुवे अन्तरंग योग में स्थित होना चाहिये ।

११—निश्चय पंञ्चाशत्

[गा० २] उस चैतन्य तत्त्व के विषय में मन से कुछ विचार नहीं किया जा सकता, वचन से कुछ नहीं कहा जा सकता। वह शरीर से भिन्न, केवल अनुभव मात्र से ही गम्य है। अर्थात वह केवल ज्ञानुभव से ही पाया जा सकता है।

[गा० ८–९] व्यवहार नय अज्ञानी जन को प्रतिबोधित करने के लिये है, किन्तु शुद्ध निश्चय नय कर्मों के नाश का कारण है। वही उपादेय है। अतः जो मुनि निश्चय नय का आश्रय लेते हैं, वे ही मोक्ष पद प्राप्त करते हैं।

[गा० ११] चूंकि संसारी सज्जनगण व्यवहार नये से मुख्य और उपचार भूत कथन को जानकर फिर मुख्य का आश्रय लेते हैं, अतः वह भी पूज्य है।

[गा० १४] जैसे अग्नि में उष्णता है वैसे ही आत्मा में ज्ञान है। ऐसी प्रतीति का नाम सम्यग्दर्शन, उसी प्रकार जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और इन दोनों के साथ, उसी आत्मा में स्थित होने का नाम सम्यग्चारित्र है।

[गा० १८] यह जीव शुद्ध निश्चय नय का आवलम्बन लेकर शुद्ध आत्म-स्वरुप को प्राप्त करता है और व्यवहार नय का आवलम्बन लेकर अशुद्ध आत्म स्वरुप को प्राप्त करता है। अतः शुद्ध निश्चय नय ही ग्राह्मा है।

[गा० २१] जैसे कीचड़ से मलिन जल, निर्मली डालने से स्वच्छ हो जाता है वैसे ही कर्म के उदय से क्रोधादि विकारों से मलिन आत्मा स्वपर भेद-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विज्ञान से निर्मल हो जाती है। अतः ज्ञानी को कर्मकृत मैल का भय नहीं रहता।

[गा० २५] जैसे लाल पुष्प के आश्रय से मणि की लालिमा वास्तव में उसकी नहीं होती, वैसे ही कर्म के उदय से क्रोधादि विकार आत्मा के नहीं हैं।

[गा० २६] जैसे मुख के विकार से दर्पण को कोई विकार नहीं होता ऐसे ही कर्म उदय से जो विकार है, उनसे मेरी शुद्ध स्वरुप को कोई हानि नहीं हो सकती। मैं तो स्वभाव से शुद्ध ही हूं।

[गा० ३३] अन्य पदार्थ के निमित्त से ही सब चिन्तायें व विकल्प उत्पन्न होते है और उससे कर्म का वन्ध होता है। मुझे अन्य पदार्थों से क्या प्रयोजन?

[गा० ३७] हे आत्मन्! तुम मन के द्वारा ही विकल्पों से कर्म से बांधे गये हो। यदि तुम मन को वांध लो (वश कर लो) तो तुम छूट सकते हो। मन को वश करो।

[गा० ४४] यद्यपि मन आगम की सहायता से विशुद्ध परमात्मा के स्वरुप को जान कर ही स्वीकार करता है फिर भी वह आत्म तत्त्व मन का विषय नहीं है। वह तो स्वानुभव के द्वारा ही प्राप्त होता है।

[गा० ५०] जब तक चैतन्य स्वरुप आतमा का अनुभव नहीं होता तभी तक वुद्धि आगम के अभ्यास में लगी रहती है। परन्तु जैसे स्वनुभव हुवा, वुद्धि आगम अभ्यास से विमुख हो चैतन्य स्वरुप में रम जाती है।

[गा० ५३] वह चैतन्य स्वरुप बद्ध है या मुक्त है, यह नयों द्वारा विकल्प है। वास्तव में आत्म स्वरुप तो सव नयों से रहित है। जहां सव नय, निक्षेप प्रमाण के विकल्प नहीं रहते, वही अनुभव मात्र मैं हूँ।

[गा० ५५] शुद्ध चैतन्य आत्म तत्त्व के ज्ञात होने से सब कुछ ज्ञात हो गया, उसके देख लेने से (अनुभव कर लेने से) सब कुछ देख लिया। क्योंकि समस्त ज्ञेयों पदार्थों को विषय करने वाले दर्शन-ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है।

[गा० ६०] जिस प्रकार नट के द्वारा, यंत्र की डोरी खींचने से कठपुतली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाचती है वैसे ही यह प्राणी कर्म रुपी डोरी से प्रेरित हो चतुर्गति में नाचता है।

[गा० २३] तत्वज्ञ विचार करता है कि यद्यपि मैं पर्याय की अपेक्षा कर्म से वद्ध हूँ, दरिद्री हूँ तप से दुखी भी हूँ पर गुरु के उपदेश से मैंने अपना शुद्ध आत्म स्वरुप जान लिया है और अब निश्चय से न मैं कर्म से वद्ध हूं, न दरिद्री हूं और न तप से दुखी हूं। शुद्ध निर्मल हूं।

१२–ब्रह्मचर्य रक्षा वर्तिः

[गा० २] वह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञान स्वरुप आत्मा है, उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। लोकिक ब्रह्मचर्य तो व्यवहार से है।

[गा० ६] जिनकी बुद्धि संसार परिभ्रमण से भय को प्राप्त हुई है, तथा जो संयम व तप का पालन करना चाहते हैं, उन्हें समस्त स्त्री जनों को त्याग करना चाहिये।

[गा० ७] मुनि व्रत में स्त्री का नाम लेना भी उसके नाश का कारण है तब भला वह स्वयं क्या नहीं कर सकती, सभी व्रत नियम नष्ट कर देगी।

[गा० ६] राग बुद्धि से किया गया स्त्री स्मरण ही जब मुनि का तेज नष्ट कर देता है, व्रत का विनाश, मोक्ष मार्ग से पतन कर देता है, क्लेश व पाप उप जाता है, तब भला स्त्री की समीपता, दर्शन, वार्तालाप व स्पर्श क्या नहीं करेगा।

[गा० २०] जो पुरुष, योवन स्त्रियों चे मन में निवास करते हैं, वे पुण्य-शाली भी उन साधुओं को ही नमस्कार करते हैं जिनके मन में स्त्रियां निवास नहीं करती।

१३--ऋषभस्तोत्रम्

[गा० ४] हे ऋषभ जिनेन्द्र ! जिस प्रकार कुंवे में रहने वाला मैंढक, समुद्र के विस्तार का वर्णन नहीं कर सकता, वैसे ही मैं अल्पक्ष, आपके अनन्त गुणों और अनन्त ज्ञान की कैसे स्तुति कर सकता हूँ ?

[गा० ६] हे भगवान, इन्द्र ने तो विना पलक मारे, और एक हजार नेत्रों से आपका लगातार दर्शन करके अपने आपको सफल माना था, हम लोग,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो नेत्रों वाले और पलक सहित अत: व्यवधान सहित आपका टकटकी लगाकर कैसे दर्शन कर पा सकते है ?

[गा० १३] हे भगवन ! पहले तो प्रजाजनों को आपने कृषि, असि आदि सब छ: कर्मों की शिक्षा दी और स्वयं वस्तु स्वरुप को जानकर संसार शरीर एवं भोगों से विरक्त हो आश्चर्य जनक अभ्युदय को प्राप्त हुवे, ये कैसी अनोखी बात ?

[गा० २४] हे भगवन, जब आपकी समीपता से स्थावर वृक्ष भी अशोक (शोक रहित) हो गया तो भला विवेकी जीव जो आपके समीप आते हैं, कैसे शोक रहित नहीं होंगे ?

[गा० २७] हे भगवन, जब कामदेव अपने पंचशर (फूलों के पांच बाण) से आपको कामातुर न कर सका तो उसने फूलों की वर्षा ही शुरु की दी।

[गा० ३०] जिनेन्द्र भगवान की जो दिव्य ध्वनि खिरती है वह तालु, कण्ठ एवं ओष्ठ आदि के व्यापार से रहित निरक्षर होती है। उसकी आवाज समुद्र अथवा मेघ की गर्जना के समान गम्भीर होती है, परन्तु श्रोताओं के ऐसा लगता है कि उन्हीं की भाषा में उपदेश हो रहा है। वह दिव्य ध्वनि तीनों सन्ध्या कालों में नौ मुहुर्त तक खिरती है, परन्तु गणधर, इन्द्र, एवं चक्रवर्ती आदि के प्रश्नानुसार कभी अन्य समय में भी खिरती है।

[गा० ३७] हे भगवन ! जैसे सुराज्य में, मार्ग में चलते पथिकों को चोरों आदि का भय नहीं रहता, वैसे ही आपने दिव्य उपदेश से मोक्ष मार्ग को मोहरुपी चोरों से रहित कर दिया और साधुजन रत्नत्रय के साथ मोक्ष पहुंच जाते हैं।

[गा० ३८] जो सर्प द्वारा, मुर्दो को प्राप्त जीव, मंत्र के प्रभाव से चेतना को प्राप्त हो जाता है वैसे ही मोह से मूर्छित संसारी आपकी वाणी से ज्ञान चेतना को प्राप्त होते हैं।

[गा० ४७] चन्द्र की चांदनी तो शीतलता ही प्रदान करने वाली है, कोई मूर्ख उसका आवरण करले तो चन्द्रमा का क्या दोष ? ऐसे ही आपकी वाणी तो संसार के जीव की हितकारी ही है, कोई अज्ञानी जीव उसे अन-सुना करके, संसार के दुख भोगे, तो इसमें आपका क्या दोष ?

[गा० ५४] हे प्रभु ! आप इतने सूक्ष्म हो कि परमाणु को देखने वाले भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपको नहीं देख पाते। इतने स्थूल हो कि अनन्त स्वरुप आप में पूर्ण तीन लोक व अलोक समा जाते हैं। मेरी चिरकाल स्तूति भी आपके गुणों का वर्णन नहीं कर सकती।

१४–जिनवर स्तवनम्

[गा० २] हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर, आपके दर्शन में वाधा उत्पन्न करने वाला (दर्शन मोह) मोह रुप अन्धकार नष्ट हो गया जिससे मैंने आत्म तत्त्व को देखकर, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया।

[गा० ३] आपके दर्शन से मेरा अन्त: करण ऐसे उत्कृष्ट आनन्द से परिपूर्ण हो गया, जो मुझे संसार के दुखों से मुक्ति मिलकर, मेरा मोक्ष हो गया।

[गा० ४] हे भगवन ! आपके दर्शन से मैं अपने महा पापों को नष्ट हुवा ही मानता हूं जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार ठहर ही नहीं सकता !

[गा० ७] हे भगवन, आपका दर्शन होने पर मुझे ऐसा उत्कृष्ट संतोष प्राप्त हुवा। जिससे मुझे इन्द्र का वैभव भी लेश मात्र तृष्णा पैदा नहीं करता।

[गा० ६] हे भगवन, आपके दर्शन होने पर, यदि कभी मेरा हृदय किसी दूसरे विकल्प से व्याकुल होता भी है वह औदायिक कर्म के दोष से ही होता है।

[गा० १८] हे भगवन-आपके दर्शन से जो कुछ अनुभव में आता है, वह निश्चय से वचन का विषय नहीं है, केवल स्वानुभव का विषय है, बताया नहीं जा सकता।

[गा० २२] हे भगवन–आपका दर्शन होने पर, मेरे मन में, चिन्ता मणि, कामधेनु, और कल्प वृक्ष भी फीके पड़ गये, उनकी महत्ता जाती रही, जैसे प्रभात में सूर्य का दर्शन होते ही, जुगनु व दीपकादि आदि कान्ति हीन हो जाते हैं।

[गा० २६] हे भगवन ! आपके दर्शन से भव्य जीव सहसा ही भय और अज्ञान रुपी निद्रा से इस प्रकार रहित हो जाता है जैसे चांदनी का विस्तार होने पर कुमुद निद्रा से रहित (प्रफुल्लित) हो जाता है।

[गा० २७] हे भगवन ! आपके दर्शन से, मेरा हृदय सहसा सुख पूर्वक हर्ष को प्राप्त हो गया, शोक पलायमान हो गया जैसे पूर्णिमा के चन्द्र के उदय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होते ही (दर्शन होते ही) समुद्र आनन्द (वृद्धि) को प्राप्त होता है।

१५–श्रुत देवता स्तुतिः

[गा० २] हे सरस्वती (जिन वाणी)–सूर्य का तेज तो दिन में ही संतप्त करता है और चन्द्र की चांदनी रात में ही जड़ता (शीतलता) को प्राप्त कराती है पर तेरा तेज रात-दिन को अपेक्षा न करके प्रति समय वस्तु स्वरुप प्रकाशित करता है।

[गा० ४] हे जिन वाणी मां ! तेरी स्तुति करने में तो श्रुत केवली भी अपने को असमर्थ पाते हैं, तव मैं अल्पज्ञ, आपकी स्तुति में असमर्थ, केवल दो शब्द 'जय' कहता हूँ।

[गा० ५] हे जिनवाणी ! दीपक से तो नेत्रवान ही को पदार्थ का दर्शन होता है पर आपके प्रगट होते ही अन्धे (मिथ्या दृष्टि) भी सम्यग्दृष्टि होकर केवल ज्ञान प्राप्त कर तीन लोक की समस्त पदार्थ पर्याय को जान लेता है।

[गा० २२] हे माता ! तेरे प्रभाव से निज-पर का ज्ञान हो जाने से, मोक्ष तक की सिद्धि हो जाती है, फिर राजापना, सुभगता व संसार वैभव क्या चीज है ?

[गा० २३] हे सरस्वती ! तेरा ज्ञान (श्रुतज्ञान) तो केवल ज्ञान के समान ही है।

[गा० २७] हे जिनवाणी मां ! तेरे दर्शन के प्रभाव से, वह विवेक वुद्धि प्रगट होती है, जिससे कर्म रुपी पर्वत चकनाचूर हो जाता है।

१६–स्वंभू-स्तुतिः (२४ तीर्थंकर स्तूति)

[गा० १] स्वयंम्भू अर्थात स्वयं ही वोध को प्राप्त हुवे, आदि ऋषभ देव, जो मनुष्य अज्ञान से संसार रुपी कुंवे में गिरे दुख भोग रहे थे, उन्हें अपने पर-तत्त्व और आत्म तत्त्व रुपी उपदेश से (रस्सी से) उनका उद्धार करके मुक्ति को प्राप्त कराया।

[गा० २] इस जगत के प्राणियों का संसार भ्रमण ही सबसे बड़ा शत्रु है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और रत्न त्रय सबसे वड़ा मित्र। हे भगवन, आपने वह उपदेश दिया।

[गा० २४] तीन लोक के प्राणियों में प्रभुता को प्राप्त होकर भी जो अपने शरीर विषय में भी ममत्व नहीं करते, वे वर्द्धमान भगवान, मुझे मोक्ष दें।

१७--सुप्रभाताष्टकम् (केवल ज्ञान स्तुति)

[गा० १] जिस प्रकार प्रभात होने पर रात्रि का अन्त होकर, लोगों की निद्रा दूर होने से उनके नेत्र युगल खुल जाते हैं, जिससे वे अपने चारों और की वस्तुओं को देखने लगते है, वैसे ही सब धातियां कर्मों का नष्ट होकर केवल ज्ञान और केवल दर्शन रुपी सुप्रभात होने पर, केवली, तीन लोक-अलोक के सब पदार्थ पर्याय सहित देखने लगते हैं।

[गा० ५] प्रभात हो जाने पर रात्रि में संचार करने वाले चोर आदि भाग जाते हैं, रात्रि का स्वामी चन्द्रमा फीका पड जाता है, रात्रि जनित अंधकार के नष्ट हो जाने से दिशायें निर्मल हो जाती हैं. ऐसे ही जब भगवान को केवल की उपलब्धि होती है, सब कर्म व पाप नष्ट हो जाते हैं दोषों का स्वामी मोह कान्ति हीन हो भाग जाता है, सब और आनन्द छा जाता है।

१८--शांतिनाथ स्तोत्रम्

[गा० ७] जिस प्रकार सरस्वती नदी अपार जल प्रवाह से संयुक्त है, वैसे ही भगवान की वाणी विस्तीर्ण समस्त पदार्थों के स्वरुप के कथन रुप प्रवाह से युक्त है। जैसे स्नानादि के अभिलाषी जन उसमें डुवकी लगाते हैं, वैसे ही तत्त्व के जिज्ञासु मुमुक्ष, जिनवाणी में डुबकी लगाते हैं अर्थात उसका स्वाध्याय करते हैं, जैसे नदी स्वभाव से ही गर्मी से पीडित प्राणियों को शीतल करती है, वैसे ही जिनवाणी प्राणियों का संसार संताप को नष्ट कर उन्हें शीतल करती है। जैसे नदी ऊंचे पर्वत से निकलती है वैसे ही जिनवाणी उन्नति को प्राप्त जिनदेव से निकली है। यदि नदी प्राणियों के वाह्य मल को दूर कर शरीर को पवित्र करती है, वैसे ही जिनवाणी प्राणियों के आभ्यतर मल राग-द्वेष-मोह व अज्ञान को दूर करती है। अतः मैंने ऐसे शान्तिनाथ भगवान की भक्तिवश स्तुति की।

१९--श्री जिन पूजाष्टकम्

[गा० १] जन्म, जरा और मरण, ये जीव के आश्रय से रहने वाली तीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अग्नियां हैं, जो संताप को करने वाली है, उसे शांत करने को उत्तम जल की तीन धारा क्षेपण करती है।

[गा० ८] मैं उत्कृष्ट अमृत-मोक्ष फल को प्राप्त करने के लिये, फलों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता हूँ। यद्यपि जिनेन्द्र भक्ति समस्त फलों को देती है तो भी मनुष्य अज्ञानता से लौकिक फल की याचना करता है।

[गा० १०] हे भगवन, आपको हमारी पूजा से कुछ भी प्रयोजन नहीं। फिर भी हम अपने कल्याण के लिये आपकी पूजा करते हैं। आप तो वीत-राग हैं. आप तो पूजा से क्या प्रसन्न होंगे, पर पूजा से जो हमारे भावों में निर्मलता आती है, उसी के लाभ से आपकी पूजा करते हैं।

२०--श्री करूणाष्टकम्

[गा० २] हे संसार के नाशक, अरहंत ! मैं, इस दुख वाले संसारवास से विरक्त हुवा हूं, आप मुझ दीन पर कृपा करें। जिससे मुझे पुनः २ जन्म न हो, मुक्त हो जाऊं।

[गा० ६] हे भगवन, आप मेरे इस जन्म-मरण को नष्ट कर दीजिये वस यही एक वात मुझे कहनी है। मुझे और कुछ नहीं चाहिये।

[गा० ७] हे भगवन ! मैं संसार रुप आतम से संताप को प्राप्त हुवा हूं। मैं जब तब आपके, दया रुप अमृत से शीतल हुवे चरणों को अपने हृदय में धारण करता हूं, तभी तक सुखी रह सकता हूँ।

२१--क्रिया कांड चूलिका

[गा० १] हे भगवान, आप में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, समता, शील और क्षमादि सव गुणों ने आपको घेर लिया है और आपमें स्थित हो गये हैं, यही देखकर अभिमान को प्राप्त सब दोषों ने आपको छोडकर इस संसार में वासा कर लिया है क्योंकि आपके पास तो उनको स्थान नहीं।

[गा० ५] हे देव, मैं इस जन्म में भी तथा दूसरे जन्म में भी निरन्तर आपके चरण युगल की सेवा करता रहूं, इतने मात्र से मेरा प्रयोजन पूरा हो जायेगा।

[गा० ६] मुक्ति का कारण भूत जो तत्त्वज्ञान है, वह तो समस्त आगम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जान लेने पर होता है, वह मुझ जड बुद्धि को दुर्लभ ही है। इसी प्रकार जो मोक्ष का कारण चारित्र है, वह भीशरीर की दुर्बलता से इस काल में मुमकिन नहीं, इसलिये आपमें जो मेरी भक्ति है वही सहारा है।

[गा० ७] हे भगवन ! बुढ़ापा मेरी कान्ति का नाश करे तो करे, इन्द्रियां शिथिलता को प्राप्त होती हों तो हो, दुख आता हो तो आवे, विनाश भी होता है तो हो मुझे कुछ चिन्ता नहीं, पर मेरी भक्ति आपमें बनी रहे।

[गा० ८] मैं तो आपसे यही मांगता हूं कि मेरी दुष्ट वृत्ति नष्ट होकर (राग-द्वेष-मोह), रत्नत्रय की प्राप्ती हो जावे, यही दुर्लभ है कभी नहीं मिली।

[गा० १४] हे भगवन ! आपकी स्तुति-भक्ति में जो मन-वच-काय की विकलता के कारण, जो कुछ कमी हुई है. उसे क्षमा करो। क्योंकि इसका कारण अनेक भवों में उपार्जित एवं अज्ञानता को उत्पन्न करने वाले, कर्मों के उदय के रहते, मुझमें निपुणता कैसे आ सकती है ?

[गा० १७] हे भगवन, मैं इस संसार से डरकर आपकी शरण आया हूं विद्वानों ने संसार को नष्ट करने को यही रास्ता वताया है, तो मैं ओर क्या करूं ?

[गा० १०] हे भगवन, प्रमाद से, अथवा अभिमान से जो मैंने, यहां मन वचन-काय के द्वारा प्राणियों का पीडन स्वयं किया हो, दूसरों से कराया हो अथवा प्राण पीडन करते हुवे जीवों को देखकर हर्ष प्रकट किया हो, तो उसके आश्रय से होने वाला मेरा पाप मिथ्या हो।

२२--एकत्व भावनादशकम्

[गा० १] वह परम ज्योति केवल स्वानुभव से ही गम्य हैं, मन और वचन का विषय नहीं है। आत्म ज्ञानी ही उसमें रमण करते हैं।

[गा० २-३] उस चैतन्य रुप एकत्व का ज्ञान दुर्लभ है। वही मोक्ष देने वाला है। जैसे अच्छी नाव को पाकर साहसी पुरुष समुद्र और उसकी तरंगों से नहीं डरता वैसे ही आत्म ज्ञानी एकत्व का जानकार कर्मों से नहीं डरता।

२३--परमार्थ विंशतिः

[गा० १] सभी जीवों ने अनन्त काल से संसार भ्रमण करते हुवे राग-द्वेष-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोह के निमित्त से होने वाले विकारों को तो अनन्त बार देखा है, भोगा और सुना है, परन्तु अद्वैत भगवान आत्मा को न कभी देखा है, न सुना है, न सेवन किया है।

[गा० ४] मुझे किसी भी मित्र, अथवा शत्रु से प्रयोजन नहीं, अपने शरीर से भी प्रेम नहीं, मैं अकेला ही सुखी हूं। संयोग के निमित्त से तो मुझे अनादि काल से संसार भ्रमण में दुख ही मिला है। अब विरक्त को प्राप्त हुवा हूँ।

[गा० ५] सैकड़ों शास्त्रों को पढ़ सुन कर, अब मेरे मन में एक यही अद्वैत तत्त्व है।

[गा० ७] जैसे स्फटिक मणि काले पदार्थ के सम्बन्ध से कालापन प्रतीत होने पर भी वह तो निर्मल है, और उस कालेपन से भिन्न है, ऐसे ही आत्मा में कर्मों के कारण विकार दिखाई पडता हैं, स्वभाव से वह शुद्ध ही है।

[गा० ८] साधु को किसी भी वस्तु का संयोग आपत्ति जनक ही लगता है। भला उसे श्रीमानो से, धनवानों से. राजाओं से क्या प्रयोजन, वे तो उसे मृत्यु के समान कष्ट देते हैं।

[गा० ११] कर्मो के उदय से सुख-दुख, साधु को कुछ प्रभावित नहीं करता।

[गा० १२] पूज्य–पूजक भाव बुद्धि भी राग की परिणति है, कर्म बन्ध का कारण है, हेय है। उपादेय तो एक सच्चिदानन्द मय आत्मा ही है। जब तक ऐसी दृढ़ता नहीं आती, व्यवहार का आवलम्बन लेना ही चाहिये।

[गा० १८] मोह के उदय से, मोक्ष के विषय में भी जो अभिलाषा है, वह भी मुक्ति को सिद्ध नहीं होने देती, फिर और संसारी अभिलाषाओं की तो वात ही क्या ! साधु को अभिलाषा रहित होते हुवे, तत्त्वज्ञान में ही तत्पर रहना चाहिये।

[गा० १९] जब तक मुमुक्ष का आत्म स्वरुप की ओर लक्ष्य नहीं होता, तभी तक उसे संसारी विषयों में रस आता है, फिर तो वह नीरस लगने लगता है। वह तो एकान्त में मौन पूर्वक आत्मानन्द में मग्न रहता है।

[गा० २०] शुद्ध निश्चय से शुद्ध आत्मा का स्वरुप बचन से कहा ही नहीं जा सकता। गुरु व्यवहार का आश्रय लेकर, परिज्ञान कराने की चेष्ठा भर करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४--शरीराष्टकम्

[गा० १-२] यह शरीर, विद्वानों के लिये नस के फोड़े (घाव) के समान है, जिस पर वस्त्र पट्टियों के समान है, और आहार औषधि के समान है। फिर भी वड़ा आश्चर्य है कि अज्ञानी जन, उसे स्थिर पवित्रमान, उसके लिये दुख सहते हैं।

[गा० ४] यह शरीर कडवी तुम्बी के समान है। जिसका कोई और उपयोग नहीं सिवाय नदी तैरने के। इसी प्रकार शरीर का उपयोग संसार सागर को पार करने में ही ज्ञानी जन करते हैं और संयम-तप पालते हैं।

[गा० ६] नरकादि दुर्गति का कारण यह शरीर ही है। इसी के लिये यह जीव सब पाप करता है। इसके साथ आत्मा को भी दुख सहने पडते हैं।

[गा० ८] सब प्राणी इस शरीर के रक्षण और पोषण में निरन्तर ही प्रयत्नशील रहते हैं पर उधर काल के द्वारा निर्दिष्ट वुढापा उसे प्रतिदिन निर्बल करता है। इन दोनों की, प्राणी व काल की स्पर्धा में काल ही विजयी होता है। यह मूर्ख प्राणी हार जाता है।

२५--स्नानाष्टकम्

[गा० १] जिस शरीर के संयोग सुगन्धित व सुन्दर वस्तुये भी अपवित्रता व कुरुपता को प्राप्त होती है, जो मल-मूत्र आदि से भरा है, भयानक है, दुर्गन्ध से युक्त है, निर्मल आत्मा को भी मलिन करता है, ऐसे समस्त अपवित्रताओं से भरा यह शरीर जल के स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है।

[गा० २] आत्मा से स्वभाव से ही अत्यन्त पवित्र है, उसके लिये जल स्नान व्यर्थ है। शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है, उसके लिये भी जल स्नान व्यर्थ है। फिर भी इसके लिये जो मूर्ख प्राणी स्नान करते हैं, वे करोड़ों पृथ्वी कायिक व जल कायिक आदि की हिंसा कर, पाप ही कमाते हैं।

[गा० ६] संसार में ऐसा कोई तीर्थ नहीं, ऐसा कोई जल नहीं, अथवा अन्य कोई वस्तु नहीं, जिसके द्वारा पूर्ण रुप से अपवित्र यह शरीर शुद्ध हो सके।

२६--ब्रह्मचर्याष्टकम्

[गा० २] जो मनुष्य निरन्तर विषयासक्त रहते है, वे पशुओं से भी गये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बीते हैं क्योंकि पशुओं का तो इसके समय नियत है पर मनुष्य का नहीं। अतः ऐसे मनुष्य मरने पर तिर्यंच गति पाते हैं।

[गा० ८] हे मन, तू इस लोक और परलोक दोनों भवों को विगाड़ने वाले इस विषय भोग को छोडने का प्रयत्न कर अन्यथा तेरा अहित अनिवार्य है।

[गा० ९] यह स्त्री सेवन, जब अपनी स्त्री से महापाप का व महा हिंसा का कारण है, तब परस्त्री, सेवन का तो कहना ही क्या ? उसकी इच्छा बुद्धिमान पुरुष तो कभी करते ही नहीं।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१६. बृहद्द्रव्य संग्रह

१--प्रथमोधिकार (छः द्रव्य-पंचास्तिकाय) प्रतिपादक

[गा० १] मैं, श्री नेमिचन्द्र, देवेन्द्रो से बंदित तीर्थंकर परमदेव को, जिन्होंने जीव और अजीव द्रव्य का कथन किया है नमस्कार करता हूँ।

परम शुद्ध निश्चय नय से बन्ध वन्दक भाव नहीं है। एक देश शुद्ध निश्चय नय औरअसद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षा से ही श्री जिनेन्द्र की वन्दना भाव वंदना व बचनवंदना की जाती है। परमशुद्ध निश्चय नय से तो श्री जिनेन्द्र और मैं इन दोनों की आत्मा समान है। नमस्कार करने वाला कौन किसकी वंदना ? मोक्ष पद चाहने वाले ४० भवनवासी इन्द्र, ३२ व्यन्तर देव इन्द्र २४ कल्पवासी इन्द्र, २ ज्योतिष्क देव इन्द्र, १ मनुष्य इन्द्र चक्रवर्ती, १ तिर्यंच इन्द्र (सिंह), इस प्रकार १०० इन्द्रों से जो बंदित है, मैं उन जिनेन्द्र देव को नमस्कार करता हूँ। शुभ कार्य में चार लाभों के कारणों से स्तुति की गई है (१) नास्तिकता का त्याग (२) उत्तम पुरुषों के आचरण का पालन (३) पुण्य की प्राप्ति (४) विघ्न की रहितता।

[गा० २] जो उपयोग मय है, अमूर्त्त है कर्त्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है, और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

यह जीव शुद्ध निश्चय नय से तो उसका जो चैतन्य (ज्ञान) रुप निश्चय प्राण है, उससे जीता है। अशुद्ध निश्चय नय से द्रव्य प्राण और भाव प्राणों से जीता है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से उसके दर्शन-ज्ञान रुप, दो उपयोग ही हैं पर अशुद्ध नय से क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन से जीता है। निश्चय नय से अकर्त्ता है, तथा व्यवहार नय से मन-वचन-काय के शुभ-अशुभ व्यापार को करने वाला है। निश्चय नय से असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के बराबर है, पर व्यवहार से निज देह के बराबर, संकोच विस्तार के अधीन है। शुद्ध नय से अपनी आत्मा से उत्पन्न जो सुख रुपी अमृत है उसी का भोक्ता है, पर अशुद्ध नय से शुभ-अशुभ कर्मों से उत्पन्न सुख-दुख को भोगने वाला है। शुद्ध नय से संसार रहित है पर अशुद्ध नय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव इन भेदों से पांच प्रकार संसार में रहता है। परम शुद्ध निश्चय नय से सिद्ध समान है पर अशुद्ध निश्चय नय से असिद्ध है। निश्चय से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, पर व्यवहार से चारों गतियों में भ्रमण के कारण तीन मोड

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिरछागमन करने वाला है। शुद्ध नय से जो जीव का स्वरुप है वह ग्रहण करने योग्य है, बाकी सब हेय है।

[गा० ३] व्यवहार नय से, तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वाच्छोश्वास, इन चार प्राणों को जो धारण करता है, और निश्चय नय से जिसके चेतना ही एक प्राण है. वही जीव है।

इस प्रकार चार द्रव्य प्राण व चार भाव प्राणों से जो जीता है, जीवेगा या पहले जिया है. वह व्यवहार से जीव है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण हैं और अशुद्ध निश्चय नय से क्षयोपशमिक भाव रुप, भाव प्राण है और निश्चय नय से सत्ता, चैतन्य बोध आदि शुद्ध भाव प्राण है।

[गा० ४-५] दर्शन और ज्ञान रुप उपयोग दो प्रकार है। दर्शन, चक्षु, अचक्षु, अवधि, और केवल भेद से चार प्रकार हैं। ज्ञानोपयोग मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यय: केवल कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ८ प्रकार है। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि छद्मस्थों के तो वीर्यान्तराय का क्षयोपशम सर्वत्र, ज्ञान-चारित्र आदि की उत्पत्ति में सहकारी कारण है और केवलियों के वीर्यान्तराय का जो सर्वथा क्षय है, वह ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति में सहकारी कारण है। प्रवृत्ति और निवृत्ति रुप जो व्यवहार है, वह संव्यवहार कहाता है। संव्यवहार में जो हो सो संव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। इन आठ ज्ञानों में कुमति, कुश्रुत. मति व श्रुत, तो परोक्ष हैं और बाकी चार प्रत्यक्षज्ञा है। कुअवधि, अवधि व मन पर्यय:, एक देश प्रत्यक्ष है और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

[गा० ६] आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक है, वह जीव है। यह व्यवहार नय से सामान्य जीव का लक्षण है और शुद्ध नय से जो शुद्ध ज्ञान दर्शन है, वह जीव का लक्षण कहा गया है।

[गा० ७] निश्चय से जीव में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं हैं, इसलिये जीव अमूर्त्त है और कर्म बंध से व्यवहार से मूर्त्त है।

जिस अमूर्त्त आत्मा की प्राप्ति के अभाव से इस जीव ने अनादि संसार में भ्रमण किया है, उसी अमूर्त्त शुद्ध स्वरुप आत्मा को, मूर्त्त पांचों इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर ध्याना चाहिये।

[गा० ८] निश्चय से यह आत्मा चेतन कर्म का कर्त्ता है, शुद्ध नय से शुद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावों का कर्त्ता है, व्यवहार नय से भाव कर्म व पुदगल कर्मो का कर्त्ता है। यहां विशेष इतना है कि शुद्ध, अशुद्ध भावों को जो परिणमन है, उन्हीं का कर्तृत्व जीव में जानना चाहिये और हाथ आदि के व्यापर रुप परिणमनों का न समझना चाहिये।

[गा० ६] आत्मा, निश्चय नय से चेतन स्वभाव को भोगता है और व्यवहार नय से सुख-दुख रुप पुदगल कर्मों को भोगता है।

निज शुद्ध आत्मा के ज्ञान से उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख रुप अमृत रस है, उसको नहीं प्राप्त होता हुवा जो आत्मा है वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट-अनिष्ट पांचों इन्द्रियों के विषय से उत्पन्न सुख-दुख को भोगता है, अनुपचरित असदभूत व्यवहार नयसे अंतरंग में सुख-दुख को उत्पन्न करने वाला जो द्रव्य कर्म (साता-असाता रुप) का उदय है उसको भोगता है और अशुद्ध निश्चय नय से हर्ष तथा विषाद रुप सुख-दुख को भोगता है और शुद्ध निश्चय नय से परमात्म स्वभाव का जो सम्यग्श्रद्धान, ज्ञान-आचरण, उससे उत्पन्न अविनाशी आनन्द रुप जो सुखामृत है, उसे भोगता है। स्वाभाव से उत्पन्न, इन्द्रियों के अगोचर सुख ही ग्रहण योग्य है।

[गा० १०] व्यवहार नय से समुद्घात अवस्था के बिना, यह जीव संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से यह जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

शरीर नाम कर्म से उत्पन्न जो विस्तार तथा संकोच रुप जीव के धर्म हैं, उनसे यह जीव देह प्रमाण है जैसे दीपक, छोटे बड़े पात्र में रख देने से वैसे ही क्षेत्र को प्रकाशित करता है। ऐसा केवल असमुद्घात अवस्था ही में होता है। अपने मूल शरीर को न छोडकर जो आत्मा के प्रदेश देह से निकल कर, उत्तर देह के प्रति गमन करते है, उसे समुद्घात कहते हैं। वह समुद्घात, वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहार और केवली ये सात रुप हैं।

[गा० १२] एकेन्द्रिय जीव, वादर व सूक्ष्म दो प्रकार हैं। दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौइन्द्रिय ये चार जीव असंज्ञी हैं। पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी व असंज्ञी, दो प्रकार हैं। ये सातों प्रकार के जीव, पर्याप्त, अपर्याप्त भेद से १४ प्रकार के होते हैं, इन प्रकारों को जोव समास कहते हैं।

आठ पाखंडी के कमल के आकार जो द्रव्य मन और उस द्रव्य मन के आधार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से, शिक्षा, वचन और उपदेश को ग्रहण करने वाला भाव मन में होता है। आहार शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा तथा मन, ये छः पर्याप्ति हैं। एकेन्द्रिय को पहली चार, पंचेन्द्रिय संज्ञी के पूरी छः व शेष जीवों के मन को छोड, पांच पर्याप्ति होती है। पर्याप्त अवस्था में संज्ञी पंचेन्द्रिय के १० प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के ६ प्राण, चौइन्द्रिय के ८ प्राण, ते इन्द्रिय के ७ प्राण, दोइन्द्रिय के ६ प्राण, और एकेन्द्रिय के ४ प्राण होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रिय में श्वासोच्छवास, वचन व मन के विना ७ प्राण होते हैं। चौइन्द्रिय, से एकेन्द्रिय पर्यंत जीवों के एक एक प्राण कम होता है।

[गा० १३] शुद्ध नय से सब संसारी जीव शुद्ध ही है, पर अशुद्ध नय से चौदह मार्गणा स्थानों व चौदह गुण स्थानों सहित होते हैं।

इस प्रकार जीव समासों से १४ भेद, मार्गणा स्थानों से १४ भेद और गुण स्थानों से भी १४ भेद, संसारी जीवों के होते हैं। वैनयिक व संशय मिथ्या-दृष्टि और मिश्र गुण स्थान वर्ती जीवों में यह अन्तर है कि मिथ्यादृष्टि तो सम्पूर्ण देवों में तथा सब शास्त्रों में किसी एक की भक्ति व सेवा, निश्चय न करके, करता है जब कि मिश्र गुण स्थान वर्ती जीव के दोनों में निश्चय है, पर प्रत्याख्यान के कषाय के उदय से ऐसा करता है।

गति, इन्द्रिय. काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यात्व, सम्यक्त्व, संज्ञा तथा आहार भेद से मार्गणा १४ प्रकार हैं। मिथ्यात्व, सासादन मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्म सोंपराय, उपशांत मोह, क्षीण मोह, संयोग केवल, और अयोग केवली, गुण स्थान १४ भेद हैं।

[गा० १४] जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से रहित है, तथा सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरु लघु और अव्याबाध, इन आठ गुणों सहित है अन्तिम शरीर से कुछ कम है, वे सिद्ध हैं, नित्य है तथा, उत्पाद, व्यय, इन दोनों गुणों से युक्त हैं।

[गा० १५] पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन पांचों को अजीव द्रव्य जानों। पुदगल मूर्तिमान है, शेष चारों अमूर्तिक है।

जीव का लक्षण उपयोग रुप ज्ञान-दर्शन जिसमें नही है वह अजीव है।

[गा० १६] शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और आतम, इनके साथ जो हैं, वह पुदगल द्रव्य की पर्याय है।

[गा० २५] जीव, धर्म, तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त प्रदेश हैं। पुदगल में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और काल का एक ही प्रदेश है, इसलिये वह काय नहीं है।

[गा० २७] जितना आकाश अविभागी पुदगल-अणु से रोका जाता है उसको सब परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जाने। इसीलिये असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीव व पुदगल अवकाश पाते हैं।

२--द्वियीत्यो अधिकार (सात तत्त्व-नो पदार्थ वर्णन)

[गा० २८] अब जो आस्रव, बंध, संवर निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ऐसे सात जीव-अजीव के भेद रुप पदार्थ हैं उनको कहते हैं।

[गा० २९] आत्मा के जिस परिणाम से, कर्म का आस्रव होता है, वह भावास्रव है और उससे भिन्न ज्ञानावरणादि रुप कर्म आस्रव, द्रव्य आस्रव है।

[गा० ३०] भावास्रव के मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, योग और कषाय ऐसे पांच भेद हैं। इनमें मिथ्यात्व के ५, अविरत के ५, प्रमाद के १५, योग के १५, और कषाय के २५ भेद हैं।

[गा० ३२] जिस चेतन भाव से कर्म बंधता है, वह तो भाव बंध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर एकाकार रुप होना द्रव्य बंध है।

[गा० ३३] यह बंध, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, भेद से चार प्रकार है। योग से प्रकृति व प्रदेश बंध होता है और कषायों से स्थिति व अनुभाग बंध होता है।

[गा० ३५] पांच व्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाइस परिषहों का जय, तथा अनेक प्रकार का चारित्र, ये भाव संवर के भेद हैं।

निश्चय से विशुद्ध ज्ञान और दर्शन रुप स्वभाव का धारक जो निज आतम तत्त्व, उसकी भावना से उत्पन्न जो सुख रुपी अमृत, उसके आस्वाद के बल से सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभ रागादि विकल्पों से जो रहित होना, वह व्रत है। व्यवहार से उस निश्चय व्रत को साधने वाला, हिंसा, झूठ, चोरी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब्रह्म और परिग्रह से आजीवन पर्यन्त रहितता रुप लक्षण, पांच व्रत हैं। निश्चय से अनन्त ज्ञान आदि का धारक, जो निज आत्मा है उसमें समस्त राग आदि विभावों के द्वारा, आत्मा में लीन होना, आत्मा का ध्यान करना आत्म रुप होना आदि रुप से जो परिणमन, सो समिति हैं। व्यवहार से उस निश्चय समिति के वहिरंग सहकारी कारण भूत और आचार आदि चारित्र पांच समिति हैं।

निश्चय से सहज शुद्ध आत्मा की भावना रुप लक्षण के धारक गुप्त स्थान में संसार के कारण भूत, जो रागादि हैं, उनके भय से अपने आत्मा का गोपन व रक्षण करना सो गुप्ति है, व्यवहार से वहिरंग साधन के अर्थ, जो मन, वचन, काय के व्यापार को रोकना सो गुप्ति है।

निश्चय से संसार में गिरते हुवे आत्मा को जो धारण करे सो विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शन, लक्षण, निज शुद्ध आत्मा की भावना स्वरुप धर्म है। व्यवहार से उसके साधन के लिये इन्द्र, चक्रवर्त्ति आदि का जो बढने योग्य पद है, उसमें धारण करने वाला उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार का धर्म है।
अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, वोधि दुर्लभ, और धर्म, इनका जो विचार, वार-२ चिन्तन सो अनुप्रेक्षा है।

क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या (गमन), निषिधा (बस्ती), शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ रोग, तृण स्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन, ये वाइसपरिषहजीतना, परिषह जय हैं।

शुद्ध उपयोग स्वरुप, जो निश्चय रत्नत्रय, उसमें परिणत जो आत्म रुप, उसमें जो चरण अर्थात स्थित होना सो चारित्र है। वह तारतम्य भेद से पांच प्रकार है। सामायिक, छदोपस्थापन, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, और यथाख्यात।

निश्चय रत्नत्रय को साधने वाला, जो व्ववहार रत्नत्रय रुप शुभोपयोग है, उसका निरुपण करने वाले जो वाक्य हैं, वे तो पापास्रव के संवर में कारण जानने चाहिये और जो व्यवहार रत्नत्रय से सिद्ध होने योग्य शुद्धोपयोग लक्षण निश्चय नय के प्रतिपादक वाक्य हैं, वे, पुण्य तथा पाप, इन दोनों आस्रवों के संवर के कारण हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ३६] जिस आत्मा के परिणाम रुप भाव से कर्म रुपी पुदगल, फल देकर नष्ट होते हैं, वह भाव निर्जरा होती हैं और सविपाक निर्जरा की अपेक्षा से यथा काल से, तथा अविपाक निर्जरा की अपेक्षा से तप से जो कर्म रुप पुदगल का नष्ट होना, सो द्रव्य निर्जरा है।

यहां सविपाक निर्जरा को नहीं लेना चाहिये, वह तो मिथ्या दृष्टियों के भी और नरक में ले जाने वाली भी होती है यहाँ तो अविपाक निर्जरा से सम्वन्ध है, जो तप द्वारा संवर पूर्वक होती है, उसी का वर्णन है।

[गा० ३७] सब कर्मों के नाश का कारण, जो आत्मा का परिणाम है, उसको भाव मोक्ष और कर्मों की जो आत्मा से सर्वथा भिन्नता है, वह द्रव्य मोक्ष है ।

[गा० ३८] शुभ तथा अशुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्य और पाप रुप होते हैं। साता वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम, तथा उच्च गोत्र नामक कर्मों की जो प्रवृतियां हैं॥ वे पुण्य रुप है और शेष पाप रुप हैं।

३--तृतीयोधिकार-(मोक्ष मार्ग वर्णन)

[गा० ३९] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इन तीन के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो। निश्चय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरुप जो आत्मा है, उसको मोक्ष का कारण जानो।

व्यवहार से, छः द्रव्य, पांच अस्ति काय, सात तत्त्व, नो पदार्थ है, इनका भले प्रकार श्रद्धानकरना, जानना और व्रतआदि का आचरणकरना इत्यादि जो विकल्प रुप है, सो व्यवहार मोक्ष मार्ग है और जो निरंजन, शुद्ध आत्म तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण में एकाग्र परिणति रुप है,. वह निश्चय मोक्ष मार्ग है।

[गा० ४०] आत्मा को छोडकर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रय मयी जो आत्मा है, वही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

[गा० ४१] जीव आदि नौ पदार्थों का जो श्रद्धान है, वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरुप है। इस सम्यक्त्व के होने पर, संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय, इन तीनों दुरभि निवेशों से रहित होकर, सम्यग्ज्ञान कहलाता है। . . . .

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्व के पहले संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय, दोषों से दूषित होने के कारण ज्ञान, सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है और सम्यक्त्व के होते ही उक्त दोष ज्ञान में सें चले जाते हैं, इस कारण वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन का ही महात्म्य है। वह सम्यक्त्व २५ दोषों से रहित होता है। आठ भेदों से रहित होता है। आठ अंग सहित होता है। सात भयों से रहित होता है। इस पूर्वोक्त प्रकार से तीन मूढता, आठ मद, छः अनायतन और शंकादि आठ दोष रुप पच्चीस मल से रहित, और आठ अंग सहित सराग सम्यक्त्व अथवा व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है।

उसी व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा परम्परा से साधने योग्य, शुद्ध उपयोग रुप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न जो परम आह्लाद रुप सुखामृत रस का आस्वादन है, वही उपादेय है और इन्द्रिय जन्य सुख आदि हेय है, ऐसी रुचिरुप निश्चय सम्यक्त्व अथवा वीतराग सम्यक्त्व है।

[गा० ४३-४४] यह शुक्ल है, यह कृष्ण है इत्यादि रुप से, पदार्थों को भिन्न २ न करके और विकल्प को न करके, जो पदार्थों का सामान्य से अर्थात सत्ता व लोकन रुप से ग्रहण करना है, उसको दर्शन कहते हैं।

जब कोई भी किसी पदार्थ को देखता है, तब जब तक वह देखने वाला विकल्प न करे, तब तक तो जो सत्ता मात्र का ग्रहण है, उसको दर्शन कहते हैं और जब फिर यह शुक्ल है, कृष्ण है, इत्यादि रुप विकल्प उत्पन्न होते हैं तब उसको ज्ञान कहते हैं। छद्मस्थ जोवों के पहले दर्शन और वाद में ज्ञान होता है पर केवली के दोनों एक साथ ही होते हैं।

[गा० ४५] अशुभ कार्य से दूर होना और शुभ कार्य में प्रवृत्त होना, सो व्यवहार चारित्र है। वह ५ व्रत, ५ समिति, और ३ गुप्ति रुप हैं।

[गा० ४६] ज्ञानी जीव के (सम्यग्दृष्टि) संसार के कारणों को नष्ट करने के लिये जो वाह्य और अंतरंग क्रियाओं का निरोध है वह उत्कृष्ट सम्यग्-चारित्र है।

क्रिया रहित-नित्य-निरंजन और निर्मल ज्ञान तथा दर्शन रुप स्वभाव का धारक जो अपना आत्मा है, उससे प्रति पक्ष भूत (प्रतिकूल) वाह्य विषय में शुभ-अशुभ, मन-वचन-काय के व्यापार रुप, और इसी प्रकार अंतरंग में शुभ-अशुभ-मन के विकल्प रुप जो क्रिया का व्यापार है, उसका जो निरोध, वह उत्कृष्ट सम्यग्चारित्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ४७] जिस ध्यान के करने से मुनि, निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग को पाता है, हे भव्य ! तुम उस ध्यान का एकाग्रचित्त होकर अभ्यास करो।

[गा० ४८] ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त का स्थिर होना आवश्यक है, उसके लिये इष्ट तथा अनिष्ट रुप जो इन्द्रिय के विषय है, उनमें राग-द्वेष और मोह को मत करो।

वह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल चार रुप है। धर्म ध्यान के आज्ञाविचय. अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थान विचय चार भेद हैं। शुक्ल ध्यान के पृथकत्व वितर्क वीचार. एकत्व वितर्क वीचार, सूक्ष्म क्रिया प्रति पाति और व्युपरत क्रिय निवृत्ति, ये चार भेद हैं।

द्रव्य, गुण, पर्याय इनका जो जुदा जुदापना है. वह पृथक्त्व' है। निज शुद्ध आत्मा का अनुभव रुप भाव श्रुत, वह 'वितर्क' है। विना इच्छा किये अपने आप ही, जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक वचन से दूसरे बचन में और मन–बचन-काय, तीनों योगों में एक से दूसरे में परिणमन करता है वह 'वीचार' है।

[गा० ४९] णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्जायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं'=३५ अक्षर का सर्व पद कहलाता है। 'अरिहंत सिद्ध आचार्य उवज्झाय साहू'=१६ अक्षर का पद है। 'अरिहंत सिद्ध'=६ अक्षर का पद। 'अ सि आ उ सा'=५ अक्षर का पद। 'अरिहंत' =४ अक्षर का पद। 'सिद्ध' दो अक्षर का पद। 'अ' १ अक्षर का पद। ये सब जो अक्षर रुप मंत्र पद हैं, इनका जाप करना चाहिये और ध्यान करना चाहिये।

पांचों इन्द्रियों और मन को रोकने वाला ध्याता है. यथा स्थित जो पदार्थ है, वह ध्येय है. एकाग्र होकर जो विचार करना है वह ध्यान है और संवर व निर्जरा ये दोनों ध्यान के फल हैं।

[गा० ५०] चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाला, अनन्त दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य का धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध ऐसा जो अरिहंत आत्मा, उसका ध्यान करना चाहिये।

[गा० ५१] नष्ट हो गया है, अष्ट कर्म रूप देह जिसके, लोकाकाश तथा अलोकाकाश का जानने देखने वाला, पुरुष के आकारका धारक और लोक के शिखर पर विराजमान सिद्ध परमेष्ठी, तुम उसका ध्यान करो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० ५२] दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्यांचार, चारित्राचार, और तपाचार इन ५ आचारों से जो स्वयं भी तत्पर होते हैं और अन्य शिष्यों को भी लगाते हैं, ऐसे आचार्य मुनि का ध्यान करो।

[गा० ५३] जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र रत्नत्रय सहित है, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर हैं, वह मुनिश्वरों में प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं, उनका ध्यान करो।

[गा० ५४] जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण मोक्ष का मार्ग भूत और सदा शुद्ध चारित्र को प्रकट रुप से साधते हैं, उन मुनि साधु का ध्यान करो।

[गा० ५५] ध्येय पदार्थ में एकाग्र चित्त होकर, जिस किसी पदार्थ को ध्यावता हुवा साधु, जब निष्पृह वृत्ति (सब प्रकार की इच्छाओं से रहित) होता है, उस समय वह उसका ध्यान निश्चय-ध्यान होता है।

'निष्पृह वृत्ति होकर' इससे १४ प्रकार के अंतरंग परिग्रह और १० प्रकार के बाह्य परिग्रह से रहित ध्यान करने वाला स्वरुप है।

[गा० ५६] हे ज्ञानी जनों ! तुम कुछ भी चेष्ठा मत करो अर्थात काय के व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारों। इससे तुम्हारा आत्मा अपने आत्मा में तल्लीन हो जायेगा। जो आत्मा में तल्लीन होना है वही 'परमध्यान' है। उस परम ध्यान में स्थित हुवे जीवों को जो वीतराग परमानंद सुख प्रतिभासता है, वही 'निश्चय मोक्ष मार्ग स्वरुप है।

गा० ५७] क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक जो आत्मा है, वही ध्यान रुपी रथ की धुरा को धारण करने वाला है। इसलिये हे भव्य जीवो ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के अर्थ निरन्तर तप, श्रुत और व्रत, इन तीनों में तत्पर रहो। तत्वों का ज्ञान, बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहितता, राग द्वेष रहित समता भाव, २२ परिषहों का जीतना ये पांचों ध्यान के कारण हैं।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७. समाधि शतक

[गा० ३] मैं उस आत्मा के स्वरुप को मुमुक्षो के हेतु अपनी शक्ति के अनुसार कहूंगा, जिसे मैंने, शास्त्र के द्वारा, अनुमान रुप युक्ति के द्वारा तथा एकाग्र मन के द्वारा भली प्रकार जानकर तथा अनुभव में लेकर जाना है।

[गा० ४] सब जीवों में आत्मा की तीन प्रकार की अवस्थायें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमें से बहिरातमपने को छोडकर, अन्तरात्मा रुप उपाय से परमात्मपने का साधन करो।

[गा० ३] मन-वचन-काय आदि में जिसे आत्मा होने की भ्रांति है, वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। संकल्प विकल्प रुप चित तथा रागादि दोषों को आत्मा मानने की भ्रांति जिसके नहीं है वह अन्तरात्मा है तथा जो अति शुद्ध व कर्म मल रहित है वह परमात्मा है।

[गा० ६] निर्मल, केवल, शुद्ध, विबिक्त, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परमात्मा ईश्वर, जिन, ये परमात्मा के वाचक नाम है।

[गा० १०] अज्ञानी बहिरात्मा अपनी देह को ही जैसे आप मान लेता है वैसे ही दूसरे की देह को भी उसी रुपमान लेता है।

[गा० १३] इस शरीर में व अन्य पर वस्तु व भावों में आत्मा की बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा, इस अपनी आत्मा को कर्म से वांध लेता है और अपनी आत्मा के सच्चे स्वरुप में ही आत्मा की वुद्धि रखने वाला अंतरात्मा अपनी आत्मा को निश्चय ही देह से या कर्म बंध से छुडा लेता है।

[गा० १६] अन्तरात्मा सोचता है कि मैंने अपने आत्म स्वरुप को जानकर, इन्द्रियों की कामनायें ही पूरी करने में लगा रहा, उनके पूरे होने में ही अपना हित समझा, तत्त्व दृष्टि अपना कर भेद विज्ञान नहीं किया, इसका मुझे सोच है।

[गा० १८] अन्तरात्मा आगे सोचता है कि शरीर आदि जो रुपी पदार्थ, इन्द्रियों द्वारा जाने जाते है, वे तो अचेतन है, उनसे क्या बात करनी ? जो जानने वाला चेतन्य स्वभाव है, वह इन्द्रियों द्वारा जानने में नहीं आता क्योंकि वह अमूर्तिक है, तब मैं किसके साथ बात करु ? अतः मौन ही ठीक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १९] अन्तरात्मा आगे सोचता है कि यह जो मेरी चेष्ठा गुरुओं से समझने की या शिष्यों को समझाने की है. वह तो बावले जैसे क्रिया है क्योंकि मैं तो वह आत्मा हूँ जो सब प्रकार के विकल्पों से रहित है अर्थात वचन विकल्पों से कभी ग्रहण नहीं हो सकता।

[गा० २०] मेरा जो शुद्धात्मा स्वरुप है वह न तो क्रोधादि भावों को ग्रहण करता है और न अपने ज्ञानादि स्वभाव को छोडता है। वह तो केवल चेतन अचेतन पदार्थों को, उनके गुण, पर्यायों सहित जानता ही है, वह तो अपने द्वारा स्वयं ही अनुभव में आता है।

[गा० २३] अन्तरात्मा विचारता है कि मैं तो चेतन्य स्वरुप, अपनी आत्मा में आत्मा को, आप ही अपने से ही अनुभव करता हूँ, वही मैं हूं। मेरा स्वरुप व लिंग रुप है, न संख्या रुप है। ये भेष तो शरीर के हैं।

[गा० २४] यह मेरा आतम स्वरुप इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं क्रिया जा सकता, न शव्दों से कहा जा सकता है, वह तो अपने द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। जो अनुभव में ज्ञान मात्र आता है, वही मैं हूँ।

[गा० २५] इस प्रकार अपने ज्ञान स्वरुप अनुभव करने से, इसी जन्म में ही, और इसी समय राग द्वेषादि भाव नष्ट हो जाते है क्योंकि और कोई न मेरा शत्रु है और न मित्र। मैं तो बस अकेला मैं ही हूँ। और से इसका सम्वन्ध ही नहीं।

[गा० २६] इन लौकिक प्राणियों को मेरा आतम स्वरुप तो आंखों से दिखाई ही नहीं देता, अतः वे मेरे न शत्रु न मित्र। और जो ज्ञानी पुरुष मेरे आत्म स्वरुप को देखता है, उसके राग-द्वेष न होने से, वह मेरा वैसी शत्रु अथवा मित्र नहीं है। यहां किसी से शत्रु मित्र का नाता ही नहीं।

[गा० २८] इस प्रकार अन्तरात्मा को न किसी से राग न द्वेष। वह तो ज्ञाता द्दष्टा है। वह तो अपने परमात्म स्वरुप, आत्म स्वरुप का ही अनुभव करता रहता है, उसकी स्वानुभव का अभ्यास करता है और अनुभव करते करते स्वयं आत्म स्वरुप में निश्चल होता है।

[गा० ३०-३१ व ३२] अपने अपने विषय में जाती हुई सब इन्द्रियों को रोककर, स्थिर मन से, अपने भीतर जो आत्मा है, उसके सन्मुख अपने उपयोग को करके, क्षण मात्र भी जो आत्मानुभव करता है, उस समय जो स्वरुप झलकता है, वह ही परमात्मा का स्वरुप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमात्ला की प्राप्ति का यही उपाय है कि इन्द्रियों को रोको, मन को स्थिर करो और अपने आपको देखो ! अपने भीतर जो कुछ दिखता है, वही परमात्मा है वही । तो मैं हूं ।

[गा० ३३] जो विद्वान, उपरोक्त कहे अनुसार, पर से भिन्न अपनी अविनाशी व अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण अपनी आत्मा का तो अनुभव करता नहीं, उसकी तपस्या, व उपवासादि काय क्लेश उसको संसार के दुखों से मुक्त कराके निर्वाण प्राप्त नहीं करा सकती ।

[गा० ३४] जो भेद विज्ञानी योगी है, उसको बारह प्रकार के तपों से अथवा पूर्व कर्म के उदय से महादुख भोगते हुवे भी, लेश मात्र भी खिन्नता नहीं होती । वह तो आनन्द से ही भरा रहता है ।

[गा० ३५] यदि तपस्वी को तप की क्रिया से अथवा कर्मो के उदय के फल से, संक्लेश हो रहा है तो उसे आत्म स्वरुप की प्राप्ति हो ही नहीं सकती, वह तो धर्म ध्यान के स्थान पर आर्त्तध्यान में है ।

[गा० ३७] यही मन जब इन्द्रियों के अधीन होता है, तो रागी–द्वेषी होता है और वही मन जब भेद विज्ञान का अभ्यास करता है तो आत्म स्वरुप में ठहर जाता है । भेद विज्ञान का अभ्यास करो ।

[गा० ४२] अज्ञानी जीव तो तपस्या द्वारा अथवा धर्म द्वारा इहलोक और परलोक के स्वर्ण सम्बन्धी विषय भोगों को ही चाहता है जबकि तत्त्वज्ञानी तो इहलोक और परलोक से मुक्ति चाहता है ।

[गा० ४५] साधक, आत्मा का यथार्थ स्वरुप जानते हुवे भी और उसे शरीरादि नो कर्म से भिन्न जानते हुवे भी, पहले के मिथ्यात्व अवस्था के प्रभाव से, वह अन्तरात्मा फिर भी भ्रांति में पड़ जाता है । अतः साधक को सावधान रहकर निरन्तर भेद विज्ञान का आश्रय ले ।

[गा० ४६] तत्त्व ज्ञानी तो यही सोचता है कि सब मुझसे भिन्न हैं । मैं किस पर राग करूं और किससे द्वेष करूं ? अत: उदासीन वीतरागी रह कर, आत्मा का अनुभव करने में ही भलाई है ।

[गा० ४७] मूर्ख मिथ्यादृष्टि जिनमें राग करता है, उसे ग्रहण करता है, जिससे द्वेष करता है उसका त्याग करता है । सम्यग्दृष्टि आत्म ज्ञानी विभावों को त्यागता अर्थात ज्ञाता दृष्टा रहता है और अपने चिदानन्द मयी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभाव का ग्रहण करता है। उत्कृष्ट अन्तरात्मा तो स्वभाव में लवलीन ही रहता है, उसे यह विकल्प ही नहीं उठता किसका ग्रहण करूं और किसका त्याग करूं !

[गा० ४६] मिथ्या दृष्टि, को यह जगत विश्वास के योग्य लगता है अर्थात वह सोचता है कि संसारी चेतन, अचेतन पदार्थ उसके है और वह उनका है। पर अन्तरात्मा तो अपने आत्म स्वरुप को ही देखता है, संसारो पदार्थो का न विश्वास करता है और न प्रीति। यदि कभी उसका वचन काय संसारी पदार्थों में पहुंच भो जाता है तो शीघ्र ही वहां से हटाकर पश्चाताप करता है।

[गा० ५२] साधक को जव तक अभ्यास द्वारा एक वार अपनी आत्मानुभव का आनन्द नहीं आ जाता, तव तक उसका मन संसारी पदार्थों में सुख मानता है।

[गा० ५३] जव तक आत्मानुभव का लाभ न हो, तव तक साधक को आत्मा स्वरुप का ही कथन, उसी के वारे में दूसरे ज्ञानियों से प्रश्न, उसी की चाह व उसी की भावना निरंतर करनी चाहिये।

[गा० ५६] अनादि काल से इस प्राणी को, असंज्ञी अवस्था में तो आत्म स्वरुप का कोई विचार हो नहीं हो सकता संज्ञो अवस्था में जव जन्म होता है तो अज्ञान (मिथ्यात्व) के कारण संसारी चेतन अचेतन पदार्थ में ही अहंकार-ममकार कर लेता है। कल्याण नहीं कर पाता।

[गा० ५८-५६] अनादि प्रवल मिथ्यात्व के संस्कार के कारण, वह संज्ञी प्राणी विना समझाये तो समझता ही नहीं, समझाने पर भी नहीं समझता उसको समझाने का प्रयास निष्फल है। क्योंकि वह आत्म स्वरुप समझाने के विकल्प से परे है, वह तो स्वयं ही अनुभव ने योग्य है, उसे कैसे समझाया जाय ? अतः कोई दूसरा किसी को आत्म ज्ञानी नहीं वना सकता।

[गा० ६१] शरीर जड है, ज्ञान से रहित है। यदि उस पर कोई उपकार या अपकार किया जाय तो वह सुखी दुखी नहीं होता। पर यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव व्यर्थ शरीर की शोभा से सुखो और उसके क्लेश से दुखी होता है। इस प्रकार संसार में भ्रमण करता रहता है।

[ा० ६२] जब तक प्राणी मन-वचन-काय में आत्म बुद्धि करता है, संसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में ही हलता है। जब भेद विज्ञान से यह समझ लेता है कि ये तीनों मन-बचन-काय, मुझ आत्मा से भिन्न हैं, तो मुक्त हो जाता है।

[गा० ६७] जिस समय भेद विज्ञान द्वारा, इस प्राणी को यह शरीरादि रुप जगत काष्ठ-पाषाण जैसा स्थिर अचेतन, क्रिया तथा सुखादि के अनुभव से रहित, दिखाई देने लगता है, तो उसे संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य हो जाता है।

[गा० ७२] लौकिक जनों की संगति से बचन की प्रवृति होनी है, उससे मन की चंचलता होती है, उस चंचलता से अनेक विकल्प होते हैं, इसलिये साधक को, लौकिक जनों का संग छोड देना चाहिये।

[गा० ७३] जिन साधकों ने आत्म स्वरुप का अनुभव नहीं किया, उन्हीं को गांव व बन का भेद मालूम होता है। जिसने आत्मा का स्वरुप अनुभव कर लिया, उसका चित्त तो निश्चल व रागादि रहित होने से, अपने में ही निवास करता है चाहे जंगल हो या नगर।

[गा० ७५] यह आत्मा ही, शरीरादि पर-पदार्थों में ममत्व बुद्धि कर संसार भ्रमण कराता है और यह आत्मा ही अपने में ही रुचि कर मोक्ष करा देता है। इस प्रकार निश्चय से आत्मा का आत्मा ही गुरु, हितकारी है, और वही शत्रु है। और सब पदार्थ तो निमित्त मात्र है।

[गा० ७८] जो प्राणी संसारी व्यवहार में जाग रहा है, वह आत्मानुभव में सोया हुवा है और संसारी व्यवहारों में सोया है अर्थात उनमें उदासीन है, वह आत्मानुभव में जाग रहा है।

[गा० ८०] तत्त्व ज्ञानी और आत्मानुभवी को यह संसारी जीव पहले विकल्पों से भरे पागल से प्रतिभासित होते हैं और संसारी जीवों को वह साधक पागल सा दिखाई देता है जो सब भोग होते हुवे भी उनको नहीं भोग रहा है।

[गा० ८३] हिंसादि पांच अव्रतों से पाप का बँध व अहिंसादि पांच व्रतों से पुण्य बंध होता है। पाप-पुण्य रहित अवस्था से मोक्ष है।

[गा० ८४] पहले हिंसादि पापों को छोड़कर व्रतादि पुण्यों में तल्लीन हो। फिर आत्मा के उत्कृष्ठ वीगरागता लक्षणमयी पद को प्राप्त कर, उन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतों को भी छोड देवे। लक्ष्य वीतरागता रक्खे।

[गा० ८७] जटा धारण आदि अन्य मत के भेष, व नग्नपना आदि जैन मत के भेप शरीर आश्रित हैं और शरीर ही आत्मा का संसार है। अतः जो बाहरी भेष को मोक्ष का कारण मानते हैं वे पुरुष संसार से मुक्त कभी नहीं हो सकते।

[गा० ९३] मिथ्या दृष्टि को तो निद्रा की, उन्मत्तपने की अथवा मूर्च्छा आदि की अवस्थायें ही भ्रम रुप मालूम होती है, पर आत्मदर्शी को (अन्तरात्मा को) बहिरात्मा की सारी अवस्थायें ही भ्रमरुप दिखाई देती हैं क्योंकि वे अवस्थायें सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन से रहित होने से झूठी ही है। सत्यपना तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान से ही आता है।

[गा० ९४] आत्मानुभव के विना शास्त्र ज्ञान कुज्ञान है, तप कुतप है, व्रत कुव्रत है। अतः मुमुक्ष साधक को आत्मानुभव का ही लक्ष्य रखना चाहिये।

[गा० ९५-९६] जिस विषय में बुद्धि लगती है, वहां रुचि हो जाती है, जहां रुचि होती है, वहीं उपयोग पहुंच जाता है। अतः श्रद्धा (रुचि) को सम्यक् करो। इसके होते ही उपयोग सम्यक् रुचि में स्वतः लग जायेगा।

[गा० ९१] जैसे भेद को न जानने वाला पुरुष पंगु और अन्धे के संयोग के कारण, पंगु की दृष्टि को अन्धे की दृष्टि जान लेता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि इस आत्मा के ज्ञान-दर्शन को शरीर का मान लेता है।

[गा० ९२] जैसे भेद वाला पुरुष पंगु की दृष्टि को पंगु ही मानता है, लंगड़े की, नहीं वैसे ही भेद-विज्ञानी सम्यग्दृष्टि, आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुणों को आत्मा के ही मानता है, शरीर के नहीं।

[गा० ९९] उपरोक्त प्रकार, आत्मा की नित्य भावना करने से, यह जीव परमात्मा के स्वरुप को प्राप्त कर लेता है और संसार मुक्त हो जाता है।

[गा० १०२] बिना तप के सुकुमार भाव से माया आत्मा का ज्ञान, दुखों के पडने पर नाश को प्राप्त हो जाता है अतः योगी तप करें।

[गा० १०३] आत्मा के राग-द्वेष के कारण, शरीर में वायु चलती है, जिससे शरीर की इन्द्रियां काम करने लगती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[गा० १०५] अतीन्द्रिय सुख को बताने वाले और परमात्मा स्वरुप के अनुभव में एकाग्रता परम वीतरागता के साधन रुप, इस शास्त्र को जानकर तथा शरीरादि पर पदार्थों में ममकार, अहंकार बुद्धि छोड़कर आत्मा में रमने वाला भव्य जीव संसार से मुक्त हो ज्ञानमयी आनन्द पाता है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१८. जिनवरस्य-नय चक्र

१. नय ज्ञान की आवश्यकता:—

जिनागम के मर्म को समझने के लिये नयों का स्वरुप समझना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जो नयदृष्टि से विहीन है, उन्हें वस्तु स्वरुप का सही ज्ञान नहीं हो सकता तब बिना वस्तु स्वरुप जाने सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? यद्यपि आत्मा स्वभाव से नय पक्षातीत है तथापि वह आत्मा नय ज्ञान के बिना पर्याय में नय पक्षातीत होने में समर्थ नहीं है।

२. नय का सामान्य स्वरुप:—

श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय कहा गया है। ज्ञाता के अभिप्राय को भी नय कहा गया है.. वक्ता के अभिप्राय को भी नय कहा है। इस प्रकार नय ज्ञानात्मक भी होते हैं और बचनात्मक भी। अनन्त धर्मात्मक होने से वस्तु बड़ी जटिल है। उसको जाना तो जा सकता है पर कहना कठिन है। अत: उसके एक-एक धर्म का क्रम पूर्वक निरुपण किया जाता है। अत: नय अंश ग्राही है? नयों के कथन में अविविक्षित धर्मों की गौणता ही अपेक्षित है, निषेध नहीं। प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेप निरुपण करने वाला नय है। नयों का कथन सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं। नय गौण धर्मों का निराकरण नहीं करता, मात्र उसके सम्वन्ध में मौन रहता है। सापेक्ष नय ही सम्यग्नय होते हैं, निरपेक्ष नहीं। नयो का प्रयोग जैन दर्शन ही में है, अन्य दर्शनों में नहीं।

३. नय कितने ?

जितने ज्ञान व बचन विकल्प है, उतने ही नय हैं। अत: नय अनन्त भी हो सकते हैं। अध्यात्म पद्धति में निश्चय नय व्यवहार नय शैली का प्रयोग होता है और आगम पद्धति में द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नय शैली का प्रयोग होता है। यद्यपि दोनों शैली भिन्न २ है तथापि इनमें विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। क्योंकि एक ही पुरुष आगम और अध्यात्मी दोनों हो सकता है। इस प्रकार मूल नय दो ही है। (क) निश्चय-व्यवहार और (ख) द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. (क) निश्चय नय व्यवहार नयः—

जो वस्तु के धर्मों में कथचित भेद व उपचार करता है वह व्यवहार नय है और उससे विपरीत निश्चय नय है। आत्माश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित को व्यवहार नय कहते हैं। सच्चे निरुपण को निश्चय और और उपचरित्र को व्यवहार नय कहते हैं। एक ही द्रव्य के भाव को उस रुप ही कहना निश्चय नय हैं और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य के भाव स्वरुप कहना व्यवहार नय है। जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उस ही की कहना निश्चय नय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहने वाला व्यवहार नय है। निश्चय नयका विषय अभेदहै और व्यवहारनय का भेद। निश्चय नय सत्यार्थ है, व्यवहार नय असत्यार्थ। निश्चय नय असं-योगी कथन करता है, व्यवहार नय संयोगी। निश्चय, निमित्त की अपेक्षा नहीं करता, व्यवहार करता है। निश्चय को भूतार्थ-सत्यार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहा है। पर इसकाआशय यह नहीं कि व्यवहार नय सर्वथा असत्यार्थ है। चूंकि भेद व संयोग के आश्रय से आत्मा का अनुभव नहीं होता, इस अपेक्षा से अभूतार्थ कहा। निश्चय को अभेद के कारण भूतार्थ कहा है और पर्याय का अथवा संयोगी अवस्था का लक्ष छुड़ाने के लिये गौण करके उसे असत्यार्थ है। ऐसा नहीं कि भेद रुप कोई वस्तु नहीं है इसलिये व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ न कहकर कथंचित असत्यार्थ कहा है। जिसके आश्रय से मुक्ति हो, वह भूतार्थ और जिससे मुक्ति न हो वह अभूतार्थ, इस अपेक्षा से व्यवहार नय को देखा गया है। इसलिये व्यवहार के कथन का निषेध सुनकर, व्यवहार के विषय की सत्ता का भी अभाव नहीं मान लेना चाहिये, वह भी उपादेय हैं, व्यवहार अभूतार्थ, असत्याथ तो है, पर वह निश्चय का प्रतिपादक है, उसके बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है और निचली दशा में कार्यकारी भी है। दोनों नय एक दूसरे के पूरक हैं। इनका सम्बन्ध प्रतिपाद्य-प्रतिपादक का है। इसी प्रकार इनका सम्बन्ध निषेधक और निषेध्य का भी है। जैसे शतरंज के दो खिलाड़ी मित्र भी हैं और विरोधी भी और एक दूसरे के पूरक भी। जैसे दोनों खिलाड़ी खेल में खेल के पक्के और जीवन में जीवन के प्रति ईमानदार, वैसे ही जिनवाणी में दोनों नय अपने २ विषय के पक्के हैं, अभिन्न साथी है, एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता और एक दूसरे का निषेध करने वाले भी। परन्तु वह द्वेष नहीं हैं। इस प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना, निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। समस्त जिनवाणी एक आत्म प्राप्ति के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उद्देश्य से लिखी गई है। इसी उद्देश्य से निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और निषेधक-निषेध्य सम्बन्ध माना गया है जो उपादेय है। व्यवहार के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता और व्यवहार को छोड़े बिना निश्चय पाया नहीं जा सकता। निश्चय को समझने के लिये व्यवहार को अपनाना होगा और निश्चय को पाने के लिये व्यवहार को छोड़ना होगा। मोक्ष मार्ग तो यही है कि हम निश्चय व्यवहार का स्वरुप समझकर व्यवहार नय और उसके विषय तथा निश्चय नय के भी विकल्प को तोड़कर निश्चय नय की विषय भूत वस्तु का आश्रय लेकर नय पक्षातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति को प्राप्त करें। यही इन नयों का प्रयोजन है।

निश्चय नय-व्यवहार नय के भेद प्रभेद:—

(i) निश्चय नय दो प्रकार का है-शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। शुद्ध निश्चय नय की विषय वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कथन प्राप्त होते हैं अत: उसके तीन भेद परम शुद्ध निश्चय नय. शुद्ध निश्चय नय और एक देश शुद्ध निश्चय नय हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चय नय के ४ भेद हो जाते हैं। कभी कभी शुद्ध निश्चय नय से परम शुद्ध निश्चय नय में और निश्चय नय से अशुद्ध निश्चय नय में भी कुछ आचार्यों ने प्रयोग किया है, अत: सावधान रहना जरुरी है। (अ) परम शुद्ध निश्चय नय में त्रिकाली शुद्ध परम पारिणामिक सामान्य भाव का ग्रहण होता है। (ब) निरुपाधिक-गुण-गुणी को अभेद रुप विषय करने वाला शुद्ध निश्चय नय है जैसे जीव को शुद्ध केवल ज्ञानादि रुप कहना। यह नय आत्मा को क्षायिक भावों से अभेद बतलाता है, तथा उन्हीं का कर्त्ता भोक्ता भी कहता है। (स) एक देश-शुद्धता से तन्मय द्रव्य सामान्य को पूर्ण शुद्ध देखना, एक देश शुद्ध निश्चय नय है। (द) सोपाधिक गुण-गुणी में अभेद दर्शाने वाला अशुद्ध निश्चय नय है जैसे मति ज्ञानादि को अथवा राग द्वेषादि विकारी भावों को जीव कहना यह नय औदायिक और क्षयोपशमिक भावों को जीव के साथ अभेद बताता है, उसके साथ कर्ता-कर्म आदि भी बताता है। कर्मोपाधि के कारण 'अशुद्ध' और उसी समय तपे हुवे लोह खण्ड के समान तन्मय होने से 'निश्चय' कहलाता है जैसे जीव में कर्मो के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जितने भाव हैं, वे जीव के भाव प्राण होते हैं ऐसा अशुद्ध निश्चय नय से जानना चाहिये।

शुद्ध निश्चय नय और एक देश शुद्ध निश्चय नय में यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तर है कि शुद्ध निश्चय नय का विषय पूर्ण शुद्ध पर्याय से तन्मय अर्थात क्षायिक भाव से तन्मय द्रव्य होता है और एक देश शुद्ध का विषय आंशिक शुद्ध पर्याय से तन्मय अर्थात क्षयोपशमभाव के शुद्धांश के तन्मय द्रव्य होता है। यह अवश्य ध्यान रखना कि यहां जो शुद्ध निश्चय नय लिया है, वह मूल 'शुद्ध निश्चय नय' न होकर उसके तीन भेदों में जो 'शुद्ध निश्चय' नय आता है, वह है।

चार्ट

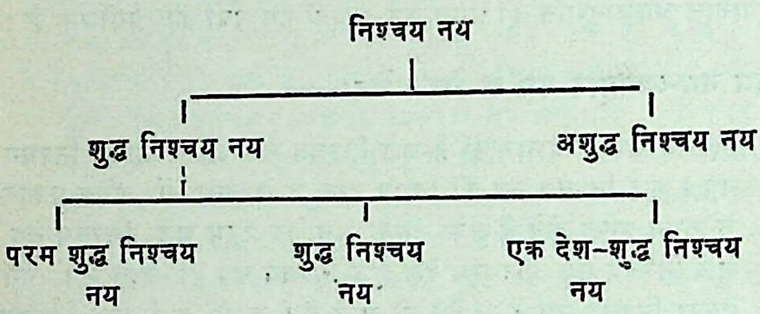

(ii) व्यवहार नय का कार्य एक अखण्ड वस्तु में भेद करके तथा दो भिन्न २ वस्तुओं में अभेद करके वस्तु स्वरुप को स्पष्ट करना है। व्यवहार के दो मूल भेद हैं (१) सद्भूत व्यवहार नय (२) असद्भूत व्यवहार नय। एक ही वस्तु में भेद व्यवहार करने वाला सदभूत व्यवहार नय और भिन्न भिन्न वस्तुओं में अभेद व्यवहार करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है। ये दोनों व्यवहार नय भी अनुचरित और उपचरित के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार व्यवहार नय के भी चार भेद हो जाते हैं।

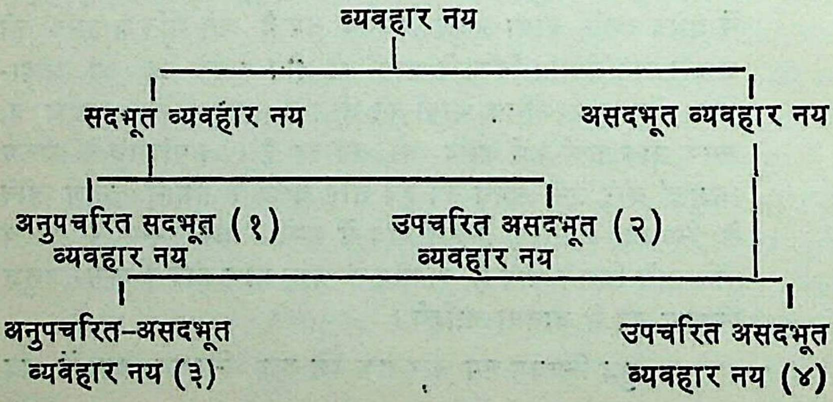

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१) निरुपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करने वाला अनुपचरित सद्भूत नय है जैसे जीव के केवल ज्ञानादि गुण हैं। और शुद्ध गुण व शुद्ध गुणी में अथवा शुद्ध पर्याय या शुद्ध पर्यायी में भेद करना जैसे केवल ज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधार होने के कारण कार्य शुद्ध जीव हैं।

(२) सोपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करने वाला उपचरित सदभूत व्यवहार नय है जैसे जीव के मतिज्ञानादि गुण हैं।

(३) संश्लेष सहित भिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाले अनु-पचरित असदभूत व्यवहार नय है जैसे जीव का शरीर है। आत्मा द्रव्य कर्मों का कर्त्ता है और उनके सुख दुख का भोक्ता है। यह जीव मूर्त्त है। यह आत्मा देह से अभिन्न है। जीव द्रव्य प्राणों के द्वारा जीता है, जीवेगा और पहले जीता था। जीव के औदायिक आदि चारों भाव द्रव्य कर्मों द्वारा किये गये हैं।

(४) संश्लेष रहित भिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाले उप-चारित असदभूत व्यवहार नय है जैसे देवदत्त का धन है। आत्मा घट-पट और रथ आदि का कर्त्ता है। यह आत्मा, काष्ठासन आदि पर बैठे हुवे देवदत्त की भांति, अथवा समवशरण में स्थित वीतराग सर्वज्ञ की भांति, विवक्षित किसी एक ग्राम या घर में स्थित है। यह जीव इष्ठानिष्ठ पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख-दुख भोगता है।

नोटः—जिन दो पदार्थों में सीधा (डाईरेक्ट) सम्बन्ध पाया जाता है, उन्हें निकटवर्ती या संश्लिष्ट कहते हैं, तथा जिनमें वे दोनों पदार्थ किसी तीसरे माध्यम से सम्बन्धित होते हैं, उन्हें दूरवर्ती या असंश्लिष्ट कहा जाता है। संश्लिष्ट में केवल उपचार से काम चल जाता है, पर असंश्लिष्ट में उपचार में भी उपचार करना पडता है।

४. (ख) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयः—

प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। वस्तु के सामान्य अंश को द्रव्य एवं विशेष अंश को पर्याय कहते हैं। सामान्य अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिक नय और विशेष अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान के अंश को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। दोनों अंशों को एक साथ ग्रहण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते है।

वस्तु प्रमाण का विषय है। वस्तु का एक अंश नय का विषय है तथा जो अर्थ, प्रमाण व नय से निर्णित होता है, वह निक्षेप का विषय होता है। प्रमाण की विषय भुत वस्तु द्रव्य की अपेक्षा सामान्य विशेषात्मक, क्षेत्र की अपेक्षा भेदा-भेदात्मक, काल को अपेक्षा नित्या नित्यात्मक, और भाव की अपेक्षा एकानेकात्मक है।

जब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, दोनों आंखों को एक ही साथ खोलकर दोनों से एक साथ देखा जाता है, तव नारकत्व, आदि गतियों में रहने वाला जीव सामान्य, तथा जीव सामान्य में रहने वाला नारकत्व आदि गति एक साथ दिखाई देते हैं।

एक नय की विषय भूत वस्तु को देखने के लिये, दूसरे नय की आंख को पूरी तरह बन्द रखना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। पर ध्यान रहे दुसरी आंख को वन्द ही रखना है, फोड नहीं लेना ह वरना मिथ्या एकान्त हो जायेगा। सर्वथा शब्द का मर्म इस प्रकार है। सर्व=सभी (द्रव्य अपेक्षा) सर्वत्र=सब जगह (क्षेत्र अपेक्षा), सर्वदा=हर समय (सकल अपेक्षा) सर्वथा=सर्व प्रकार (भाव अपेक्षा)। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्व चतुष्ठय की अपेक्षा ही सत् है।

जिनागम को वस्तु के दो पक्ष ही स्वीकृत है-द्रव्य और पर्याय गुण, विभिन्न अपेक्षाओं से इन्हीं में गर्भित हैं।

सभी नय एकान्त स्वरुप ही होते हैं। सम्यक्-एकान्त नय है, और मिथ्या एकान्त नयाभासा सम्यक् अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या अनेकान्त प्रमाणभासा सर्वथा, एकान्त तथा ही, जब अकेले प्रयुक्त होते हैं तो, मिथ्यात्व के सूचक नहीं होते, किन्तु जव ये आपस में मिलकर एक साथ प्रयुक्त होते हैं तो मिथ्यात्व के सूचक हो जाते हैं जैसे सर्वथा ही आदि।

पर्यायार्थिक नय कहता है कि मारीचि मारीचि है और महावीर महावीर, मारीचि, महावीर नही और महावीर मारीचि नहीं। द्रव्यार्थिक नय कहता है कि न मीरचि मारीचि है और न महावीर महावीर। मारीचि भी आत्मा है और महावीर भी आत्मा। बस एक आत्मा हो है, मारीचि महावीर कुछ नहीं। प्रमाण कहता है-महावीर और मारीचि जुदे २ भी हैं और एक भी। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रमाण और नय (द्रव्या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

र्थिक और पर्यायार्थिक) दोनों वीतराग भाव के ही उत्पादक हैं, सभी सार्थक हैं, उपयोगी है।

(i) द्रव्यार्थिक नय के भेद प्रभेद—

द्रव्यार्थिक नय के दो भेद हैं (१) शुद्ध द्रव्यार्थिक (२) अशुद्ध द्रव्यार्थिक। इनके प्रत्येक के तीन तीन प्रकार हो जाते हैं (१) कर्मोपाधि निरपेक्ष, भेद कल्पना निरपेक्ष, उत्पाद-व्यय निरपेक्ष और कर्मोपाधि सापेक्ष भेद कल्पना सापेक्ष और उत्पाद व्यय कल्पना सापेक्ष। इनमें आरम्भ के तीन शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है और शेष तीन अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय हैं।

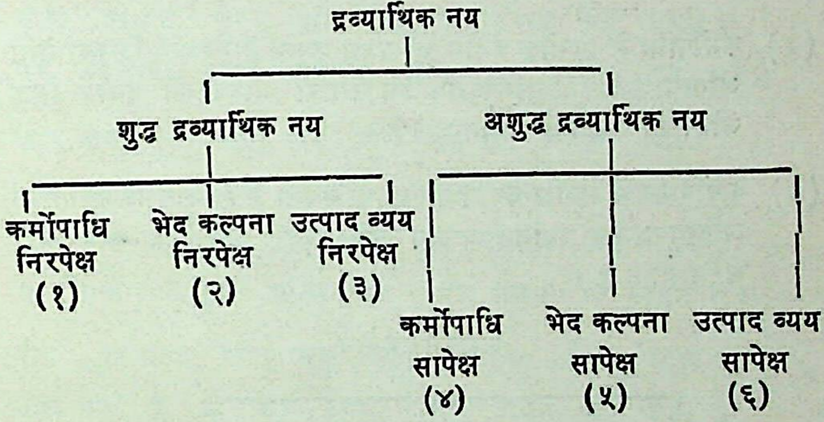

१ कर्मोपाधि निरपेक्ष जैसे संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध आत्मा है।

२. भेद कल्पना निरपेक्षः—जैसे द्रव्य अपने गुण पर्याय और स्वभाव से अभिन्न है।

३. उत्पाद-व्यय निरपेक्ष जैसे द्रव्य नित्य है।

४. कर्मोपाधि सापेक्षः—कर्म जन्य क्रोधादिभाव रुप आत्मा।

५. भेद कल्पना सापेक्षः—आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुण हैं।

६. उत्पाद व्यय सापेक्षः—द्रव्य एक ही समय में उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है।

(ii) पर्यायार्थिक नय के भेद प्रभेद—

पर्यायार्थिक नय के छः भेद हैंः—

(१) अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय जैसे पुदगल की पर्याय सुमेरु पर्वत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि नित्य है।

(२) सादि नित्य पर्यायार्थिक नय—जैसे सिद्ध पर्याय नित्य है।

(३) सत्ता को गौण करके उत्पाद व्यय का ग्रहण करते हैं स्वभाव जिसका ऐसा अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय जैसे पर्याये प्रति समय विनाश-शील हैं।

(४) सत्ता सापेक्ष पर्याय को ग्रहण करना है स्वभाव जिसका ऐसा अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय जैसे एक समय में पर्याय त्रयात्मक (उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक) है।

(५) कर्मोपाधि से निरपेक्ष पर्याय को ग्रहण करना है स्वभाव जिनका ऐसा अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय जैसे संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध जीवों की पर्याय के समान शुद्ध है।

(६) कर्मोपाधि से सापेक्ष पर्याय को ग्रहण करना है स्वभाव जिसका ऐसा अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय जैसे संसारी जीवों का जन्म और मरण होता है।

पर्यायार्थिक नय

- नित्य पर्याय ग्राही
  - (१) अनादि-नित्य पर्याय ग्राही
  - (२) सादि-नित्य पर्याय ग्राही
- अनित्य पर्याय ग्राही
  - शुद्ध अनित्य पर्याय ग्राही
    - (३) सत्ता निरपेक्ष-शुद्ध अनित्य पर्यायार्थिक नय
    - (५) कर्मोपाधि निरपेक्ष अनित्य पर्याय ग्राही पर्यायार्थिक नय
  - अशुद्ध-अनित्य पर्याय ग्राही
    - (४) सत्ता सापेक्ष अशुद्ध-अनित्य पर्याय ग्राही पर्यायार्थिक नय
    - (६) कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध-अनित्य पर्याय ग्राही पर्यायार्थिक नय

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१६. समाधिमरण-(छोटा) (द्यानत)

गौतम स्वामी बंदौनामी, मरण समाधि भला है।
मैं कब पाऊं, निसदिन ध्याऊं, गाऊं बचन कला है॥
देव, धर्म, गुरु, प्रीति बढ़ावन, सात विषय नहिं जाने।
त्यागे बाइस अयक्ष संयमी, बारह व्रत नित ठाने॥१॥

चक्की चूलि ऊखली बुहारी, पानी त्रस न विराधे।
बनज करै पर द्रव्य हरे नहिं, छहों करम इम ठाने॥
पूजा, शास्त्र, गुरुन की सेवा, संयम तप चहुँ दानी।
पर उपकारी, अल्प अहारी, सामायिक विधि ठानी॥२॥

जाप जपै, तिहुँ जोग धरे दृढ़, तन की ममता त्यागे।
अन्त समय वैराग्य सभारें, ध्यान समाधि विचारे॥
आग लगे, अरु नाव डूबै जब, धर्म विघन जब आवे।
चार प्रकार आहार त्याग कर, मंत्र सुमन में ध्यावें॥३॥

रोग असाध्य जरा बहु देखे, कारण और निहारे।
बात बडी है जो बन आवे, भार भवन को डारे॥
जो न बने तो घर में रहकर, सब सौं होय निराला।
मात, पिता, सुत, त्रिय को सोंपे, निज परिग्रह यह काला॥४॥

कुछ चैतालय कुछ श्रावक जन, कुछ दुखिया जन देही।
छमा छमा सब ही सो कहके, मन की शल्य हनेई॥
शत्रुन सो मिल मिल कर जोडे, मैं बहु करी बुराई।
तुम से प्रीतम को दुख दीने, तैं सब बकसो भाई॥५॥

धन, धरती जो मुख से मांगे, सबको दे संतोषे।
छहों काय के प्राणी ऊपर, करूणा भाव विशेषे॥
ऊंच नीच घर बैंठ जगह इक, कुछ भोजन कुछ पयले।
दूधाहारी क्रम क्रम तजके, छांच अहार गहेले॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छांच त्याग के पानी राखे, पानी तज संथारा।
भूमि मांहि थिर आसन मांडे, साधर्मी ढ़िग प्यारा॥
जब तुम जानो यह जपै, तब जिनवाणी पढ़िये।
यो कहि, मौन लियो सन्यासी, पंच परमपद गहिये॥७॥

चार अराधन मन में ध्यावै, बारह भावन भावे।
दस लक्षण मय धर्म विचारे, रत्नात्रय मन लावे॥
पैंतीस, सोलह, षट, पन चारो, दुई यक वरण विचारे।
काया तेरी दुख की ढेरी, ज्ञान मयी तू सारे॥८॥

अजर अमर निज गुण को पूरे, परमानन्द सुहावे।
आनन्द कंद चिदानन्द साहब, तीन जगत पति ध्यावै॥
क्षुधा तृषादिक होय परिषह, सहे भाव सम राखै।
अतीचार पांचों सब त्यागै, ज्ञान सुधारस चाखै॥९॥

हांड, मांस जब सूख जाय तब, धरम लीन तन त्यागै।
अद्भुत पुण्य उपाय सुरग में, सेज उठे ज्यों जागै॥
तहां पै आव शिवपुर पहुंचै, विलसै सुख अनन्तों।
'द्यानत' यह गति होय हमारी, जैन धर्म जयवंतो॥१०॥

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२०. समाधिमरण-बड़ा (मृत्यु महोत्सव पाठ)

बंदौ श्री अरहंत परम पद, जो सबको सुखदायी।
इस जग में, मैं जो दुख भुगते, सो तुम जानो रायी ॥
अब मैं अरज करूं प्रभु तुम सों, धर समाधि उर माहिं।
अंत समय में यह बर मांगों, सो दीजो मम राई ॥१॥

भव भव में तन धार नया मैं, भव भव शुभ संग पायो।
भव भव में, नई रिद्धि लई मैं, मात, पिता, सुत थायो ॥
भव भव में तन पुरूष तनों धर, नारी हूं तन लीनों।
भव भव में, मैं भयो नपुंसक, आतम गुण न हिंचीन्हों ॥२॥

भव भव में, सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे।
भव भव गति नरक तनी धर, दुख पाये विधि योगे ॥
भव भव में तिरयंच योनि धर, पायो दुख अति भारी।
भव भव में साधर्मीजन को, संग मिल्यो अधिकारी ॥३॥

भव भव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीन्हों।
भव भव में मैं समवशरण में, देखो निज गुण भीन्यों ॥
ऐसी वस्तु मिली भव भव में, सम्यक् गुण नहिं पायो।
नहिं समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो ॥४॥

काल अनादि भयो जग भ्रम ते, सदा कुमरणहि कीन्हो।
एक बार हु सम्यक्युत हो, निज आत्म नहिं चीन्हो ॥
जो निज पर को ज्ञान होयतो, मरण समय दुख कांहीं।
देह विनाशी, मैं निज भासी, ज्योति स्वरुप सदा हीं ॥५॥

विषय कषायन के वश होकर, देह आपनो जान्यो।
कर मिथ्या सरधान हिये विच, आतम नांहि पिछान्यो ॥
यों क्लेश हिय धार मरण कर, चारों गति भरमायों।
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण ये, हिरदे में नहिं लायो ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब मैं अरज करूं प्रभु तुमसे, मरण समय यह मांगो।
रोग सहित पीडा मत होवे, अरु कषाय मत जागो ॥
ये मुझ मरण समय दुख दाता, इन हर साता कीजे।
जो समाधियुत मरण होय मुझ, अरु मिथ्या मद छीजे ॥७॥

यह तन सात कुधातुमयी है, देखत ही घिन आवे।
चर्म लपेटी ऊपर सो है, भीतर विष्ठा पावै ॥
अति दुर्गंध अपावन सो यह, मूरख प्रीति बढ़ावे।
देह विनासी, जिय अविनासी नित्य स्वरुप कहावे ॥८॥

यह तन जीर्ण कुटी सम आतम, यातें प्रीति न कीजे।
नूतन महल मिले जब ताईं, तब या में क्या छीजै ॥
मृत्यु होन से हानि कौन हैं, याको भय मत लाओ।
समता से जो देह तजो तो, सो शुभ तन तुम पाओ ॥९॥

मृत्यु भिन्न उपकारी तेरो, इस अवसर के माँहि।
जीरन तन सों देत नयो तन, या सम साहु नाँहि ॥
या सेती इस मृत्यु समय पर, उत्सव अति ही कीजे।
क्लेश भाव को त्याग सयाने, समता भाव धरीजे ॥१०॥

जो तुम पूरब पुण्य कीये हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग सम्पदा भाई ॥
राग द्वेष को छोड सयाने, सात विषुण दुखदाई।
अंत समय में समता धारो, परभव पंथ सहाई ॥११॥

कर्म महा दुठ बैरी मेरो, सा सेती दुख पावे।
तन पिंजर में बंद कियो मोहिं, या सों कौन छुडावे ॥
भूख तृषा दुख आदि अनेकन, इस ही तन में गाढै।
मृत्यु राज अब आय दया कर, तन पिंजर सो काढै ॥१२॥

नाना वस्त्राभूसन मैंने, इस तन को पहिनाये।
गंध सुगंधित इतर लगाये, षट रस असन कराये ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात दिना मैं दास होयकर, सेव करी तन तेरी।
सो तन मेरो काम न आयो, भूल रह्यो निधि मेरी ॥१३॥
मृत्यु राज को शरण पाय अब, तन नूतन ऐसो पाऊं।
जामे सम्यक् रतन तीन लहि, आठो करम खपाऊं॥
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं सु या जग माहिं।
मृत्यु समय में ये ही परिजन, सब ही हैं दुखदाई ॥१४॥
यह सब मोह बढ़ावन हारे, जियको दुर्गति दाता।
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख साता॥
मृत्यु कल्प द्रुम पाय सयाने, मांगो इच्छा जेती।
समता धरि करि मृत्यु करो तो, पावो सम्पति तेती ॥१५॥
चौ आराधन सहित प्राण तज, तो या पदवी पाओ।
हरि, प्रति हरि, चक्री, तीर्थेश्वर, स्वर्ग मुक्ति में जाओ॥
मृत्यु कल्प द्रुम सम नहिं जग में, दाता तीनों लोक मंझारे।
ताको पाये क्लेश करो मति, जन्म जवाहर हारे ॥१६॥
इस तन में क्या रचि जियरा, दिन दिन जीरन हो है।
तेज कांति, बल रोज घटत है, या सम अथिर सुको है॥
पांचों इन्द्री शिथिल भई, अब श्वास शुद्ध नहीं आवे।
तापर भी ममता नहिं छोडै, समता उर नहीं लावे ॥१७॥
मृत्यु राज उपकारी मेरो जियको, तन सों मोहिं छुडावे।
नातर यह तन बंदी ग्रह में, परयो परयो बिल्लावे॥
पुदगल के परमाणु मिलकर, पिण्ड रुप तन भासी।
याही मूरत में अमूरत, ज्ञान ज्योति गुण वासी ॥१८॥
रोग शोक आदि जो वेदन, ते सब पुदगल लारे।
मैं तो चेतन व्याधि बिना नित, सो हैं भाव हमारे॥
या तन सों या क्षेत्र सम्बन्धी, कारन आन बन्यौ है।
खान पान दे या कों पोसो, अब समभाव ठन्यौ है ॥१९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्या दर्शन, आतम ज्ञान बिन, यह तन अपनो मानो।
इन्द्री भोग गिने सुख मैंने, आपो नाहिं पिछानो॥
तन विनसन से नास जान निज, यह अपान दुखदाई।
कुटुम्ब आदि को अपनो मानो, भूल अनादि छाई।२०॥
अब निज भेद जथा रथ समभन्यो, मैं हूं ज्योति स्वरुपी।
उपजै विनसै, सो यह पुदगल, जान्यो याको रुपी॥
इष्ट अनिष्ट, जे ते सुख दुख हैं, सो सब पुदगल लारो।
मैं अब अपनो रुप विचारो, तब ये सब दुख बिलारो॥२१॥

बिन समता तन अनन्त धरे मैं, तिन ये में दुख पायो।
शस्त्र घात तैं अनन्त बार मर, नाना योनि भरमायो॥
बार अनन्त ही अग्नि मांहि, जर मूवो, सुमति न पायो।
सिंह व्याघ्र अहि अनन्त बार मरि, नाना दुख दिखायो॥२२॥

बिन समाधि ये दुख लिये मैं, अब उर समता आई।
मृत्यु राज को भय मत मानो, देवे तन सुखदाई॥
याते जब लग मृत्यु न आवे, तब लग जप तप कीजे।
जप तप बिन इस जग के मांहि, कोई कर्म ना छीजै॥२३॥

स्वर्ग संपदा तप सों पावे, तप को कर्म खिपावो।
तप ही सों शिव कामिनि पति ह्वै, यासें तप चित्त लाओ॥
अब मैं जानी, समता बिन मोहि, कोई नाँहि सहाई।
मात-पिता-सुत-बांधव-त्रिया, ये सब हैं दुखदाई॥२४॥

मृत्यु समय में मोह करे तो, तातैं आर्त्त हो हैं।
आर्त्त में गति नीची पावे, यों लखि मोह तज्यो है॥
और परिग्रह जेते जग में, तिनसो प्रीति न कीजै।
पांच पाप तजि समता धारो, दान चार विधि दीजै॥२५॥

दस लक्षण मय धर्म धरो उर, अनुकम्पा उर लाओ।
सोड्स कारण नित चित्तवों, द्वादश भावन भावों॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारो परवी प्रोषध कीजै, अशन रात को त्यागो ।
समता धरि दुरभाव निवारो, संयम तो अनुरागो ॥२६॥

अन्त समय में ये शुभ भाव ही, होंवे आन सहाई ।
स्वर्ग मोक्ष फल तोहि दिखावें, सिद्धि देई अधिकाई ॥
खोटे भाव सकल, जिय त्यागो, उर में समता लाके ।
जा सेति गति चार दूर करि, बसो मोक्षपुर जाके ॥२७॥

मन थिरता करके तुम चिंतो, चौ आराधन भाई ।
वे ही तुझको सुख की दाता, और कोऊ हितु नाहिं ॥
आगे बहु मनिराज भये हैं, तिन गह थिरता भारी ।
बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उर धारी ॥२८॥

तिनके कछु इक नाम कहूं मैं, सुनो जिया चित्त लाके ।
भाव सहित अनुमोदो ताको, दुर्गति होय न जाके ॥
अरु समता निज उर में लावै, भाव अधीरज जावै ।
यों निशिदिन जो उन मुनिवर को, ध्यान हिये बिचलावे ॥२९॥

धन्य-धन्य सुकुमाल मुनि, कैसे धीरज धारी ।
एक स्यलिनी जुग बच्चायुत, पांव भरव्यो दुख भारी ॥
यह उपसर्ग सह्यो घर थिरता, आराधन चित्त धारी ।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥३०॥

धन्य-धन्य सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो ।
तो भी श्री मुनि नेक डिगो नहिं, आतम सों हित लायो ॥
यह उपसर्गं सहत्रों धरि थिरता, आराधन चित्त धारी ।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥३१॥

देखो, जग मुनि के सिर ऊपर, विप्र अग्नि बहु बारी ।
शीश जले जिम लकड़ी, तनसो, तोभी नाहिं चिगारी ॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्त धारी ।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥३२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सनत कुमार मुनि के ऊपर, तनमें कुष्ठ वेदना व्यापी।
छिन्न भिन्न तन तासों हूवो, तब चिंतो गुण आपी॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्त धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी॥३३॥

श्रेणिक सुत गंगा में डूब्यो, तब जिननाम चितारयो।
धर सल्लेखना परिग्रह त्यागो, शुद्ध भाव उर धारो॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्त धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी॥३४॥

समंतभद्र मुनि के तन में, क्षुधा वेदना आई।
तो दुख में मुनि नेक न डिग्यो, चिन्तयों निज गुण भाई॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्त धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी॥३५॥

ललित घटादिक तीस दोय मुनि, कौशाम्बी तट जानो।
नद्दी में मुनि वह कर डूबे, सो दुख उन नहिं मानो॥
यह उपसर्ग सह्यों धरि थिरता, आराधन चित्त धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी॥३६॥

धर्म कोष मुनि चम्पा नगरी, बाह्य ध्यान धरि ठाडो।
एक मास की कर मर्यादा, तृषा रोग सह गाडो॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी॥३७॥

श्री दत्त मुनि के पूर्व जन्म को, बैरी देव सुआके।
विक्रिया करि तन शीत तनो सों, सध्यो साधु मन लाके॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी॥३८॥

वृषभ सैन मुनि उष्ण शिला पर, ध्यान धरो मन लाई।
सूर्य धाम अरु उष्ण पवन की, वेदन सही अधिकाई॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्त धारी।
तो तुमरे जिन कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥३६॥

अभय घोष मुनि कांकदीपुर, महा वेदना पाई।
वैरी चण्ड ने सब तन छेदयो, दुख दीनो अधिकाई ॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥४०॥

विद्युच्चर ने बहु दुख पायो, तो भी धीर न त्यागी।
शुभ भावना से प्राण तजे निज, धन्य वह बडभागी ॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥४१॥

पुत्र चिलाती नामा मुनि को, बैरी ने तन घातौ।
मोटे मोटे कीट पड़े तन, तापर निज गुण रातौ ॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥४२॥

दण्डक नामा मुनि की देहि, बाणन करि अरि भेदी।
तापरि नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महारिपु छेदी ॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥४३॥

अभिनन्दन मुनि आदि पांच सौ, घानि पोलि जु मारे।
तो भी श्री मुनि समता धारी, पूरब कर्म विचारे ॥
यह उत्सर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥४४॥

चारण मुनि गोधर के मांहि, मंद अग्नि पर जाल्यो।
श्री गुरु उर समभाव धारिके, अपनो रुप सम्हाल्यो ॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्त धारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥४५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri.

सात शतक मुनिवर ने पायो, हथनापुर में जानो।
बलि ब्राह्मण कृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी॥४६॥

लोहमयी आभूषण गढके, तातें कर पहनाये।
पांचों पांडव मुनि के तन में, तो भी नांहि चिगाये॥
यह उपसर्ग सह्यो धरि थिरता, आराधन चित्तधारी।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्यु महोत्सव भारी॥४७।

और अनेक भये इस जग में, समता रस के स्वादी।
वे ही हमको सुख के दाता, हरि हैं टेव प्रमादी॥
सम्यक दर्शन ज्ञान आचरण तप, ये आराधन चारों।
ये ही मुझको सुख के दाता, इन्हें सदा उर धारों॥४८॥

यों समाधि उर मांहि लावों, अपना हित जो चाहो।
तज ममता अरु आठों मद को, ज्योति स्वरुपी ध्यायो॥
जो कोई नर करत पयानो, ग्रामान्तर के काजे।
सो भी शकुन विचार नीके, शुभ के कारण साजे॥४९॥

मातादिक और सर्व कुटुम्ब स्तौ, नी के सगुन बनावे।
हल्दी, धनिया, पुंगी, अक्षत, दूध दही फल लावे॥
एक ग्राम के कारण ऐते, करे शुभाशुभ सारे।
जब पर गति को करे पयाने, तउ नहिं सोचे प्यारे॥५०॥

सर्व कुटुम्ब जब रोवन लागे, तुझे रूलावे सारे।
ये अपसकुन करें सुन तोकूं, तू यूं क्यों न विचारे॥
अब परगति की चालत बिरियां, धर्म ध्यान उर आनो।
चारों आराधन आराधो, मोह तनो दुख हानो॥५१॥
हो निःशल्य, तजो सब द्विविधा, आतम राम सु ध्याओ।
जब परगति को करो पयानो, परम तत्त्व उर लाओ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोह जाल को काट प्यारे, अपनो रुप विचारो।
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, यह उर निश्चय धारो ॥५२॥

—दोहा—

मृत्यु महोत्सव पाठको, पढो सुनो बुद्धिवान।
सरधा धरि नित सुख लहो, सूरचन्द्र शिवथान ॥
पंच, उभय, नव एक नव, संबत सो सुखदाय।
आश्विन स्यामा सप्तमी, कह्यो पाठ मन लाय ॥

—समाप्त—

हमारी वीर हरो, भव पीर ॥
कर्म जनित दुख सह्यो न जावे, कौन बंधावे धीर।
जन्म मरण कर कर चिरकाल से, लहौं न भव दधितीर ॥
नरक धरा दुख सहा अकेला, वहां न साथी सीर।
सेवक आस त्रास बहु मेंरो, पी जिनवाणी नीर ॥

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप स्वयं भगवान हैं—

बड़ा अचम्भा लगता जो तू, अपने से अनजान है ।
पर्यायों के पार देखले, आप स्वयं भगवान हैं ।।टेक।।

मन्दिर, तीर्थ, जिनेन्द्र जिनागम, उसकी खोज बताते हैं ।
जप, तप, संयम, शील, साधना, में उसको ही ध्याते हैं ।।
जब तक उसका पता न पाया, दुनिया में भरमाते हैं ।
चारों गतियों के दुख पाकर, फिर निगोद में जाते हैं ।।
पर्यायों को अपना माना, यह तेरा अज्ञान है ।।पर्यायों के।।

तू अनन्त गुण का धारी है, अजर, अमर, सत् अविनाशी ।
शुद्ध, बुद्ध, तू नित्य निरंजन, मुकति सदन का हैं बासी ।।
तुझ में सुख साम्राज्य भरा, क्यो मीन रहे जल में प्यासी ।
अपने को पहिचान न पाया, यह तेरी हैं भूल जरासी ।।
तू अचिन्तय सक्ती का धारी, तू वैभव की खान है ।।पर्यायों के।।

तीनों कर्म नहीं तेरे में, यह तो जड की माया है ।
तू चेतन हैं ज्ञान स्वरुपी, क्यों इसमें भरमाया है ।।
सुख की सरित है स्वभाव में, जिनवर ने बतलाया है ।
जिसने अंतर में खोजा है, उसने प्रभु को पाया है ।।
जिन वाणी मां जगा रही है, क्यों व्यर्थ बना नादान है ।
पर्यायों के पार देखले, आप स्वयं भगवान हैं ।।
द्रव्य दृष्टि अपना कर प्राणी, बन जाता भगवान है ।
पर्यायों के पार देखले, आप स्वयं भगवान है ।।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धि पत्र–

क्रम	पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१.	१	१३	नय भूतार्थ सत्यार्थ है	नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है
२.	४	२१	द्रव्या आस्रव	द्रव्य–आस्रव
३.	५	२८	मनिज्ञान	मतिज्ञान
४.	८	१९	प्रति क्रमादि	अप्रति क्रमणादि
५.	११	२३	द्द्मस्थ	छद्मस्थ
६.	१४	२१	कर्म कल चेतना	कर्म फल चेतना
७.	२२	२	दो का एक	दो या एक
८.	२४	१३	रहित होता	रहित होता है
९.	२५	२७	दर्शोपयोग	दर्शनोपयोग
१०.	२७	२४	वास्य	वाह्य
११.	२९	९	पीछी आदि के उठाने धरमें	पीछी आदि के उठाने धरने में
१२.	४०	४	भोत्मा	भोक्ता
१३.	४४	८	संगोग	संयोग
१४.	४७	२३	पृवति से निवृत रुप ऐसी स्वम्त मय	प्रवृत्ति से निवृत रुप ऐसी स्व समय
१५.	४८	२	भुकाव	झुकाव
१६.	६२	४	इन्द्रिय	द्विन्द्रिय
१७.	६४	२७	दोनों	देना
१८.	७१	९	उवका	उनका
१९.	८४	१८	पुदगल से	पुदगल में
२०.	८६	१४	अपेक्षा	उपेक्षा
२१.	९७	६	वों	जो
२२.	१०२	२	क्यों	कर्मों
२३.	१०३	१२	केवल जानकर	केवल ज्ञान कर
२४.	१०४	२४	अनुभाव	अनुभाग
२५.	१३७	१२	आप	आज
२६.	१३८	९	त्रित्र	चित्त
२७.	१३८	१२	योग लालसा	भोग लालसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
२८.	१३८	२८	नेम	नेत्र
२९.	१३९	१२	अनन्तवाथाम	अनन्तवाभाग
३०.	१३९	१७	अपने वश में नहीं किया	अपने मन को वश में नहीं किया
३१.	१४०	१७	निर्मन	निर्मल
३२.	१४३	१३	अध्यस्थ भावना	मध्यस्थ भावना
३३.	१४४	१६	पांचवें को	पांचवे गुणस्थानी को
३४.	१४६	८	एक स्थान अपने	एक स्थान पर अपने
३५.	१४७	१९	शरोर को अपनी देखकर	शरीर को देखकर
३६.	१४८	८	अन्य करके	अन्य को
३७.	१४८	१३	भेद आनन्द रुप	भेद से आनन्द रूप
३८.	१५०	१३	उपाय का आत्मा	उपाय का चिन्तन आत्मा
३९.	१५८	२३	क्षमारम्भ	समारम्भ
४०.	१५९	१५	परिग्रह हिंसा	परिग्रह से हिंसा
४१.	१६४	१	जव भाते हैं	जव मरते हैं
४२.	१६४	२२	प्रदेशों में केप	प्रदेशों में कंपन
४३.	१६५	१	खलाभ	खरभाग
४४.	१६५	८	तीनों अब्हुल भाग में असुर और राक्षस जाति के देव रहते हैं तीनों	—
४५.	१६६	१७	वृत्ति संख्यान	वृति परि संख्यान
४६.	१६९	२ व ३	डंगिनी	ईगिनी
४७.	१८१	९	मत्य	मंत्र
४८.	१८६	२	कुछ संख्यों	कुछ संज्ञाओं
४९.	१८६	४	कर्म वन्यादि यंत्र द्वारा रग यंत्र	कर्म वन्धादि यंत्र। इस यंत्र द्वारा कर्म काण्ड सम्बन्धी
५०.	१८७	१३	कर्मो की जीवो का घात करना है	कर्मो की तरह जीवों का घात करता है
५१.	१८९	१	अछातिया के दो भेद प्रशस्त और अप्रस्त	अघतिया कर्मो के दो भेद प्रशस्त और अप्रशस्त
५२.	१९५	१२	कर्म के उदय स्थानो	कर्म के बंध स्थान व उदय स्थानों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
५३.	१९८	१६	भिकरण	त्रिकरण
५४.	"	"		
५५.	२००	५	४०८ की योग्यता	१०८ की योग्यता
५६.	२०१	८	७६, ७७, ८२	७६, ७७, ७८, ८२
५७.	२०२	७	उप श्रेणी के क्षायिक स० द० के ग्यारहवें	उपशम श्रेणी के क्षायिक स० द० के ग्याहरवें गुण स्थान
५८.	२१६	१३	भविष्य और	भविष्य में और
५९.	२१८	१३	प्राप्त आत्म ज्ञान होता है	प्राप्त हुवा आध्यात्म-ज्ञान ही सहायक होता है
६०.	२२५	२२	जो सर्प द्वारा मूर्छों	जैसे सर्प द्वारा मृत्यु
६१.	२२७	२२	आदि ऋषभ देव	जिस आदि ऋषभ देव ने
६२.	२३२	१६	संयोग सुगन्धित	संयोग से सुगन्धित
६३.	२३२	२०	आत्मा से स्वाभाव से	आत्मा स्वभाव से
६४.	२३७	१	मन में होता है	मन होता है
६५.	२३९	२	विभावों के द्वारा	विभावों की भिन्नता द्वारा
६६.	२४१	४	आठ भे दो से रहित	आठ मदों से रहित
६७	२४४	७	परमात्मपने का धन करो	परमात्मपने का ध्यान करो
६८.	२४४	२०	स्वरुप को जानकर	स्वरुप को न जानकर
६९.	२४९	७	ध्रम रुप मालूम होती है	भ्रम रुप मालूम होती है
७०.	२४९	२५	भाव से माया आत्मा	भाव से भाया आत्मा
७१.	२५६	२१	नया भासा सम्यक्	नयाभास । सम्यक्
७२.	२५६	२२	नया भासा सर्वथा	नयाभास । सर्वथा
७३.	२५८	३	ग्रहण करते हैं	ग्रहण करते हैं
७४.	२५९	५	अयक्ष	अभक्ष
७५.	२६२	५	कुद्यातुमयी	कुधातुमयी
७६.	२६४	५	समभन्यो	समझ्यो
७७.	२७०	१६	सरित	सरिता

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—मृत्यु महोत्सव भावना—

दिन रात मेरे भगवन, मैं भावना ये भाऊं।
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊं॥

शत्रु यदि कोई हों, सन्तुष्ट उनको कर दूं।
समता का भाव रखकर, सबसे क्षमा कराऊं॥

त्यागूं आहार-पानी, औषधि विचार अवसर।
टूटे नियम ना कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊं।

जागे नहीं कषायें, नहीं वेदना सतावें।
तुम से ही लौ लगी हो, दुर्ध्यान को भगाऊं॥

आत्म स्वरुप अथवा, आराधना विचारु।
अरहंत, सिद्ध, साधु, रटना यही लगाऊं॥

धर्मात्मा निकट हों, चर्चा धर्म सुनावें।
वो सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊं॥

जोने की हो न वांधा, मरने की हो न ख्वाहिश।
परिवार, मित्र जन से, मैं मोह को हटाऊं॥

भोगे जो भोग अबतक, उनका न होवे सुमरन।
मैं राजसम्पदा या, पद इन्द्र का न चाहूं॥

रत्नत्रय का पालन, हो अन्त में समाधि।
प्रार्थना मेरी यही हैं, जीवन सफल बनाऊं।

★★
★

5217.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi